सर-शौरीन्द्रमोहनठाकुरप्रणीतम्

गान्धर्वकलापव्याकरणम्

[हिन्दी-अनुवाद-टिप्पणी-परिशिष्टसंवलितम्]

हिन्दी-अनुवादकः
समीक्षकः सम्पादकश्च
डॉ. शरच्चन्द्रद्विवेदः

वा रा ण सी
२००७ ई.



सर-शौरीन्द्रमोहनठाकुरप्रणीतम्

गान्धर्वकलापव्याकरणम्

[हिन्दी-अनुवाद-टिप्पणी-परिशिष्टसंवलितम्]

हिन्दी-अनुवादकः

समीक्षकः सम्पादकश्च

डॉ० शरच्चन्द्रद्विवेदः

साहित्याचार्यः, पी-एच.डी., नेट ।



वाराणस्याम्

श्रावणपूर्णिमायां

सोमवासरे

विक्रमाब्दः २०६४ शकाब्दः १९२९ यीशवीयाब्दः २००७

प्रकाशक:

डॉ० शरच्चन्द्रद्विवेदः

सम्पादकः

प्राप्तिस्थानम्

श्रीमती कृष्णा द्विवेदी

एस० १९/१३४ ए-सी-१

जदीदबाजार-नदेसर

वाराणसी कैण्ट–२२१००२

फोन : ०५४२-२५०३३४५

प्रथमसंस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम्– सजिल्द – रु० २५०

अजिल्द – रु० २२५

मुद्रक :

शारदा प्रिण्टिङ्ग प्रेस

जगतगंज, वाराणसी



GANDHARVAKALAPAVYAKARANAM

By

SIR SAURINDRAMOHANA THAKUR

[With Hindi translation-Critical study & Appendices]

Hindi translator

Criticizer and Editor

Dr. SARACHCHANDRA DWIVEDI

SAHITYACHARYA, PH.D., NET.



V A R A N A S I

2007

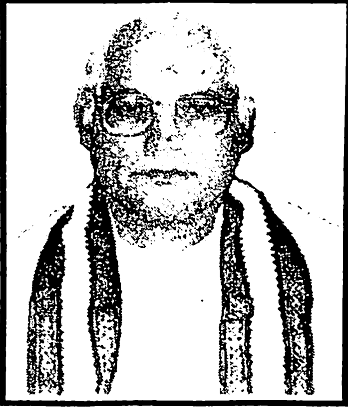
Published by
Dr. Sharachchandra Dwivedi
Editor

Available at-
Smt. Krishna Dwivedi
S-19/134, A-C-1
Zadid Bazar, Nadesar
Varanasi - 221002

First Adition-500 copies

Price- (1) Hard back-Rs. 250/-
(2) Paper back-Rs.225/-

Printed by
Sharada Printing Press
Jagatganj, Varanasi



प्रो० शिवजी-उपाध्यायः
राष्ट्रपतिसम्मानितः
पूर्व—प्रतिकुलपतिः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

शुभाशंसा

श्रुतगान्धर्वकलापशाब्दिकप्रस्थानं प्रविविच्य मेधया ।
शरदादिमचन्द्रधीमता समपादि प्रतिभानसिद्धये ।।

व्याकरणं नाम पदपदार्थव्याकृतिपरं शास्त्रम् । यथा वेदादिशास्त्राणामनादिपारम्पर्यं तथा शाब्दप्रस्थानमपि शास्त्रत्वेन सुतरामनाद्येव, यत्किञ्चिदैतिह्यमेतस्य कालानुसार्युपक्रान्तं तद्विद्भिस्तद् वस्तुतस्तदुन्मुखीकरणाय तदन्तर्वर्तिकिञ्चिद्दिगुन्मीलनपरत्वेन तदनुगामित्वेन च प्रामाण्यमनुविन्दति, तत्त्वतस्तु तेषामनादिपारम्परीपरीतप्रथितप्रज्ञानप्रकाशानां वेदादिशास्त्राणां स्वैतिह्यादिनिरपेक्षं स्वतः प्रामाण्यमेव मूर्धाभिषिक्तं जागर्तीति निश्चप्रचम् । नैतेन तदैतिह्यादेर्वैयर्थ्यप्रसङ्गस्तदुन्मुखीकारक्रियाकारित्वात्तद्विषयकबोधानुकूलत्वाच्च ।

यथोक्तमुपरिष्टादिदं व्याकरणशास्त्रमप्यनादिपरम्परोपेतमप्यनाविलमनारतं च **माहेश्वरीं माहेन्द्रीं** चेति साम्प्रदायिकपरम्पराद्वयीमनुबध्नाति, तत्रोभयोरपि परम्परयोः पारस्परिकप्राधान्याप्राधान्यसमीक्षणनिरीक्षणनैरर्थक्येन पूर्वापरीभावव्यपेक्षानैरपेक्ष्येण च स्वतः प्रमाणत्वेन तयोर्महार्हत्वं नित्योपयोगित्वं च निर्विचिकित्सं सिद्ध्यतीति । तत्र प्रकृतमिदं लोकप्रायिकश्रुतं **गान्धर्वकलापव्याकरणं** माहेन्द्रीं सरणिमनुसरति तदनुकूल-

पदसाधुत्वसुगमत्वसंक्षिप्तविषयत्वार्थगुरुत्वादिगुणप्रकर्षनिष्ठत्वाद् विशिष्य च गान्धर्वविद्योपस्कृतस्य सङ्गीतशास्त्रस्य च सूत्राणां विवेचनेन तद्गतसाधुत्व-निरूपणप्राशस्त्यप्रकाशनेन चास्य कलापव्याकरणस्य महन्महत्त्वं व्याकरणान्तरापेक्षया समुज्जृम्भते । एतादृशसाङ्गीतिकसाधुत्वप्रकारसारसूत्रसन्दर्भभूयिष्ठं कलापव्याकरणं नानोपाधिविरुदभूषितेनाधुनिकार्वाच्यसङ्गीतनायकेन साङ्गीतिकशब्दसाधुत्वमर्मविदा विदुषा **राजश्रीशौरीन्द्रमोहनठाकुरेण** प्रणीतं वङ्गलिपिनिबद्धं पूर्वप्रकाशितं महता श्रमेण संकलय्य देवनागरीलिप्यन्तरीकृत्य पाठभेदादिपरिशिष्टसमालोचनटिप्पण्यादिना हिन्दीभाषानुवादेन च संयोज्य सम्यक्तयाऽऽयुष्मता साहित्यशास्त्राधीतिनाऽपि **श्रीशरच्चन्द्रद्विवेदिना** सुधीमता सम्पादितं प्रकाशपथीनमापादितं चेति तस्मै प्रतिभानसिद्धिसमर्जनोद्धुराय युवशाब्दिकाय भूयांसि शुभाशीराशिवचांसि दित्सामि ।

एतस्मिन् महनीयसत्कर्मणि सम्पादकस्य युवशाब्दिकस्य पितृचरणो विशिष्टशिष्टविश्रुतवैयाकरण: आचार्य**श्रीजानकीप्रसादद्विवेदी** कातन्त्र-व्याकरणपारम्परीप्रतिष्ठापनाचार्यवर: सुमहत्तममवदानं मार्गनिर्देशनञ्चाकार्षीदिति तस्मै अस्मत्सुहृद्वरसहृदयविद्वद्वर्याय साम्मनस्यसहकृतहार्दसौहार्दसपर्यापर्याप्तिमुपाहरामि । भगवन्तं भवानीजानिं विश्वेशं सम्प्रार्थयेऽमुष्य नवयुवप्रातिभप्रसूताङ्कुर-स्याहरहश्चतुरस्रसंवृद्धये समृद्धये चेति शम् ।

वि०सं० २०६४

श्रावणशुक्लप्रतिपदा, सोमवासरः ।

१२-८

आचार्यश्री-शिवजी उपाध्यायः

॥ श्रीः ॥

[1]गान्धर्वकलापव्याकरणम्

प्रथमखण्डम्

अर्थात्

कलापव्याकरणोक्तसूत्रानुरूप-
गान्धर्वशास्त्रीयसूत्रजातम्

उन्नतवंशीयसङ्गीताध्यापकेन, भारतसाम्राज्यसम्मानश्रेणिसहचरेण, नाइट-

प्राप्तक्रमोपाधिकेन, सार्वभौमराजकीयसाधारण-----------द्यधिष्ठापित-

विविधसम्मानश्रेणीनां सेनानायकेन, सादिना वा, पारसीकसाम्राज्यनवाबोपाधिना,

नाइट-सारोपाधिधारिणा

सङ्गीतनायकेन

राजश्रीशौरीन्द्रमोहनठाकुरेण

विरचितम्

कलिकाताराजधान्यां

गिरिशविद्यारत्नवर्त्मनि चतुर्विंशसङ्ख्याकसद्मनि

गिरिश-विद्यारत्नयन्त्रे

शशिभूषण-कृतिरत्नभट्टाचार्येण

मुद्रितं प्रकाशितं च

१८२४ शाके[2]

---

१. समग्र पृष्ठसंख्या १-८६ (अन्त में संलग्न)।
पृ० ८५-८६ पर William Gardiner की पुस्तक The Music of nature के सम्बन्ध में सम्पादकीय अंग्रेजी-टिप्पणी द्रष्टव्य ।

२. १८२४ + ७८ = १९०२ यीशवीयाब्दे ।
१९०२ + ५७ = १९५९ विक्रमाब्दे ।

भूमिका

कलापं माहेन्द्रीमनुसरति धारां सुविदितां
पदानां साधुत्वे वहति सततं यत् सुगमताम् ।
अभीष्टं संक्षेपं ननु वितनुते चार्थगुरुताम्
इदानीं कातन्त्रं तदिह रमणीयं विजयते ।।१।

सङ्गीतशास्त्रं प्रथितं धरायां गान्धर्वनाम्नाभिहितं सुधीभिः ।
तस्यैव सूत्राणि विवेचितानि शौरीन्द्रसंमोहनठाकुरेण ।।२।

शास्त्रद्वयस्य सूत्राणि वृत्त्याख्यातानि यत्नतः ।
मया संपादितानीह श्रेयसे प्रभवन्तु नः ।।३।

शिष्टजन जिस पदलक्षणा लौकिक वाणी का तथा ऋषि-महर्षि-मुनिजन जिस आर्षवाणी का प्रयोग करते हैं एवं वेदों में जिस देववाणी का प्रयोग प्राप्त होता है, उन सभी का प्रकृति-प्रत्यय के माध्यम से साधुत्व बताना व्याकरणशास्त्र का मूल प्रयोजन माना जाता है । इसीलिये इसके अध्ययन से शुद्ध और प्रभावोत्पादक वाक्शक्ति (वाचावैशारद्यम्) प्राप्त होती है । फलतः भाषा अपभ्रंशदोष से मुक्त रहती है । जब लोक-वेद में प्रयुज्यमान पदों के कारण, पदार्थ और उसके सामर्थ्य का चिन्तन किया जाता है, तब व्याकरणशास्त्र दर्शन का रूप ग्रहण कर लेता है । इस प्रकार व्याकरणशास्त्र के दो विभाग हो जाते हैं—**पदसाधुत्वविषयक** तथा **पदपदार्थादिस्वरूपचिन्तनविषयक ।**

तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार पूर्वकाल में वाणी अखण्ड (वाक्यरूप) थी, उसे देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र ने प्रकृति-प्रत्यय के रूप में सखण्ड बनाया । इसके परिणामस्वरूप व्याकरण का प्रकृति-प्रत्ययात्मक रूप इन्द्र द्वारा परिष्कृत किया हुआ माना जाता है—

"**वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत् । ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति ।----तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्**" (तै० सं० ६/ ४/७)। "**तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृति-प्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्**" (सायण-ऋग्भाष्यभूमिका, पूना-सं०, भा० १, पृ० २६) ।

संस्कृतव्याकरण के दो सम्प्रदाय, धाराएँ या परम्पराएँ पर्याप्त प्राचीन तथा प्रसिद्ध हैं—**माहेश्वरपरम्परा एवं माहेन्द्रपरम्परा** । इन माहेश्वर तथा माहेन्द्र व्याकरणों

के भी आधार पर अन्य अनेक व्याकरणों की रचना हुई । उनमें से कुछ तो स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में भी विकसित हुए । विशेषत: ८-९ सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है । शब्दसाधुत्व की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर पाँच, आठ तथा नव प्रकार के भी व्याकरणों की चर्चा की गई है—"पञ्चधा व्याकरणम्, अष्टधा व्याकरणम्, नवधा व्याकरणम्" ।

नव प्रकार के व्याकरणों का अनुशीलन हनुमान् ने किया था । पाणिनीय अष्टाध्यायी से पूर्व लगभग ८५ शाब्दिक आचार्यों के नाम मिलते हैं, जिनमें से प्राय: सभी ने अपने व्याकरणग्रन्थों की रचना अवश्य की होगी । पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में १० आचार्यों का स्मरण किया है । अष्टाध्यायी से परवर्ती भी ४०-४५ व्याकरण उपलब्ध होते हैं, इनमें १४-१५ मुद्रित भी हो चुके हैं । पूर्ववर्ती व्याकरण समुद्र की तरह विशाल थे, उनकी तुलना में पाणिनीय व्याकरण को गोष्पदतुल्य कहा जाता है । पाणिनि-परवर्ती व्याकरणों में कलाप (कातन्त्र) व्याकरण कालक्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम तथा प्रक्रिया की दृष्टि से अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त है । व्याख्यादि ग्रन्थपरिमाण की दृष्टि से सम्प्रति कलाप तथा पाणिनीय व्याकरण पर्याप्त समृद्ध हैं । पाणिनीय व्याकरण यदि माहेश्वर-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है तो माहेन्द्र-परम्परा का मुख्यत: प्रतिनिधित्व करने वाला इस समय एक मात्र कलापव्याकरण ही कहा जा सकता है ।

कलापव्याकरण–रचना की पृष्ठभूमि तथा उसके विविध नाम

कथासरित्सागर (१/६-७) तथा कलापचन्द्र व्याख्या (कात० १/१/१) के अनुसार आन्ध्रदेशीय राजा सातवाहन एक दिन अपनी रानियों के साथ जलविहार कर रहे थे, तो उससे श्रान्त होकर विष्णुशक्ति की पुत्री ब्राह्मणजातीया विदुषी रानी मलयवती ने उनसे प्रार्थना की—"**हे देव ! मोदकं देहि**" । कहने का अभिप्राय था कि अब मैं श्रान्त हो गई हूँ । अत: अब आप मेरे ऊपर जल की बौछार न करें—"**उदकं मा देहि**" । व्याकरणज्ञान से अनभिज्ञ राजा ने मोदक का अर्थ लड्डू समझकर अनवसर में रानी को लड्डू भेंट किए । राजा की इस अनभिज्ञता पर रानी ने उनका उपहास किया, इससे राजा को मानसिक कष्ट हुआ । फलस्वरूप राजा ने संकल्प किया कि जब तक मैं व्याकरण नहीं जान लूँगा, तब तक राज्य-कार्य नहीं करूँगा । राजा की इस चिन्ता से जब मन्त्रिवर **गुणाढ्य** तथा **शर्ववर्मा** अवगत हुए तो गुणाढ्य ने आश्वासन देते हुये कहा कि यद्यपि व्याकरणज्ञान के लिए १२ वर्षों की अपेक्षा होती है, तथापि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे आप ६ वर्षों में ही व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे । शर्ववर्मा ने विशेष उत्साह दिखाते हुये ६ मास

में ही व्याकरणज्ञान करा देने की प्रतिज्ञा की । शर्ववर्मा की इस प्रतिज्ञा पर गुणाढ्य को आश्चर्य हुआ । [१]शर्ववर्मा प्रतिज्ञा के अनुसार रात्रि के समय स्वामिकार्त्तिकेय के मन्दिर में गए और आराधना से उन्हें प्रसन्न किया । प्रसन्न होकर स्वामिकार्त्तिकेय ने अपने व्याकरण के "**सिद्धो वर्णसमाम्नायः**" सूत्र का उपदेश किया । इसके बाद विना ही देवानुमति के शर्ववर्मा ने "**तत्रादौ चतुर्दश स्वराः**" इस द्वितीय सूत्र का उच्चारण कर दिया । इससे अप्रसन्न होकर स्वामिकार्त्तिकेय ने शाप दिया था कि अब यह व्याकरण पाणिनीय व्याकरण का उपमर्दक नहीं हो सकेगा, किन्तु एक छोटा = संक्षिप्त व्याकरण ही रहेगा, इसे **कातन्त्र** नाम से अभिहित किया जाएगा—"**अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति**" । ईषत् तन्त्रं कातन्त्रम् । ईषदर्थक (अल्पार्थक) 'कु' शब्द के स्थान में 'का' आदेश । पाणिनिपूर्ववर्ती आचार्य **काशकृत्स्न** के व्याकरण में तीन अध्याय थे—"**त्रिकं काशकृत्स्नम्**" । इस व्याकरण में भी मूलतः तीन ही अध्याय हैं, इस साम्य के आधार पर तथा काशकृत्स्नतन्त्र का संक्षिप्त रूप कल्पित किये जाने के कारण भी इसे कुछ समीक्षक विद्वान् "कातन्त्र" कहते हैं । यह भी कहा जाता है कि शर्ववर्मा ने व्याकरण प्राप्त करने के लिये भगवान् शङ्कर की आराधना की थी, उनके प्रसन्न होने पर जिस व्याकरण का उपदेश किया गया, उसे षडानन कार्त्तिकेय ने अपने वाहन मयूर के पुच्छ या पङ्ख पर लिखा था, इसीलिये उसका नाम कलाप (कलापी = मयूर से सम्बद्ध) पड़ा । ज्ञातव्य है कि कलाप का अर्थ मयूरपिच्छ भी किया जाता है—

"शङ्करस्य मुखाद् वाणीं श्रुत्वा चैव षडाननः ।
लिलेख शिखिनः पुच्छे कलापमिति कथ्यते" ।।

(द्र०—कलाप का वङ्गभाष्य)

कला = अंश, अर्थात् पूर्ववर्ती व्याकरणों के संक्षिप्त रूप (सार) को यह पाति = सुरक्षित रखता है, इसलिये भी इसे कलाप कहते हैं ।

कुमार = स्वामिकार्त्तिकेय ने इसका उपदेश किया है, यह कुमार = सुकुमार मति वाले बालकों के लिये अत्यन्त हितकर है, कुमारी = सरस्वती से सम्बद्ध है या ऋषभदेव ने इसे अपनी पुत्री कुमारी ब्राह्मी को पढ़ाया था । अतः इसे "कौमारव्याकरण" कहते हैं । शर्ववर्मा द्वारा प्रोक्त होने के कारण "शार्ववर्मिक" नाम से भी इसका व्यवहार होता है । आचार्य दुर्गसिंह ने वृत्ति-टीका-उणादि-लिङ्गानुशासन आदि की

---

१. भार्याया भाषितं वाक्यं निशम्य शालिवाहनः ।
सर्वं निवेदयामास गुरवे शर्ववर्मणे ।।
(कलापव्याकरण-भा० १, वं०सं०, विज्ञापन-पृ० २, वङ्गाब्द १२८८) ।

रचना से इसे सुगम बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया है, अत: इसके दौर्ग तथा दुर्गसिंहीय भी नाम मिलते हैं। छोटा होने के कारण 'मुष्टि' नाम का भी उल्लेख प्राप्त होता है। "सिद्धो वर्णसमाम्नाय:" सूत्र से प्रारम्भ होने के कारण कुछ विद्वान् इसे 'सिद्ध व्याकरण' भी कहना चाहते हैं। कश्मीर-राजस्थान आदि प्रदेशों तथा नेपाल-कम्बोडिया आदि कुछ अन्य देशों में कातन्त्र नाम का व्यवहार अधिक है, जबकि बङ्गाल-आसाम आदि प्रदेशों में एवं तिब्बत देश में प्राय: कलाप नाम ही इसका प्रचलित है।

विषयविभाजन

आचार्य शर्ववर्मा ने "मोदकं देहि" वचन के अनुसार "मा + उदकम्" इस सन्धिविच्छेद को आधार मानकर सर्वप्रथम सन्धिप्रकरण की रचना की है। इस अध्याय के ५ पादों तथा ७९ सूत्रों में "स्वर-व्यञ्जन-प्रकृतिभाव-अनुस्वार-विसर्ग" विषयक सन्धिनियम बताए गए हैं। "मोदकम्" यह स्याद्यन्त पद है, तदनुसार *नामचतुष्टय* नामक द्वितीय अध्याय की रचना की गई है। इसके प्रारम्भिक ३ पादों में षड्लिङ्ग वाले शब्दों की सिद्धि है, चतुर्थ पाद में कारकों का, पञ्चम पाद में समास का तथा षष्ठ पाद में तद्धित प्रत्ययों का विवेचन है। समास और तद्धित पाद के सूत्र श्लोकबद्ध हैं। ऐसी किंवदन्ती है कि ये सूत्र चन्द्रकीर्तिरचित समन्तभद्रव्याकरण से लिये गए हैं। नामचतुष्टयाध्याय के ६ पादों में कुल ७७ + ६५ + ६४ + ५२ + २९ + ५० = ३३७ सूत्र हैं। व्याख्याकारों के अनुसार चतुर्थीविभक्तिविधायक "तादर्थ्ये" (२/४/२७) सूत्र दुर्गसिंह ने चान्द्रव्याकरण से लेकर इसमें संगृहीत किया है। उक्त वचन में "देहि" क्रियापद (आख्यात) है। इस अभिप्राय से नामचतुष्टय के बाद शर्ववर्मा ने आख्यातनामक तृतीय अध्याय की रचना की है, जिसमें ८ पाद तथा ३४ + ४७ + ४२ + ९३ + ४८ + १०२ + ३८ + ३५ = ४३९ सूत्र हैं। इस प्रकार आचार्य शर्ववर्मा द्वारा रचित सूत्रों की कुल संख्या ७९ + ३३७ + ४३९ = ८५५ है। इसमें एक सूत्र चान्द्रव्याकरण का भी सम्मिलित है।

आचार्य शर्ववर्मा 'वृक्ष' आदि शब्दों की तरह कृत्प्रत्ययों से सिद्ध होने वाले शब्दों को रूढ मानते थे, अत: उन्होंने कृत्सूत्र नहीं बनाए। उनकी रचना वररुचि कात्यायन ने की है। इन सूत्रों की वृत्ति के प्रारम्भ में दुर्गसिंह ने स्वयं कहा है—

वृक्षादिवदमी रूढा: कृतिना न कृता: कृत: ।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धिप्रतिबुद्धये ।।

इस चतुर्थ कृत्सूत्र नामक अध्याय में ६ पाद तथा ८४ + ६६ + ९५ + ७२ + ११३ + ११६ = ५४६ सूत्र हैं। इन दोनों आचार्यों द्वारा रचित कुल ८५५

+ ५४६ = १४०१ सूत्र कातन्त्रव्याकरण के मूल सूत्र माने जाते हैं । श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट तथा चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार ने छन्दःसूत्रों की रचना इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिये की है । कातन्त्रपरिशिष्ट में ७३० सूत्र तथा वैदिक प्रकरण में ५२१ सूत्र हैं । सम्प्रति इस व्याकरण के धातुपाठ में १३४७ धातुसूत्र एवं लगभग १८०० धातुएँ प्राप्त हैं । गणपाठ तो वृत्ति आदि व्याख्याग्रन्थों में ही मिलता है । उणादिसूत्रों की रचना दुर्गसिंह ने की है, इसमें ६ पाद तथा ३९९ सूत्र हैं । ८७ कारिकाओं में निबद्ध इसका लिङ्गानुशासन आचार्य दुर्गसिंहरचित प्राप्त होता है । परिभाषापाठ पर दुर्गसिंह तथा भावशर्मा ने वृत्तियाँ लिखी हैं । शिक्षासूत्र तथा उपसर्गसूत्र भी उपलब्ध होते हैं । इस व्याकरण के आधार पर गान्धर्वकलापव्याकरण के अतिरिक्त, बालशिक्षाव्याकरण की एवं दुर्गसिंह की वृत्ति में दिए गए उदाहरणों के आधार पर 'दुर्गवृत्तिद्व्याश्रय' नामक १८ सर्गों में एक महाकाव्य की भी रचना की गई है ।

इस प्रकार इसका वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध है, परन्तु अधिकांश ग्रन्थों का मुद्रण-प्रकाशन अद्यावधि नहीं हुआ है । वङ्गलिपि में शताधिक वर्ष पूर्व कुछ ग्रन्थ कलकत्ता आदि से प्रकाशित हुए थे । दुर्गसिंहीय वृत्ति तथा विविध टिप्पणियों के साथ कलापव्याकरण देवनागरी लिपि में एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता ने Julius Eggeling के सम्पादकत्व में प्रकाशित किया था । इधर प्रो० जानकीप्रसाद द्विवेदी के ९, डॉ० रामसागर मिश्र के २, डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी का १ तथा जैन साध्वी आर्यिका श्रीज्ञानमती माता का १ ग्रन्थ जो देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुआ है, उससे कातन्त्र व्याकरण की श्रीवृद्धि हुई है । जैनाचार्य भावसेन त्रैविद्य द्वारा रचित 'कातन्त्ररूपमाला' का विशिष्ट सम्पादन डॉ० दामोदर शास्त्री द्वारा किया जा रहा है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा । इसका अमुद्रित अंश वङ्ग-शारदा-उत्कल-देवनागरी-मैथिली तथा नेवारी लिपियों के हस्तलेखों में सुरक्षित है । इसके १२ ग्रन्थों का भोटभाषा में अनुवाद किया गया है तथा लगभग ४५ टीकाएँ अध्ययन की सरलता के लिये भोटभाषा में लिखी गई हैं । इसकी शब्दसाधन-प्रक्रिया अत्यन्त संक्षिप्त तथा सरल है । संभवतः इसी कारण तिब्बती **विद्वान् आनन्दध्वज** (कुन् - ग - ग्यल्छन) ने अपने तिब्बती ग्रन्थ की व्याख्या **अहमष्टक** में इसे संस्कृत-व्याकरणों में शिखामणि के समान कहा है ।

(द्र०, The complete works of Pandit Kun-d Ga r Gyal-mTshan-The Toyo Bunko, Tokyo 1968. Vol. 5, P. 146, Gr. No. 3-4)

रचना के प्रयोजन

पृष्ठभूमि के उक्त विवरण से इसकी रचना का प्रमुख प्रयोजन सिद्ध होता है— **"राजा सातवाहन को अल्प समय में व्याकरण का ज्ञान कराना"** । इसके अतिरिक्त आचार्य **शशिदेव** ने अपने **व्याख्यानप्रक्रिया** नामक ग्रन्थ में इसके अनेक प्रयोजन बताये हैं । जैसे वैदिक, अल्प मति वाले, अनेक शास्त्रों के अनुशीलन में लगे रहने वाले, परनिन्दाप्रसक्त, अधिकारी वर्ग, आलसी, लोभी वैश्य तथा लोकयात्रा=जीविकार्जन आदि कार्यों में निरन्तर व्यस्त रहने वाले मनुष्यों को व्याकरण का शीघ्र बोध कराने के लिये ही कलापव्याकरण का प्रणयन हुआ है—

छान्दसाः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तररताश्च ये ।
ईश्वरा वाच्यनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये ।।१।
वणिजस्तृष्णया युक्ता लोकयात्रादिषु स्थिताः ।
तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थमनेकार्थं कलापकम् ।।२।

(व्या० प्र० १/१५-१६)

श्रीकुन्दकुन्दभारतीन्यास, दिल्ली के कातन्त्रविषयक कार्य

दिगम्बर जैनाचार्य पूज्य श्रीविद्यानन्द जी महाराज, डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री, प्रो० राजाराम जैन तथा डॉ० दामोदर शास्त्री आदि विद्वान् इसे जैन व्याकरण मानते हैं । इसी के परिणामस्वरूप कातन्त्रव्याकरण को लक्ष्य बनाकर न्यास ने संस्कृत भाषा-साहित्यविषयक १९९७ का आचार्य "**उमास्वामी पुरस्कार**" (रु० १०००००/-) प्रो० जानकीप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी को "**कातन्त्रसिन्धु**" की सम्मानित उपाधि के साथ प्रदान किया था। जून, २००० ई० में इस व्याकरण पर अखिलभारतीय द्विदिवसीय सङ्गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें लगभग १८ शोधलेख पढ़े गये । जून, २००० ई० तथा २००३ ई० में न्यासपरिसर में कातन्त्रव्याकरण पर १५-१५ दिनों की दो कार्यशालाएँ आयोजित की गई थीं, जिनमें प्रतिदिन पूर्वाह्ण ८-१० बजे तक तथा अपराह्ण २-४ बजे तक प्रो० जानकीप्रसाद द्विवेदी के व्याख्यान होते थे । मुनि **श्रीविद्यानन्द** जी महाराज भी इस कार्यशाला में प्रायः उपस्थित रहते थे और आवश्यकतानुसार विविध बिन्दुओं पर विचार-विमर्श भी होता था । प्रो० **राजाराम** जैन ने अनेक लेखों में इसे जैन सम्प्रदाय का गौरव ग्रन्थ माना है । न्यास-परिसर में जो **खारवेलभवन** अभी बनकर (२००५ ई० में) तैयार हुआ है, उसमें कातन्त्रपुस्तकालय की स्थापना की गई है । इसके अन्तर्गत कातन्त्र के मुद्रित ग्रन्थों, हस्तलेखों तथा प्रकाशित लेखों का संग्रह किया जाएगा । न्यास ने **डा० जानकीप्रसाद द्विवेदी** को इस पुस्तकालय का अध्यक्ष मनोनीत किया है । इसके अन्तर्गत 'गेहे गेहे

कालापकम्' योजना कातन्त्र के अध्ययन-अनुसन्धान तथा प्रचार हेतु चलाई जा रही है–प्रसार के उद्देश्य से न्यास द्वारा एक कातन्त्रपरिषद् की स्थापना पर भी विचार किया जा रहा है । यह भी ज्ञातव्य है कि जैसे जैन-समाज इसे जैन व्याकरण मानता है वैसे ही भोटदेशीय विद्वान् इसे बौद्धव्याकरण मानते हैं । परन्तु २५ जैनाचार्यों द्वारा व्याख्याएँ लिखने तथा बौद्ध विद्वानों द्वारा तिब्बती अनुवाद करने मात्र से इसे जैनव्याकरण या बौद्धव्याकरण मान लेना समीचीन नहीं है । यदि रचनाकार आचार्य शर्ववर्मा का जैन होना प्रमाणों से सिद्ध हो जाए, तो इसे जैन व्याकरण मानने में आपत्ति नहीं हो सकती है । जो विद्वान् इसे जैन व्याकरण मानते हैं, उनकी धारणा है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अपनी पुत्री कुमारी ब्राह्मी को जो व्याकरण पढ़ाया था वह कातन्त्र ही था और इसे ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करने वाले आचार्य शर्ववर्मा दिगम्बर जैन आचार्य थे । शूद्रक-रचित पद्मप्राभृतक भाण में कातन्त्र जानने वालों को बलिभुक्-वैयाकरणपारशव कहकर, हरिनामामृतव्याकरण में 'काकलापं कलापम्' कहकर तथा हैमशब्दानुशासन एक अध्ययन में 'कातन्त्रकन्था वृथा' कहकर इस व्याकरण पर आक्षेप भी किये गये हैं, परन्तु इसके रचना-प्रयोजन, व्यापक उपयोगिता, प्रचार-प्रसार एवं पुष्कल ग्रन्थसम्पत्ति को ध्यान में रखकर उन आक्षेपों को किसी भी प्रकार तथ्यपरक नहीं माना जा सकता है । इस व्याकरण का परवर्ती प्रयोगरत्नमाला व्याकरण, जौमर व्याकरण, हैमशब्दानुशासन तथा सारस्वत व्याकरण पर अधिक प्रभाव पड़ा है ।

सङ्गीतशास्त्र का परिचय

ऐसी मान्यता है कि ब्रह्मा ने सामवेद से गीत को लेकर सङ्गीतशास्त्र का उपदेश किया था, गीत-वाद्य-नृत्य इन तीन के समुदित रूप को **सङ्गीत** कहते हैं । इनमें भी गीत की प्रधानता स्वीकार की जाती है, क्योंकि गीत के आधार पर वाद्य का एवं वाद्य के आधार पर नृत्य का प्रवर्तन होता है—

नृत्यं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च (सं० र०, भा० १, १/१/२४)।

गीत को धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष का भी साधन माना गया है । सङ्गीतरत्नाकर में आचार्य शार्ङ्गदेव ने कहा है—

तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ।।

(सं० र० १/१/३०)।

कलाओं में सङ्गीत का प्रमुख स्थान है । इसके द्वारा जीवन में प्रगति-निर्मलता-आत्मानुभूति एवं रसचर्वणा प्राप्त होती है । सङ्गीतकला ध्यान के समान ही

व्यक्ति को आत्मदर्शी बनाती है। यह वैभव और विलासिता की उपत्यका से पृथक् कर आत्मनिर्झर में निमग्न कर देती है। यों सामान्यत: सङ्गीत में भी विलास-वैभव और रागात्मक विभिन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है, पर यथार्थत: सङ्गीत की रागात्मक वृत्तियाँ इतना भावविभोर बना देती हैं, जिससे भौतिक या लौकिक पक्ष हेय और अध्यात्मपक्ष उपादेय बन जाता है। महाकवि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाटक में सङ्गीत को अतीन्द्रिय आनन्द का साधक बतलाया है। गणदास की उक्ति है कि सङ्गीत द्वारा वस्तु तो नवीन दिखलायी पड़ती ही है, आत्मानुभूति भी उत्कृष्ट रूप में होती है—

"अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव" ।।

(माल० मि० २/८)

अर्थात् सङ्गीत लय, स्वर और राग के कारण तन्मय करता है।----, जो गीत या नृत्य शृङ्गार की परिधि से ऊपर उठकर अध्यात्मभूमि में प्रविष्ट हो जाता है, वही अतीन्द्रिय आनन्द का संचार करता है। सङ्गीत का स्वरूप नाद का सूक्ष्मरूप है और यह नाद ही अपनी शक्ति द्वारा प्राणिमात्र को आकृष्ट करता है। नाद के दो भेद होते हैं—१. प्राकृतनाद = सूक्ष्मनाद और २. विकृतनाद=स्थूलनाद (द्र० सङ्गीतशती-पृ० ४-५, ११-१२)।

शास्त्र में नाद को ब्रह्म के साथ एकीकृत कर उसका नादब्रह्म के रूप में उल्लेख किया गया है। नाद अद्वितीय और आनन्दरूप है। प्रणवरूप वाक्य की मूलावस्था परा वाक् एवं नाद एक ही वस्तु है और नाद की उपासना से ब्रह्मलाभ होता है। उदाहरणस्वरूप शास्त्रकारों ने लिखा है कि मणि और उसकी प्रभा में जिस प्रकार का पारस्परिक निकट सम्बन्ध है, प्रभा की खोज करने पर जिस प्रकार मणि की प्राप्ति होती है, ब्रह्म और नाद का भी वैसा ही सम्बन्ध है।

सङ्गीतशास्त्र में सम्पूर्ण जगत् को नाद के अधीन माना गया है। नाद से वर्णों की, वर्णों से पदों की तथा पदों से वाक्यों की अभिव्यक्ति होती है। इन्हीं वाक्यों से लोकव्यवहार चलता है। प्राण और तेज (अग्नि) के संयोग से नाद अभिव्यक्त होता है। अत: एक परिभाषा के अनुसार नकार से प्राणतत्त्व तथा दकार से तेजस्तत्त्व का

ग्रहण किया जाता है । व्याकरण के अनुसार 'नद' धातु से घञ् प्रत्यय होने पर **नाद** शब्द सिद्ध होता है—**नद्यते इति नादः** । यह नाद नाभि में अतिसूक्ष्म, हृदय में सूक्ष्म, कण्ठ में पुष्ट, मूर्धा में अपुष्ट तथा मुख में कृत्रिम संज्ञा को प्राप्त करता है । इसके २२ भेद होते हैं । हृदय के ऊपरी भाग की नाडी से अन्य २२ नाडियाँ मिलती हैं, इनसे नाद का सम्बन्ध होता है ।

नाद का जब श्रवण होता है, तो उसे **श्रुति** कहते हैं । उक्त प्रकार से इन श्रुतियों की २२ संख्या होती है । कुछ विद्वान् ६६ श्रुतियाँ मानते हैं और कुछ के अनुसार तो श्रुतियाँ अनन्त होती हैं । इन श्रुतियों से ही सङ्गीतशास्त्रीय ७ स्वर समुद्भूत होते हैं । जिनके नाम हैं—१. षड्ज, २. ऋषभ, ३. गान्धार, ४. मध्यम, ५. पञ्चम, ६. धैवत तथा ७. निषाद ।

मयूर सदैव षड्ज स्वर में बोलता है, चातक ऋषभस्वर में, अजा = बकरी गान्धारस्वर में, क्रौञ्चपक्षी मध्यमस्वर में, वसन्तऋतु में कोयल पञ्चमस्वर में, वर्षाऋतु में मेढक धैवतस्वर में और इसी प्रकार हाथी हमेशा निषादस्वर में बोलता है—

षड्जं वदति मयूरः ऋषभं चातको वदेत् ।
अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम् ।।
पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमं वदेत् ।
प्रावृट्काले तु सम्प्राप्ते धैवतं दर्दुरो वदेत् ।
सर्वदा च तथा देवि ! निषादं वदते गजः ।।

(बृहद्देशी, पृ० १२-१३, तुलनार्थ द्र०-ना० शि० १/५, ४-५) ।

इन सातों स्वरों का संक्षेप में '**सरिगमपधनि**' इस प्रकार व्यवहार किया जाता है । आचार्य शार्ङ्गदेव के अनुसार श्रोता के चित्त का अनुरञ्जन = प्रसादन करने के कारण इन्हें स्वर कहा गया है—"**स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते**" (सं० र०, भा० १, १/३/२५) ।

गीत से विशेष सम्बद्ध स्वर–श्रुति-जाति का बोध कराने के उद्देश्य से यहाँ सारणी दी जा रही है—

क्र.सं.	श्रुतयः	जातयः	शुद्धस्वरः	श्रुतिसंख्या
१.	तीव्रा	दीप्ता		
२.	कुमुद्वती	आयता		
३.	मन्दा	मृदुः		
४.	छन्दोवती	मध्या	षड्जः	४
५.	दयावती	करुणा		
६.	रञ्जनी	मध्या		
७.	रतिका	मृदुः	ऋषभः	३
८.	रौद्री	दीप्ता		
९.	क्रोधा	आयता	गान्धारः	२
१०.	वज्रिका	दीप्ता		
११.	प्रसारिणी	आयता		
१२.	प्रीतिः	मृदुः		
१३.	मार्जनी	मध्या	मध्यमः	४
१४.	क्षितिः	मृदुः		
१५.	रक्ता	मध्या		
१६.	संदीपनी	आयता		
१७.	आलापिनी	करुणा	पञ्चमः	४
१८.	मदन्ती	करुणा		
१९.	रोहिणी	आयता		
२०.	रम्या	मध्या	धैवतः	३
२१.	उग्रा	दीप्ता		
२२.	क्षोभिणी	मध्या	निषादः	२

इन सात स्वरों में से षड्ज, गान्धार, मध्यम स्वरों की उत्पत्ति देवकुल में, पञ्चम स्वर की पितृवंश में, ऋषभ-धैवत स्वरों की ऋषिकुल में तथा निषाद स्वर की असुरवंश में मानी जाती है । षड्ज-मध्यम-पञ्चम स्वरों को ब्राह्मण, ऋषभ-धैवत को क्षत्रिय, निषाद-गान्धार को वैश्य तथा अन्तर-काकली स्वरों को शूद्र कहा गया है । एक उल्लेख के अनुसार षड्ज स्वर की जम्बू द्वीप में, ऋषभ की शाकद्वीप में, गान्धार की कुशद्वीप में, मध्यम की क्रौञ्च द्वीप में, पञ्चम की शाल्मलि द्वीप में, धैवत की श्वेतद्वीप में तथा निषाद की उत्पत्ति पुष्करद्वीप में स्वीकार की गई है । इन सात स्वरों के देवता क्रमशः अग्नि, ब्रह्मा, सरस्वती, शङ्कर, लक्ष्मी, गणेश, सूर्य एवं छन्द क्रमशः अनुष्टुप्-गायत्री-त्रिष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-उष्णिक्-जगती माने गये हैं । उपयोगिता की दृष्टि से षड्ज-ऋषभ स्वरों को वीर-अद्भुत-रौद्र रसों के वर्णन में, धैवत को बीभत्स-भयानक रसों के वर्णन में, गान्धार-निषाद को करुण रस के वर्णन में तथा मध्यम-पञ्चम स्वरों को हास्य-शृङ्गार रसों के वर्णन में विशेष सुविधाजनक तथा फलप्रद कहा जाता है । स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं, जो मूर्छना का आधार होता है । जैसे कुटुम्बियों का समूह जहाँ रहता है, उसे लोक में ग्राम कहते हैं । ठीक उसी प्रकार सङ्गीत में स्वरों के समूह की ग्रामसंज्ञा होती है—

"ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः"

(सं० र०-अ० १, प्र० ४, श्लो० १) ।

यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूता वसन्ति हि ।
सर्वलोकस्य स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थितिः ।।
स्वराणां मूर्च्छनातानजातिजात्यंशकात्मनाम् ।
व्यवस्थितश्रुतीनां हि समूहो ग्राम इष्यते ।।

(सं० र०-सुधाकरटीका) ।

गानक्रिया (उच्चारण) से स्वर-पद आदि का वर्णन = विस्तार होता है, अतः गानक्रिया को वर्ण माना गया है । यह स्थायी-आरोही-अवरोही-संचारी भेद से चार प्रकार का होता है । सङ्गीत में विशिष्ट वर्णसन्दर्भ को **अलङ्कार** कहा गया है । विशिष्टस्वर, विशिष्टवर्ण या ध्वनिभेद के कारण जिससे चित्त अनुरक्त = आकृष्ट या प्रसन्न होता है, वही **राग** है । गीत के महत्त्व को शिक्षाकार जानते हैं या फिर अनुकार, रसिक, रञ्जक या भावक ही गीत की विशेषताओं को समझने में समर्थ होते

हैं। गन्धर्वों के द्वारा जिसका प्रयोग किया जाता है, ऐसे अनादि सम्प्रदाय वाले गान को **गान्धर्वगान** कहा जाता है, जो निःश्रेयस का भी हेतु होता है। विविध लक्षणों के अनुसार जिसकी रचना होती है और विविध देशी रागों में जो गाया जाता है, उसे सुनकर सामान्यजन भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। अतः उसे जनरञ्जन-गान कहा गया है।

सङ्गीतरत्नाकर नामक ग्रन्थ के अध्याय १-४ में गीत का, अध्याय ५-६ में वाद्य का तथा अध्याय ७ में नृत्य का विस्तार से वर्णन आचार्य शार्ङ्गदेव ने किया है। उनके अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा ने भरतमुनि को नाट्यवेद का उपदेश किया था। भरतमुनि ने गन्धर्व तथा अप्सराओं के साथ भगवान् शङ्कर के समक्ष नाट्य, नृत्य तथा नृत्त का प्रयोग किया। पार्वती ने लास्य की शिक्षा बाणपुत्री उषा को दी थी, उससे द्वारका की युवतियों ने तथा उनस सौराष्ट्र देश की युवतियों ने लास्य सीखा और इसके बाद अनेक जनपद की युवतियों ने इसका ज्ञान प्राप्त किया। तापकर्तन नर्तन के तीन भेदों में से नाट्य-नृत्य का प्रयोग तो पर्वों एवं विशिष्ट उत्सवों के अवसर पर करना चाहिये तथा राज्याभिषेक सम्बन्धी महोत्सव में नृत्त का प्रयोग उचित माना जाता है।

नादसम्बन्धी वर्णन के सन्दर्भ में शरीरस्थ कुण्डलिनी शक्ति के साथ १० प्रकार के चक्र बताये गये हैं। अन्त में कहा गया है कि कुण्डलिनी के माध्यम से जो भुक्ति-मुक्ति प्राप्त होती है, उसमें ध्यान का आश्रय लेना पड़ता है, जो चित्त की परम एकाग्रता के विना सम्भव नहीं होता। यह कार्य अत्यन्त कठिन है, अतः उसे छोड़कर आहत-अनाहत नाद के आश्रय से होने वाले गीत की साधना करनी चाहिये—

ध्यानमेकाग्रचित्तैकसाध्यं न सुकरं नृणाम्।
तस्मादत्र सुखोपायं श्रीमन्नादमनाहतम्॥
गुरूपदिष्टमार्गेण मुनयः समुपासते।
सोऽपि रक्तिविहीनत्वान्न मनोरञ्जको नृणाम्॥
तस्मादाहतनादस्य श्रुत्यादिद्वारतोऽखिलम्।
गेयं वितन्वतो लोकरञ्जनं भवभञ्जनम्॥

(सं० र०-अ० १, प्र० २, श्लो० १५१-१५३)।

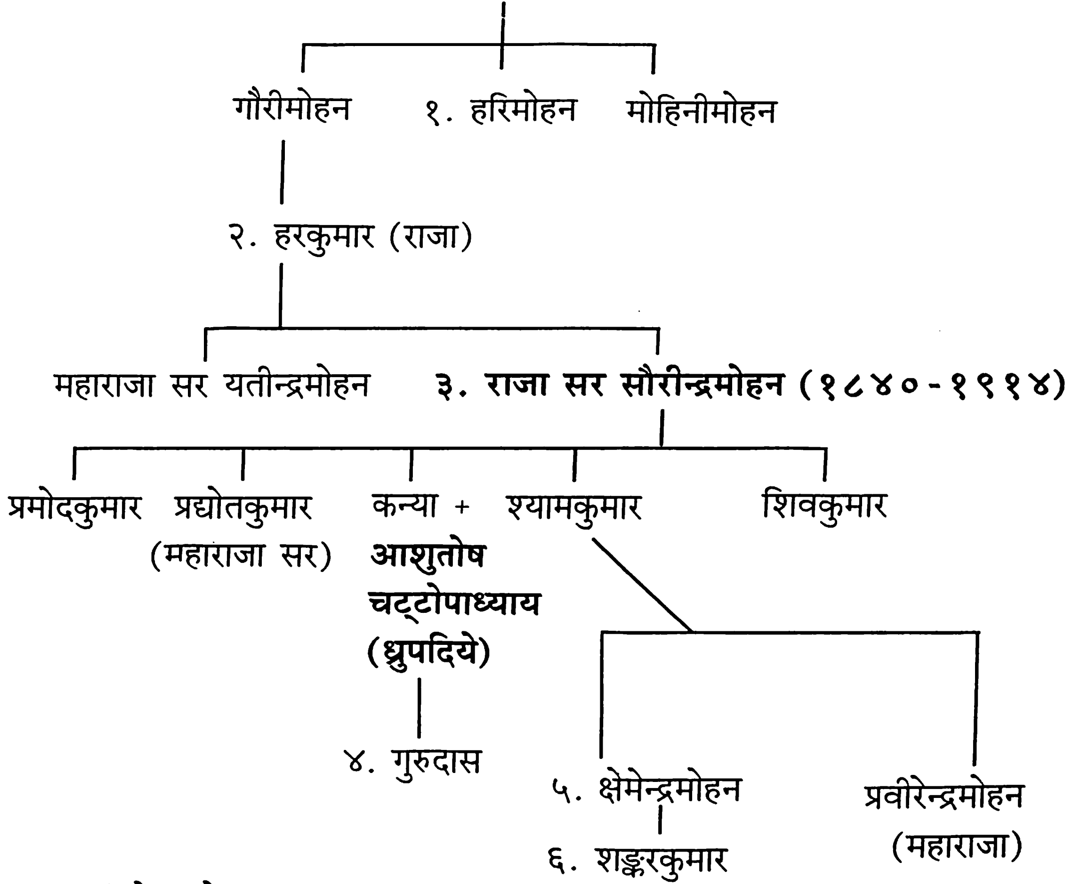
सर्वजनोपयोगी होने के कारण सङ्गीत का क्षेत्र व्यापक है, उसमें प्रयुक्त होने वाले गीत-वाद्य-नृत्य का भेदोपभेदों के साथ विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । यहाँ केवल सङ्गीतशास्त्र में विचारणीय विषयों का उल्लेख किया जा रहा है—सङ्गीत, गीत, नाद, ब्रह्मस्वरूप, जीव-ब्रह्म-जगत् का ऐक्य, सृष्टिक्रम, मनुष्यशरीर की उत्पत्ति, भाव, रस, आकाश आदि भूतों के गुण, अङ्ग-प्रत्यङ्ग-हृदय, आधारचक्र-स्वाधिष्ठानचक्र-मणिपूरचक्र-अनाहतचक्र-विशुद्धिचक्र-ललनाचक्र-आज्ञाचक्र-मनश्चक्र-सोमचक्र-सहस्रारचक्र, ब्रह्मग्रन्थि, नादोपासना, त्रिविध-पञ्चविध नाद, सप्तस्वर, विकृतस्वर, स्वरों के छन्द-देवता-रस-उद्भवस्थान, ग्राम, मूर्च्छना, क्रम, तान, काकली-अन्तर, वर्णभेद, अलङ्कार, जाति, ताल, कला, गीति ।

राग, रागालाप, रूपक, गान्धर्व स्वरादि, गायन-लक्षण, गायनदोष, गमकभेद, प्रबन्धजाति, गीत के गुण-दोष, तालस्वरूप, तालधारणप्रकार, यतिलक्षण, देशी ताल, वाद्य, ततवाद्य, वीणावाद्य, दशविध वाद्य, करण, धातु, वृत्ति, वाद्यभेद-सुषिरवाद्य, अवनद्धवाद्य, पटहादि साधारण वाद्य, ढक्का-डमरु-झल्लरी प्रभृति वाद्य, वाद्य-वादक के गुण-दोष । नाट्योत्पत्ति, मोक्षसाधन नाट्य, नृत्य, आङ्गिक अभिनय, अङ्गभेद, हस्त-वक्ष-चरणभेद, स्कन्ध-ग्रीवादिभेद, चालकलक्षण, मुखराग, हस्तप्रचार, अङ्गहार, लास्याङ्ग, नव रस तथा भाव आदि ।

ग्रन्थकार-परिचय

शौरीन्द्रमोहन ठाकुर को रवीन्द्रनाथ ठाकुर से सम्बद्ध कहा जाता है । वस्तुतः इन्होंने पुरुषोत्तम विद्यावागीश (१६वीं शताब्दी) को अपना पूर्वज बताया है । उनसे लगभग तीन सौ वर्ष बाद शौरीन्द्रमोहन ठाकुर हुए थे, क्योंकि पुरुषोत्तम विद्यावागीश का जन्म सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध (लगभग १५३० ई०) में तथा शौरीन्द्रमोहन का जन्म १८४० ई० में हुआ था ।

विमलाकान्तरायकृत तथा मदनलालव्यास द्वारा अनूदित भारतीय सङ्गीतकोश (पृ० २२९) में सङ्गीतवंशावली दी गई है, उसमें शौरीन्द्रमोहनठाकुर का समय १८४०-१९१४ ई० उल्लिखित है । वंशावली इस प्रकार है—



१. हरिमोहन के सप्तम वंशधर–दक्षिणामोहन ठाकुर (तडित् वीणा एवं दिलरुबा)। दक्षिणामोहन के गुरु–गिरिजाशङ्कर चक्रवर्ती, छोटे खाँ एवं सुरेशचन्द्र चक्रवर्ती।
२. हरकुमार के गुरु–बासत खाँ।
३. राजा सौरीन्द्रमोहन के गुरु–अली मुहम्मद, क्षेत्रमोहन गोस्वामी।
४. गुरुदास के गुरु-राधिकाप्रसाद गोस्वामी।
५. क्षेमेन्द्रमोहन के गुरु–इनायत हुसैन खाँ, दबीर खाँ, लछमीप्रसाद मिश्र।
६. शङ्करकुमार के गुरु–जितेन्द्रमोहन सेनगुप्त।

राजा सौरीन्द्रमोहन ठाकुर ने **यन्त्रकोष** नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी (द्र०-भारतीय सङ्गीतकोश पृ०-२२९, भूमिका पृ०-११)।

अव्ययशब्दों का संग्रह श्रीशौरीन्द्रमोहन ठाकुर ने अपने पूर्वज पुरुषोत्तम विद्यावागीश-कृत प्रयोगरत्नमालाव्याकरण के अनुसार किया है। यह व्याकरण श्लोकबद्ध है तथा इसमें २८२७ सूत्र हैं। विद्यावागीश ने अपने व्याकरण की रचना शरत्पूर्णिमा, गुरुवार को शक संवत् १४९० + ७८ = १५६८ ई० सन् में पूर्ण

की थी—

गगनग्रहमनुशाके (१४९०) नाकेन्द्राचार्यवासरे शरदि ।
अधिपौर्णमासि पूर्णा समपद्यत शब्दविद्येयम् ।।

सम्पादक श्रीशिवनाथशास्त्री ने पृ० ३ की टिप्पणी-२ में इस विषय का उल्लेख किया है—"श्रीश्रीनरनारायणदेवभूपाल: १४९० शकाब्दे कामपीठसमुद्भूत-पण्डितसत्तम-श्रीमत्पुरुषोत्तमविद्यावागीशभट्टाचार्यं तीर्थयात्राप्रसङ्गेन धननिधिमिव समुपलभ्य बालानामनायासबोधसिद्धौ तेन विदुषा कारिका-प्रबन्धेन 'प्रयोगरत्नमाला' नाम व्याकरणं कारितवान्" ।

ये विद्यावागीश नरनारायण नामक राजा की सभा के अन्यतम पण्डितरत्न थे, इनका जन्म-स्थान कामरूप (आसामप्रदेश) जिले के भोजकुची नामक ग्राम में माना जाता है, जिसे इन्होंने बाद में छोड़ दिया था । कामरूप के श्रेष्ठ विद्वानों में इनकी गणना होती है । ऐसा भी कहा जाता है कि राजा नरनारायण जब वाराणसी-यात्रा सम्पन्न कर कामरूप वापस जा रहे थे, तो मार्ग में इनकी भेंट पुरुषोत्तम विद्यावागीश से हुई थी, जो उन्हें अपने साथ राजधानी वापस ले गये थे । इन्हीं की प्रेरणा से विद्यावागीश ने सरलतम प्रयोगरत्नमालाव्याकरण की रचना की थी । कामरूप के विद्वानों में यह अत्यन्त सम्मानित है । उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने भी प्रामाणिक मानकर इसका पर्याप्त प्रचार किया था । मङ्गलाचरण से ऐसा कहा जा सकता है कि ये भगवान् कृष्ण के परम भक्त थे । प्रारम्भिक मङ्गलवचन इस प्रकार है—

अमृताधिकमाधुरीधुरीणाधरनिर्यासगुणोर्जितेन वेणोः ।
रणितेन जगन्ति रञ्जयन्तं भगवन्तं घनकान्तिमन्तमीडे ।।२।
श्रीमल्लदेवस्य गुणैकसिन्धोर्महीमहेन्द्रस्य यथानिदेशम् ।
यत्नात् प्रयोगोत्तमरत्नमाला वितन्यते श्रीपुरुषोत्तमेन ।।३।
महतामपि हृद्विभावनीयैर्महनीयैर्गुणवृद्धिमत्प्रयोगैः ।
रचितां पुरुषोत्तमेन बालाः प्रतिभायै परिधत्त रत्नमालाम् ।।४।

मध्य मङ्गल (पृ० २२) –

इन्दीवरदलप्रायसुकुमाराय तत्त्विषे ।
नमो नन्दकुमाराय पराय दनुजद्विषे ।।

'मल्लदेव' तथा 'नरनारायणदेव' ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के सिद्ध होते हैं, क्योंकि उक्त श्लोक (३) में राजा मल्लदेव के अनुसार और प्रकरण के अन्त में इन्होंने नरनारायणदेव के निर्देशानुसार रचना किये जाने का उल्लेख किया है (पृ० २२८)—

अवहेलितभीमविक्रमश्रीनरनारायणदेवदेशितेन ।
गुणवद्हिततद्धितप्रबन्धो रचितः श्रीपुरुषोत्तमेन तेन ।।

पुरुषोत्तम विद्यावागीश की रचना तथा विद्वत्ता का यह परिचय गान्धर्वकलापव्याकरण के रचयिता ठाकुरशौरीन्द्रमोहन की पूर्वपरम्परा की प्रशस्तता बताने के उद्देश्य से दिया गया है । यह व्याकरण कातन्त्र (कलाप) व्याकरण से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें वर्णसमाम्नाय तथा संज्ञायें कातन्त्र के अनुसार ही प्राय: की गई हैं। जैसे कातन्त्र का वर्णसमाम्नाय 'अ' से 'क्ष्' तक माना गया है, इसका भी वर्णसमाम्नाय क्षकारान्त है । कहा भी गया है—

(प्रथमो विन्यास:, संज्ञाप्रकरणम्)

अकारादिक्षकारान्ता वर्णमालानुवर्तते ।।१।

(स्वरादिसंज्ञाविधानार्थम्)

उक्तः क्षो वर्णमालायां मन्त्रस्योपचिकीर्षया ।
कादिसंयोगसङ्केतविषयं कश्चिदाह तम् ।।

अत्र संज्ञाविधानानुपयुक्तोऽपि क्षकार: पाणिनीयवर्णक्रमव्यवच्छेदार्थ: (द्र०, प्रयोगरत्नमालाव्याकरणम्, पृ० १३, १) ।

यहाँ Foreward (p.3) की आंशिक शब्दावली दी जा रही है, जिसमें पुरुषोत्तमविद्यावागीश के जन्मस्थान आदि के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है—

The book, as is evident from the very words enshrined in the verses on Mangalacharanam, was written by Mahamahopadhyaya Pandit Purushottama Vidyavagisha in 1568 A. D. (Saka era 1490) at the instance of Maharaj Naranarayana, a great patron of learning. It is an admitted fact that Pandit Purushottama Vidyavagisha was a jewel in the court of the King Naranarayana. But detailed informations regarding the identity of the author are still in the womb of obscurity. Tradition says that the great scholar ***hailed from Bhojkuchi***, a village in the district ***of Kamroop*** or some adjoining place in the vicinity. This theory can not be accepted with precision but nevertheless, it is beyond doubt that the author was one of the brilliant sons of ancient Kamroop. His Majesty, the King Naranarayana happened to come across this jewel of scholars on his way on a royal pilgrimage to Varanasi, and brought him back to the capital.

संपादनकार्य की शैली आदि का परिचय

इस कार्य के सम्पादनार्थ सर्वप्रथम १८२४ शकसंवत् अर्थात् १९०२ ई० में मुद्रित कलिकाता-नगरीस्थ एशियाटिक-सोसाइटी से मूलग्रन्थ ग्रन्थालय-तिब्बतीसंस्थान-सारनाथ-वाराणसी के माध्यम से २००० ई० में प्राप्त किया गया। ग्रन्थ वङ्गलिपि में मुद्रित है। जीर्ण होने के कारण इसकी जिरॉक्स कॉपी प्रेषित करने में संस्था ने असमर्थता व्यक्त की थी, जिसके फलस्वरूप इसे माइक्रोफिल्म में प्राप्त किया जा सका। मूल ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या ८६ है। जहाँ कलाप और गान्धर्व के तुलनात्मक सूत्र हैं, वहाँ बाईं ओर कलापव्याकरण के सूत्र व्याख्या-सहित दिये गये हैं और गान्धर्वव्याकरण के सूत्रों की व्याख्या दाहिनी ओर के पृष्ठों पर दी गई है। जहाँ केवल गान्धर्वव्याकरण के ही सूत्र हैं, वहाँ उन्हें लगातार दोनों ओर प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने अन्तिम दो पृष्ठों पर विलियम गार्डनर (William Gardiner) की पुस्तक (The Music of Nature) के कुछ अंश अंग्रेजी भाषा में उद्धृत किये हैं। इसमें कहा गया है कि हम सर्वप्रथम पक्षियों के मधुर चहचहाते (कलरव) शब्दों से सङ्गीत के संकेत प्राप्त करते हैं। कुछ पक्षी प्रात:काल जगाने के लिये, तो कुछ स्वागत करने के लिये चीं-चीं करते देखे जाते हैं। कुछ कीड़ों की भनभनाहट, गुनगुनाहट भी सङ्गीत के रूप में ही सुनी जाती है।

इस ग्रन्थ में कलापव्याकरण के ६९ सूत्र व्याख्यात हैं, प्रासङ्गिक रूप में ३२ अतिरिक्त सूत्र दिये जाने के कारण गान्धर्वव्याकरण के सूत्रों की संख्या १०१ है। तुलना के लिये प्राय: सन्धि-षड्लिङ्ग-कारक-समास प्रकरणों के सूत्रों का संग्रह किया गया है। कलापसूत्रों की जो व्याख्या दी गई है, उसका नाम ग्रन्थकार ने नहीं दिया है। मैंने दुर्गवृत्ति के साथ समस्त सूत्रों की व्याख्या का मिलान किया है, तदनुसार ३० सूत्रों की व्याख्या दुर्गवृत्ति से पूर्ण समानता रखती है एवं ३७ सूत्रों की व्याख्या अंशत: ही समान है। अत: मैंने प्रत्येक सूत्र के प्रारम्भ में कोष्ठक में दुर्गवृत्ति का उल्लेख किया है। प्लुत और अव्ययसंज्ञासम्बन्धी दो सूत्रों की व्याख्या ग्रन्थकार ने अपनी ओर से प्रस्तुत की है। गान्धर्वव्याकरणविषयक सूत्रों के सम्बन्ध में यह निश्चयेन नहीं कहा जा सकता है कि ये ग्रन्थकार के स्वरचित हैं या इन्हें किसी दूसरे ग्रन्थ से लिया गया है। ग्रन्थकार इस विषय में मौन हैं। सामान्यतया इन्हें ग्रन्थकार की रचना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। अत: इनका सन्दर्भ मैंने ग्रन्थ-प्रकरण-

क्रम से पूर्ण किया है। जैसे—"तत्र च सप्त स्वरा:" यह सन्धिप्रकरण-प्रथमपाद का द्वितीय सूत्र है, इसलिये इस सूत्र के बाद कोष्ठक में (१/१/२) यह सन्दर्भ दिया गया है। कलापशास्त्रीय तथा गान्धर्वशास्त्रीय विषयों का स्पष्टीकरण मैंने हिन्दी-अनुवाद तथा विशेष टिप्पणियों में करने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ के आरम्भिक श्लोक में देवाधिदेव सर्वज्ञ ईश्वर को प्रणाम करके कातन्त्रव्याकरण के व्याख्यान की प्रतिज्ञा की गई है। वस्तुत: यह श्लोक चैत्रकूटी वृत्ति में वररुचि ने और कातन्त्रवृत्ति में दुर्गसिंह ने दिया है। ग्रन्थकार शौरीन्द्रमोहन ने मङ्गलाचरण के रूप में उस नादशक्ति की वन्दना की है, जिसके अधीन संसार की स्थिति मानी जाती है। 'कलाप-गान्धर्व' शब्दों की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करके वर्णमाला की चर्चा की है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दो प्रकार के शब्दों में कण्ठादि के संयोग से तो वर्णात्मक शब्द अभिव्यक्त होते हैं और मृदङ्गादि वाद्यों से ध्वन्यात्मक शब्द। कलापव्याकरण में 'अ' इत्यादि १४ स्वर बताये गये हैं, जबकि सङ्गीतशास्त्र में षड्ज आदि केवल ७ ही स्वर होते हैं। कलाप में 'अ-आ' इत्यादि १० वर्णों की समान संज्ञा स्वीकार की गई है, परन्तु सङ्गीतशास्त्र में सभी ७ शुद्ध स्वरों को समानसंज्ञक माना गया है। कलाप में 'अ-आ' इत्यादि दो-दो वर्णों की तथा गान्धर्व में समानश्रुति वाले स्वरों की सवर्णसंज्ञा की गई है। इस प्रकार दोनों व्याकरणों की अनेक संज्ञाएँ शब्दत: तो समान हैं, परन्तु उनकी परिभाषाएँ शास्त्रभेद से भिन्न-भिन्न हैं। कुछ संज्ञाओं में शब्द और अर्थ दोनों का ही अन्तर है। जैसे कलापीय नामी-सन्ध्यक्षर-अघोष-घोष-विसर्जनीय-जिह्वामूलीय संज्ञाओं के लिये गान्धर्व में श्रुति-विकृतस्वर-ग्राम-साधारणस्वर-दण्ड-डमरु संज्ञाएँ की गई हैं। कलापव्याकरण की यह मान्यता है कि जिन शब्दों की सिद्धि के लिये सूत्र नहीं बनाये गये हैं, उनका साधुत्व लोकव्यवहार से समझ लेना चाहिये। परन्तु सङ्गीतशास्त्र में कहा गया है कि देश-विशेष में वहाँ के मान्य सङ्गीतज्ञ गीत को जैसे गाते हैं, वहाँ उस गीत को उन्हीं के अनुसार ही गाना चाहिये। दीर्घ-प्रकृतिभाव-छकारादेश-द्विर्वचन आदि के सम्बन्ध में अनेक समानताएँ दिखाई गई हैं। ग्रन्थकार ने सङ्गीतशास्त्र के अन्तर्गत स्वरों में विभक्तियों की योजना भरतमुनि के अनुसार बताई है। प्रसङ्गत: सङ्गीतशास्त्र के अनुसार नाद-श्रुतियों का उद्भव, श्रुतिसंज्ञा, श्रुतिभेद, स्वरप्रकाशन आदि विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

चतुष्टयवृत्ति के द्वितीय पाद में सङ्गीतविषयक १० सूत्रों की व्याख्या है, जिसमें ग्रामसंज्ञा, श्रुति-मूर्च्छनालक्षण, मध्यमग्राम, गान्धारग्राम आदि का स्पष्टीकरण किया गया है। कारकप्रकरण के अन्तर्गत सङ्गीतशास्त्रीय 'तीव्रा-मन्दा-मदन्ती-रम्या'

आदि २२ श्रुतियों को उपसर्ग के रूप में प्रस्तुत किया है । प्रसङ्गतः सङ्गीतशास्त्रीय शुद्धस्वर-विकृतस्वर-कोमलस्वर-तीव्रमध्यमस्वर की चर्चा की गई है । अपादान-सम्प्रदान-अधिकरण-करण-कर्म-कर्ता संज्ञाओं में उभयत्र शब्दतः समानता होते हुये भी अर्थतः भेद है । सङ्गीतशास्त्रीय विशेष्य-विशेषण-अलङ्कार-शब्द संज्ञाओं की भी व्याख्या द्रष्टव्य है । समासप्रकरण में कर्मधारय-द्विगु-तत्पुरुष-द्वन्द्व-अव्ययीभाव संज्ञाओं में समानता और विषमता दोनों ही देखी जाती हैं ।

वस्तुतः कलापसूत्रों के आधार पर ग्रन्थकार द्वारा स्वरचित या अन्यत्र से उद्धृत सूत्रों की पूर्णतः या आंशिक समानता बताना एक अत्यन्त दुष्कर और गौरवपूर्ण महनीय कार्य है । एतदर्थ ग्रन्थकार को अभिनन्दनीय, वन्दनीय और अनुकरणीय कहना सङ्गत होगा । कलापव्याकरण के अनुसार पालि के कच्चायन व्याकरण में ३६० सूत्रों की तथा हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में लगभग १०० सूत्रों की समानता देखी जाती है । जिस पर प्रो० जानकीप्रसाद द्विवेदी का समीक्षाकार्य द्रष्टव्य है । 'कातन्त्र-व्याकरण का बृहद् इतिहास' के अन्तर्गत लेख के रूप में भी इस विषय को दिया गया है । पालिव्याकरण कच्चायन का समीक्षाकार्य तिब्बतीसंस्थान-सारनाथ से २००४ ई० में प्रकाशित पुस्तक में संगृहीत है । उसकी भी अपेक्षा संस्कृतव्याकरण और सङ्गीतशास्त्र के शब्दों-सूत्रों में रचना करके उनकी परस्पर समानता बताना अधिक कठिन और वैदुष्य का परिचायक कार्य है । शौरीन्द्रमोहन ठाकुर का यह कार्य अवश्य ही अग्रिम पीढ़ी के लिये प्रेरणादायक सिद्ध होगा ।

ग्रन्थ में व्याख्यात कलापसूत्र-गान्धर्वसूत्र-तुलनात्मकसूत्रसूची-७४ टिप्पणी-१०४ विषयों की सूची, कलापव्याकरणविषयक तथा कातन्त्रसङ्गीतविद्याविषयक गीत को भी विविध परिशिष्टों में संगृहीत किया गया है । कलाप तथा गान्धर्वशास्त्रीय १०४ विषयों को सुगमता से समझने के लिये हिन्दी-अनुवाद यथास्थान प्रस्तुत है ।

कृतज्ञता-प्रकाशन

सर्वप्रथम मैं **''गान्धर्वकलापव्याकरणम्''** ग्रन्थ के प्रणेता श्रीशौरीन्द्रमोहनठाकुर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने कलाप-सूत्रों के आधार पर साम्यबोधक सङ्गीतशास्त्र के सूत्र बनाये और उनकी व्याख्या भी प्रस्तुत की । यह कार्य दो व्याकरणों में पारङ्गत हुये विना नहीं हो सकता था । वस्तुतः किसी भी अन्य पाणिनीय आदि व्याकरण को आधार बनाकर ऐसा कार्य अद्यावधि नहीं हुआ, जिसे श्रीशौरीन्द्रमोहन ठाकुर ने सम्पन्न करके एक आदर्श प्रस्तुत किया है । जिन ग्रन्थों से मुझे हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणियों को तैयार करने में सहायता मिली है, उनके

लेखकों का भी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ ।

कातन्त्र के छत्र परमपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती महाराजश्री **विद्यानन्द** जी मुनिराज तथा कातन्त्र के परममित्र परमपूज्य एलाचार्य महाराजश्री **श्रुतसागर** जी के चरणों में नमन करता हूँ, जिनकी सत्प्रेरणा व आशीर्वाद से यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका है । मैं अपने प्रातःस्मरणीय पिता आचार्य प्रो० **जानकीप्रसाद द्विवेदी** व वन्दनीया माताजी श्रीमती **कृष्णा द्विवेदी** को शतशः अभिवादन करता हूँ, जिन्होंने सभी प्रकार की वाञ्छित सहायता देकर मेरा मनोबल बढ़ाया तथा समुचित मार्गनिर्देशन किया । पूज्य गुरुवर प्रो० **शिवजी उपाध्याय**-पूर्व प्रतिकुलपति एवं राष्ट्रपति-सम्मानित को विशेष नमन करता हूँ, जिन्होंने ग्रन्थ की सम्पूर्ति-हेतु पूर्णरूपेण सहयोग तथा आशीर्वाद प्रदान किया ।

इस प्रसङ्ग में मैं अपनी अग्रजा श्रीमती **क्षमा तिवारी** – एम०ए०, डॉ० **माधवी द्विवेदी**–एम०ए०, पी-एच०डी०, बी०लिब्०,नेट, अनुज चि० **यशश्चन्द्र द्विवेदी**-शोधछात्र-भौतिकी विभाग, बी०एच०यू० एवं मेडिकल क्षेत्र के लिये समर्पित चि० **स्वस्ति द्विवेदी** को भी धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने पाण्डुलिपि तैयार करने-प्रूफसंशोधन आदि कार्यों में वाञ्छित सहयोग प्रदान किया है ।

शारदा प्रेस – व्यवस्थापक **श्रीदिवाकर त्रिपाठी** को धन्यवाद देता हूँ, क्योंकि उन्होंने पूर्ण अभिरुचि और तत्परता के साथ पुस्तक के मुद्रण आदि कार्यों में अपना प्रबल मनोयोग दिखाया है ।

कलापाधारितं शास्त्रं गान्धर्वं यत् प्रवर्तितम् ।
मया सम्पादितं तच्च स्यात् सुधीजनरञ्जकम् ।।

विदुषां वशंवदः
डॉ० शरच्चन्द्र द्विवेदी
हिन्दी-अनुवादक, समीक्षक एवं सम्पादक

विषयानुक्रमणी

प्रथमे सन्धिप्रकरणाध्याये प्रथमपादः

नामचतुष्टयाध्याये तृतीयः कारकपादः

●

॥ श्रीः ॥

सर-शौरीन्द्रमोहनठाकुरप्रणीतं

गान्धर्वकलापव्याकरणम्



॥ श्रीश्रीदुर्गा शरणम् ॥

प्रथमतः सञ्ज्ञाप्रकरणम्

१. कलापे (मङ्गलाचरणम्)

देवदेवं प्रणम्यादौ *सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ।
कातन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि व्याख्यानं शार्ववर्मिकम् ॥

[हिन्दी-अनुवाद]

ग्रन्थ के प्रारम्भ में सृष्टि - स्थिति - प्रलय - विद्या - अविद्या आदि को जानने वाले एवं सम्पूर्ण विश्व को देखने वाले, देवों के भी देव **शङ्कर** को नमस्कार करके आचार्य शर्ववर्मा द्वारा किये गये कातन्त्रव्याकरणसम्बन्धी व्याख्यान का मैं (वररुचि तथा दुर्गसिंह) प्रवचन (स्पष्टीकरण) करूँगा।

टिप्पणी— १

आचार्य शर्ववर्मा द्वारा रचित व्याकरण का **'कलाप'** नाम वङ्गप्रदेश तथा तिब्बतदेश में अधिक प्रचलित रहा है। इसके अन्य नाम हैं— १. कातन्त्र, २. कौमार, ३. शार्ववर्मिक, ४. दौर्गसिंहीय, ५. मुष्टिव्याकरण तथा ६. सिद्धव्याकरण। पूर्ववर्ती व्याकरणों की अपेक्षा संक्षिप्त होने के कारण इसे **कातन्त्र** कहते हैं। ईषदर्थक 'कु' शब्द को 'का' आदेश होने पर 'कातन्त्र' शब्द सिद्ध होता है। तन्त्र का अर्थ है—व्याकरण। तन्त्र्यन्ते विस्तीर्यन्तेऽर्था अनेनेति **तन्त्रं** व्याकरणम्। विना ही अनुमति प्राप्त किए अग्रिम सूत्र का उच्चारण करने पर प्रवर्तक आचार्य स्वामिकार्त्तिकेय ने शर्ववर्मा से कहा था-"**अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति**" (क०स०सा० १/७/१३)। कुमार कार्त्तिकेय के द्वारा उपदिष्ट (प्रवर्तित) होने से, कुमारों=बालकों के लिये अधिक उपकारक होने के कारण या कुमारी=सरस्वती या ऋषभदेव की कुमारी पुत्री ब्राह्मी से सम्बद्ध होने के कारण इसे **कौमार** नाम दिया गया है। आचार्य शर्ववर्मा

*– विष्णु, शङ्कर, सूर्य तथा बुद्ध के लिए 'सर्वज्ञ' नाम का प्रयोग होता है (द्र०-कातन्त्र-टीकादि व्याख्याएँ)। विघ्नविनाशपुरस्सर ग्रन्थ-समाप्ति के उद्देश्य से वृत्तिकार दुर्गसिंह (मूलतः वररुचि) ने यहाँ नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है।

इसके रचनाकार हैं। अत: इसका एक नाम है-शार्ववर्मिक। शर्ववर्मणा प्रोक्तं शार्ववर्मिकम्। आचार्य दुर्गसिंह ने वृत्ति-टीका-उणादि-लिङ्गानुशासन आदि की रचना से कातन्त्र की श्रीवृद्धि की है। अत: इन्हें कातन्त्ररूपी दुर्ग में सिंह की तरह निर्भय होकर विचरण करने वाला माना जाता है। फलत: इनके नाम पर इसे दौर्गसिंहीय या दौर्ग व्याकरण भी कहते हैं। परिमाण में छोटा होने के कारण इसका 'मुष्टि' नाम भी कहीं कहीं मिलता है। "सिद्धो वर्णसमाम्नाय:" इसका प्रथम सूत्र है, अत: कुछ विद्वान् इसे सिद्धव्याकरण भी कहना चाहते हैं। इसे तिब्बतदेशीय आचार्य बौद्ध व्याकरण तथा भारतीय जैनसमाज (विशेषत: श्रीविद्यानन्द जी महाराज, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रो० राजाराम जी जैन तथा डॉ० दामोदर शास्त्री इत्यादि) जैन व्याकरण मानता है। अनेक लेखों में इसे गौरव ग्रन्थ घोषित किया गया है (द्र०–प्राकृतविद्या पत्रिका-११/३, पृ० ४-११; ११/४, पृ० २४-२९, ९६-९७; १२/१, पृ० १८-२४)। श्रीकुन्दकुन्दभारती, नई दिल्ली नामक संस्था ने परिसर में स्थित खारवेल-भवन के अन्तर्गत कातन्त्रपुस्तकालय की स्थापना की है।

व्याख्याकार इसे चैत्रकूटी वृत्ति के प्रारम्भ में वररुचि द्वारा प्रस्तुत मङ्गलश्लोक मानते हैं । उसे ही दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में उद्धृत किया है। सम्प्रति चैत्रकूटी वृत्ति उपलब्ध नहीं है।

१. गान्धर्वे (मङ्गलाचरणम्)

(क)

सृष्ट्यादौ सूयते या स्मरहरविबुधान् सार्धमेतैर्जगद्भि-
र्यस्यामन्ते प्रलीना विगतकलुषकैर्योगिभिर्या प्रराध्या ।
सत्तेति ब्रह्म नित्यं निरतिशयसुखं स्वप्रकाशस्वरूपं
तामाद्यां नादशक्तिं सकलविभवदां मुक्तये सम्भजामि ।।

(ख)

*__नादेन व्यज्यते वर्ण: पदं वर्णात् पदाद् वच: ।__
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।।

(सं० र० – अ० १, प्र० २, श्लो० २)

[हिन्दी-अनुवाद]

(क) मैं शौरीन्द्रमोहन ठाकुर मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से उस आदि

---

*– आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।
सोऽयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात् पिण्डोऽभिधीयते ।।
तत्र नादोपयोगित्वान्मानुषं देहमुच्यते ।
(सं०र०-अ० १, प्र० २, श्लो० ३, १७)

नादशक्ति का **भजन=स्मरण या ध्यान कर रहा हूँ, जो सृष्टि के प्रारम्भ में सम्पूर्ण विश्व के साथ कामदेव-शङ्कर आदि देवों को उत्पन्न करती है, अन्त में जिसमें समग्र सृष्टि विलीन हो जाती है, निष्पाप=निर्मल हृदय वाले योगीजन जिसकी आराधना किया करते हैं, जिसे सत्ता, नित्य ब्रह्म, निरतिशय सुख, स्वप्रकाशस्वरूप कहा जाता है तथा जो समस्त ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ है।

(ख) नादशक्ति से ही वर्णों की, वर्णों से पद की तथा पदों से वाक्य की अभिव्यक्ति होती है। यत: लोकव्यवहार वाणी=शब्दों (वाक्यों) से ही सुचारुरूप में सम्पन्न होता है। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार की स्थिति नादशक्ति के ही अधीन सिद्ध होती है।

टिप्पणी— २

व्याकरणदर्शन में शक्तितत्त्व के चित्-अचित्-मिश्रित अंश को **नाद** कहते हैं। इसका व्यवहार 'रव-परा' आदि शब्दों से भी किया जाता है। एतदर्थ वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा का निम्नाङ्कित प्रकरण अवश्य द्रष्टव्य है—

"अत्रोच्यते-प्रलये नियतकालपरिपाकानां सर्वप्राणिकर्मणामुपभोगेन प्रक्षयाल्लीनसर्वजगत्का माया चेतने ईश्वरे लीयते। लयश्चायं पुन:प्रादुर्भावफलको नात्यन्तिको नाश:, उत्तरसर्गानुपपत्ते:। नापि सर्वथाऽभानम्, प्रतिभासमात्रशरीरस्य मिथ्यावस्तुनोऽनवभासे तदभावस्यैवापत्ते:, किन्तु सुप्तेव तिष्ठति, कार्यप्रवृत्त्यभावात्। स्वप्रतिष्ठेश्वर—प्रकाशस्यात्यन्तनिर्विकल्पकतया तद्बलाद् भासमानाप्यभातप्रायैव। ततोऽपरिपक्वप्राणिकर्मभि: कालवशात् प्राप्तपरिपाकै: स्वफलप्रदानाय भगवतोऽबुद्धिपूर्विका सृष्टिर्मायापुरुषौ प्रादुर्भवत:। तत: परमेश्वरस्य सिसृक्षात्मिका मायावृत्तिर्जायते। ततो बिन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुणं जायते। इदमेव शक्तितत्त्वम्। तस्य बिन्दोरचिदंशो बीजम्, चिदचिन्मिश्रोंऽशो **नाद:**। चिदंशो बिन्दुरिति। अचिच्छब्देन शब्दार्थोभयसंस्काररूपाऽविद्योच्यते।

अस्माद् बिन्दो: शब्दब्रह्मापरनामधेयम्, वर्णादिविशेषरहितम्, ज्ञानप्रधानम्, सृष्ट्युपयोग्यवस्थाविशेषरूपम्, चेतनमिश्रम्, नादमात्रमुत्पद्यते। एतज्जगदुपादानमेव 'रव-परा' आदिशब्दैर्व्यवह्रियते—

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुतिसम्पन्न: शब्दब्रह्मेति गीयते।।

(प्र०सा० तं०- प० १, श्लो० ४३) इत्युक्ते: ।

एतत् सर्वगतमपि प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते। ज्ञातमर्थं

**— ध्यान-आराधना-भजन आदि से नमस्कार ही ध्वनित होता है। अत: ग्रन्थकार द्वारा यहाँ नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया गया है।

विवक्षोः पुंस इच्छया जातेन प्रयत्नेन योग एव मूलाधारस्थपवनसंस्कारः, तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दम् 'परा वाग्' इत्युच्यते।''

(वै०सि०ल०म०–शक्त्याश्रयनिरूपणम्, पृ० १४१-१४३)।

''तत्र मध्यमायां यो नादांशः (चेतनः) तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतिः। स च यद्यपि एकोऽखण्ड एकैकवर्णेनाप्यभिव्यज्यते, तथापि अन्त्यवर्णाभिव्यक्तो बोधहेतुः। अतो नैकवर्णजाभिव्यक्त्युत्तरम् अर्थप्रत्ययः।.............. येन क्रमेण च चित्ते संस्कारास्तेनैव क्रमेण व्यञ्जकरूपरूषितता तस्येति स्वीकारान्न 'सरो रसः' इत्यनयोरविशेषः।''

(वै०सि०ल०म०–शक्त्याश्रयनिरूपणम्, पृ० १५१)।

इसके अनुसार जननेन्द्रिय-पुरीषेन्द्रिय के मध्य स्थित मूलाधारचक्र में अर्थप्रकाशनार्थ पुरुषेच्छा से किए गए संयोग=पवनसंस्कार के द्वारा जो शब्दब्रह्म अभिव्यक्त होता है, उसे परा वाणी, नाभि में अभिव्यक्त शब्दब्रह्म को पश्यन्ती वाणी, हृदयदेश में अभिव्यक्त को मध्यमा वाणी तथा मुख में अभिव्यक्त होने वाले शब्दब्रह्म = नाद को वैखरी वाणी कहते हैं। शारदातिलक में परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद तथा नाद से बिन्दु का उद्भव माना गया है–

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः।। (शा० ति० १/७)।

२. कलापव्याकरणं तद्विवरणं च

यथा—

शङ्करस्य मुखाद् वाक्यं श्रुत्वा चैव षडाननः।
लिलेख शिखिनः पुच्छे कलापमिति कथ्यते।।

[हिन्दी-अनुवाद] 'कलाप' नाम का स्पष्टीकरण

स्वामिकार्त्तिकेय ने भगवान् शङ्कर के मुख से वाक्य=व्याकरणशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्तों को सुनकर उन्हें अपने वाहन मयूर के पिच्छ, पुच्छ या पङ्ख पर लिखा था, इसलिये इस व्याकरण को कलाप, (कालाप, कलापक या कालापक) कहते हैं।

२. गान्धर्वव्याकरणं तद्विवरणं च

यथा–

गन्धर्वसम्बन्धि यत् तद् गान्धर्वम्। व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते साधुशब्दा अनेनेति व्याकरणम्। अर्थात् शब्दव्युत्पादकशास्त्रम्।

[हिन्दी-अनुवाद] गान्धर्व नाम का स्पष्टीकरण

गन्धर्वसम्बन्धी सङ्गीतशास्त्र को गान्धर्वशास्त्र या गान्धर्ववेद कहते हैं। जिससे साधुशब्दों का व्युत्पादन किया जाता है, वह शब्दव्युत्पादक शास्त्र व्याकरण है। (कलापव्याकरण-सूत्रों के आधार पर बनाये गये सङ्गीतशास्त्र को यहाँ गान्धर्वकलापव्याकरण नाम दिया गया है) ।

टिप्पणी- ३

संस्कृतसाहित्य में १, ४, १४ तथा १८ तक विद्याएँ मानी गई हैं। १८ विद्याओं के अन्तर्गत गान्धर्ववेद=सङ्गीतशास्त्र को भी एक स्वतन्त्रविद्या के रूप में स्वीकार किया गया है। १८ विद्याओं में ४ वेद, ६ वेदाङ्ग, पुराण-न्याय-धर्मशास्त्र-मीमांसा-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद-अर्थशास्त्र या शिल्पशास्त्र की गणना की जाती है।

३. कलापे वर्णलक्षणम्

यथा-

अकारादिहकारान्ता वर्णमाला प्रकीर्तिता।
सिद्धो वर्णसमाम्नायः (१/१/१) ।

(दुर्गवृत्तिः)

सिद्धः खलु वर्णानां समाम्नायो वेदितव्यः, न पुनरन्यथोपदेष्टव्य इत्यर्थः। सिद्धशब्दोऽत्र नित्यार्थो निष्पन्नार्थः प्रसिद्धार्थो वा। यथा—सिद्धमाकाशम्, सिद्धमन्नम्, काम्पिल्लः सिद्ध इति। वर्णा अकारादयः, तेषां समाम्नायः पाठक्रमः।
(व्याख्याकारों ने काम्पिल्ल शब्द के दो अर्थ किए हैं—१. उत्तरदेशीय पर्वतीय क्षेत्र में बहने वाली कम्पिला नदी से सम्बद्ध भूभाग तथा २. विक्रमादित्य के मङ्गल हाथी का नाम) ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में वर्णसमाम्नाय

संस्करण - भेद से कातन्त्रव्याकरण में 'अ' से लेकर 'क्ष्' तक ४८, ४९, ५०, ५२ तथा ५३ वर्ण भी पढ़े गये हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। प्लुत, जिह्वामूलीय (X), उपध्मानीय (ꣴ) । क, ख, ग, घ, ङ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व । श, ष, स, ह, क्ष। अकार से हकार तक वर्णों की मान्यता होने पर ५२ वर्ण ही कहे जा सकते हैं, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि भगवत्पाद

शङ्कराचार्य ने अन्नपूर्णास्तोत्र में **'आदिक्षान्तसमस्तवर्णनिकरी'** (श्लो० ७) कहकर अकार से क्षकारपर्यन्त वर्णों की भी मान्यता को स्वीकार किया है। प्रयोगरत्नमालाव्याकरण में पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने भी अकारादिक्षकारान्त वर्णसमाम्नाय पढ़ा है। इस प्रकार कातन्त्रव्याकरण में ५३ वर्ण माने जाने चाहिये। लोकव्यवहार में प्रसिद्ध वर्ण तथा उनके क्रमपाठ अर्थात् वर्णसमाम्नाय का कलाप में सूत्र है-सिद्धो वर्णसमाम्नाय: (१/१/१)। आचार्य दुर्गसिंहकृत वृत्ति के अनुसार कलाप या कातन्त्रव्याकरण में लोकप्रसिद्ध ही वर्णसमाम्नाय मान्य है। अत: लोकव्यवहार के विपरीत वर्णसमाम्नाय का उपदेश नहीं करना चाहिये। सूत्रपठित 'सिद्ध' शब्द के तीन अर्थ होते हैं—१. नित्य। जैसे-आकाश सिद्ध=नित्य है । २. निष्पन्न। जैसे-अन्न सिद्ध=पककर तैयार हो गया। ३. प्रसिद्ध। जैसे काम्पिल्ल देश सिद्ध=प्रसिद्ध है। यहाँ इन तीन अर्थों में से प्रसिद्ध अर्थ ही ग्राह्य है। 'अ' आदि वर्ण हैं, उनके मान्य क्रमिक पाठ को ही वर्णसमाम्नाय कहते हैं।

टिप्पणी-४

स्वीकृत वर्णों के क्रमबद्ध पाठ को **वर्णसमाम्नाय** कहते हैं। प्रत्येक व्याकरण में एक वर्णसमाम्नाय अधिकृत होता है। शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह करने के लिये वर्णों की आवश्यकता होती है। कण्ठ-ताल्वादि स्थानों में क्रमश: अभिव्यक्त होने वाली या जिसके उच्चारणार्थ स्वतन्त्र प्रयत्न किया जाता है, उस ध्वनि को वर्ण कहते हैं-**''पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्यं हि वर्णमिच्छन्त्याचार्या:''** (का०वृ०-''ऐ औच्''-मा०सू०-४)। ऋक्तन्त्र के अनुसार वर्णसमाम्नाय के उपदेश की परम्परा इस प्रकार है-सर्वप्रथम इसका उपदेश ब्रह्मा ने बृहस्पति को, तदनन्तर बृहस्पति ने देवराज इन्द्र को, इन्द्र ने ऋषि भरद्वाज को, भरद्वाज ने अन्य ऋषियों को तथा ऋषियों ने ब्राह्मणों को इसका उपदेश किया था। अत: इन्हीं को वर्णसमाम्नाय का प्रवक्ता माना जा सकता है- **''ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्य:, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते''** (ऋ०त० १/४)। पूर्वाचार्य अक्षर और वर्ण को पर्याय (एकार्थक) भी मानते थे। एक मान्यता के अनुसार स्वरों को तथा स्वरसंयुक्त व्यञ्जनों को अक्षर कहते थे एवं स्वरहीन व्यञ्जनों को वर्ण कहा जाता था। वर्ण या अक्षर वाणी के विषय होते हैं। अत: वर्णसमाम्नाय को अक्षरसमाम्नाय एवं वाक्समाम्नाय भी कहते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'अक्षर' शब्द की व्याख्या करते हुये कहा है कि जिसका कभी क्षय या क्षरण नहीं होता, उसे 'अक्षर' कहते हैं। इसी अक्षर के लिये पूर्वाचार्यों ने वर्णशब्द का भी व्यवहार किया है—

अक्षरं न क्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्।
वर्णं वाऽऽहुः पूर्वसूत्रे .... ।।

(म०भा०-प्रत्याहाराह्निक) ।

व्याकरण की दो धाराएँ या परम्पराएँ देखी जाती हैं-१. माहेश्वरपरम्परा तथा २. माहेन्द्रपरम्परा। माहेश्वरपरम्परा का प्रमुख व्याकरण शालातुरीय पाणिनि द्वारा प्राय: चार सहस्र सूत्रों में रचित अष्टाध्यायी नामक व्याकरण है। इस व्याकरण का वर्णसमाम्नाय १४ माहेश्वरसूत्रों पर आधारित है। तदनुसार ९ अच् तथा ३३ हल्=कुल ४२ वर्ण माने जाते हैं। यह पाठक्रम अत्यन्त कृत्रिम है, जो लोकप्रसिद्ध वर्णसमाम्नाय से मेल नहीं खाता। जैसे-'ए, ओ, ऐ, औ। ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न' आदि। लोकव्यवहार के अनुसार 'ए ऐ ओ औ य र ल व' यही क्रम प्रचलित है। इसके अतिरिक्त वर्गीय वर्णों में सभी पञ्चम, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम वर्णों को एक साथ लगातार पढ़ा गया है। हकार का पाठ 'ह य व रट्' एवं 'हल्' इन दो सूत्रों में देखा जाता है। वस्तुतः वर्णों का यह अत्यन्त कृत्रिम पाठक्रम प्रत्याहारों के लिये किया गया है। वर्णसमाम्नाय में न पढ़े जाने से अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय को अयोगवाह कहा जाता है—**अयुक्ता: अपठिता: सन्तोऽपि ये कार्यं वहन्ति ते अयोगवाहा:।** १४ माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं–

१. अ इ उण्।
२. ऋ ऌक्।
३. ए ओङ्।
४. ऐ औच्।
५. ह य व रट्।
६. लण्।
७. ञ म ङ ण नम्।
८. झ भञ्।
९. घ ढ धष्।
१०. ज ब ग ड दश्।
११. ख फ छ ठ थ च ट तव्।
१२. क पय्।
१३. श ष सर्।
१४. हल्।

इस समय माहेन्द्रपरम्परा का एकमात्र व्याकरण कातन्त्र या कलाप ही

उपलब्ध है। इसके कश्मीरी संस्करण में जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा 'क्ष' वर्ण प्राय: नहीं देखे जाते। इनमें जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय वर्णों की अनुपलब्धि प्रामादिक हो सकती है, क्योंकि मूल सूत्रों में इनका उल्लेख हुआ है। इस प्रकार इस संस्करण में ४९ या ५१ ही वर्ण पठित हैं, जबकि वङ्गीय संस्करण में 'क्ष' वर्ण भी समादृत है। इसे संयोगसंज्ञक वर्णों से मिलकर बनने वाले वर्णों के (क्ष्, त्र्, ज्ञ्) निदर्शनार्थ यहाँ प्रस्तुत किया गया है। अत: इस संस्करण के अनुसार ५२ वर्ण ही मान्य हैं। अन्नपूर्णास्तोत्र में शङ्कराचार्य ने 'अ' से लेकर 'क्ष्' पर्यन्त वर्णों को स्वीकार किया है—"आदिक्षान्तसमस्तवर्णनिकरी शम्भोस्त्रिभावाकरी"। सम्भवत: कातन्त्रीय वर्णसमाम्नाय से प्रभावित होकर प्रयोगरत्नमाला नामक व्याकरण में पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने भी अकारादि-क्षकारान्त ही वर्णसमाम्नाय स्वीकार किया है। ये सभी वर्ण लोकव्यवहार में प्रसिद्ध पाठक्रम के ही अनुसार पढ़े गये हैं। इनमें १४ स्वर एवं ३४ व्यञ्जनों के साथ अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय का भी ग्रहण करते हैं। ये चारों वर्ण (अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय) स्वररूप तथा व्यञ्जनरूप उभयविध माने जाते हैं। वर्णसमाम्नाय में इनके पाठ से कलाप में इन्हें योगवाह के रूप में स्वीकार किया जाता है। कातन्त्ररूपमालाकार भावसेन 'अ' से 'ह' तक केवल ४७ वर्ण ही मानते हैं– **"अकारादि हकारान्तं सप्तचत्वारिंशद् वर्णा:"** (कात० रू० मा० १/१/१)। परन्तु सम्पादकीय टिप्पणी में ५३ वर्णों का परिगणन किया गया है—

१४ स्वर = अ से औ तक।
३४ व्यञ्जन = क् से क्ष् तक।
५ अन्य वर्ण = अनुस्वार, विसर्ग, प्लुत, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय।
योग-५३ वर्ण।

व्यञ्जनानि चतुस्त्रिंशत् स्वराश्चैव चतुर्दश।
अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च।।
गजकुम्भाकृतिर्वर्ण: प्लुतश्च परिकीर्तित:।
एवं वर्णास्त्रिपञ्चाशन्मातृकाया उदाहृता:।।

(कात०रू०मा० १/१/१)।

५३ वर्ण इस प्रकार हैं—'अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, अनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीय। क् ख् ग् घ् ङ्। च् छ् ज् झ् ञ्। ट् ठ् ड् ढ् ण्। त् थ् द् ध् न्। प् फ् ब् भ् म्। य् र् ल् व्। श् ष् स् ह् क्ष्, प्लुत।

अस्तु, कातन्त्र या कलाप व्याकरण के ४७, ४९, ५१, ५२ या ५३ वर्णों वाले पाठक्रम में अर्थकृत लाघव तथा पाणिनीय व्याकरण के ४२ वर्णों वाले पाठक्रम में शब्दकृत लाघव माना जा सकता है। यद्यपि ये दोनों ही वर्णसमाम्नाय बुधजनों द्वारा

समादृत हैं, तथापि कलापीय वर्णसमाम्नाय शास्त्र तथा लोक दोनों में ही उपादेय है, जबकि पाणिनीय वर्णसमाम्नाय केवल पाणिनीय शास्त्र के लिये ही उपयोगी है। अतः उपयोगिता-बाहुल्य की दृष्टि से कलाप व्याकरण के वर्णसमाम्नाय को ही प्रशस्त कहा जा सकता है। संहिता-शिक्षादिग्रन्थों में भी वर्णों की भिन्न-भिन्न संख्या देखी जाती है। जैसे-

अहिर्बुध्न्यसंहिता-अ० १६=१४ स्वर+३४ व्यञ्जन=४८ वर्ण ।
अहिर्बुध्न्यसंहिता- अ० १७=१७ स्वर+३४ व्यञ्जन=५१ वर्ण ।
यजुःप्रातिशाख्य-२३ स्वर+४२ व्यञ्जन=६५ वर्ण ।
पाणिनीय शिक्षा-६३ या ६४ वर्ण ।
वैदिकाभरण-५९ वर्ण ।
वशिष्ठशिक्षा-६८ वर्ण ।
बौद्धतन्त्र-५० वर्ण ।
नित्याषोडशिकार्णव-१६ वर्ण ।

वर्णों के उच्चारणस्थान, प्रयत्न तथा करणों का साङ्गोपाङ्ग विचार शिक्षाग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने तो २७ कारिकाओं में माहेश्वरसूत्रपठित ४२ वर्णों का क्रम तथा सृष्टितत्त्व के रूप में उनके अर्थ पर भी विचार किया है। जिसमें 'अ' को निर्गुण ब्रह्म, 'इ' को उनकी विशिष्ट शक्ति माया तथा 'उ' को सगुण ब्रह्म के रूप में बताया गया है। यह उकार ही 'ऋ-ऌ' इन दो की सहायता से 'ए ओ ऐ औ' आदि वर्णों की निष्पत्ति करता है। इनमें हकारादि पाँच वर्ण ५ महाभूत, ञकारादि पाँच वर्ण ५ तन्मात्राएँ, झकारादि पाँच वर्ण ५ कर्मेन्द्रियाँ, जकारादि पाँच वर्ण ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, खकारादि पाँच वर्ण ५ प्राण, चकारादि तीन वर्ण 'मन-बुद्धि-अहंकार', 'क-प' दो वर्ण प्रकृति-पुरुष, शकारादि तीन वर्ण तीन गुण तथा 'ह' शिव के रूप में व्याख्यात है। यतः 'अहम्' तत्त्व से ही समस्त जगत् की सृष्टि होती है। अतः 'अ' से 'ह' तक वर्णों की विशेष सङ्गति सिद्ध की जाती है, क्योंकि आदिवर्ण 'अ' तथा अन्त्य वर्ण 'ह' के ही संयोग से 'अहम्' निष्पन्न होता है। शम्भु या महेश्वर के मत में तो वर्णों की यही मान्यता सिद्ध है—

अकारादि हकारान्तं वर्णाः शम्भुमते मताः।

नन्दिकेश्वरकाशिका के अनुसार वर्णों की सृष्टि और उनकी सृष्टितत्त्व के रूप में मान्यता संक्षेप में इस प्रकार है—

१. अ=निर्गुण ब्रह्म, प्रथम वर्ण।
२. इ=चित्कला माया या गायत्री।
३. उ=व्यापक, सगुण ईश्वर।
४. ऋ=सर्वेश्वर।
५. ऌ=मायाख्य मनोवृत्ति।
६. ए=जन्यजनक का सम्मिलित रूप प्रज्ञानात्मा।

७. ओ=सगुण-निर्गुण का सम्मिलित रूप प्रज्ञानात्मा।

८. ऐ=मायाशक्तिसंवलित प्रज्ञानात्मा।

९. औ=ब्रह्मरूप।

पाणिनीय व्याकरण में ये ही ९ स्वर (अच्) वर्ण हैं। सवर्णसंज्ञा के बल पर दीर्घ-प्लुत वर्णों का भी बोध होता है। सामान्यतया स्वर वर्णों के ह्रस्व-दीर्घ भेद लोकव्यवहार में प्रचलित हैं। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में स्वरों की संख्या १३ मानी जाती है, क्योंकि 'ऌ' दीर्घ नहीं होता तथा 'ए, ऐ, ओ, औ' ह्रस्व नहीं होते। जैसे-'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ'। त्रयोदशात्मक स्वरचक्र 'शिव-शक्ति' का सम्मिलित रूप है, जबकि चतुर्दशात्मक स्वरचक्र शिवरूप एवं शक्तिमन्त्र के रूप में माना जाता है। महामन्त्रतत्त्वप्रकाशिनी के अनुसार स्वरचक्र चतुर्दशवर्णात्मक ही स्वीकार किया गया है (द्र०-न०का०-विमर्शिनी)।

१०-१४=ह, य, व, र, ल = आकाश, वायु, वह्नि (तेज), जल तथा पृथिवी।

१५-१९=ञ, म, ङ, ण, न=शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध।

२०-२४=झ, भ, घ, ढ, ध=वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थरूप कर्मेन्द्रियाँ।

२५-२९=ज, ब, ग, ड, द=श्रोतृ, त्वक्, चक्षु, घ्राण, जिह्वारूप ज्ञानेन्द्रियाँ।

३०-३४=ख, फ, छ, ठ, थ=प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप पञ्च प्राण।

३५-३७=च, ट, त=मन, बुद्धि तथा अहंकार अन्तःकरण ।

३८-३९=क, प=प्रकृति तथा पुरुष।

४०-४२=श, ष, स=रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुण।

४३.— ह=तत्त्वातीत, साक्षी, सर्वानुग्रहनिग्रहरूप सदाशिव।

वर्णों में वर्णैकदेश

जैसे वाक्य में पदों का, पद में वर्णों का विभाग होता है, उसी प्रकार वर्णों में वर्णावयवों का विभाग नहीं किया जाता है। महाभाष्य में यह विचार किया गया है कि जैसे कोई वृक्ष हिलता है तो अपने शाखा-पत्रादिरूप अवयवों के साथ ही हिलता है। इस प्रकार समुदाय से अवयवों का ग्रहण होने के कारण आकारादि दीर्घ वर्णों में विद्यमान ह्रस्व अकारादिरूप वर्णैकदेशों में, ऋकारगत रेफ, ऌकारगत लकार, एकारगत अकार-इकार, ओकारगत अकार-उकार, ऐकारगत अकार-एकार तथा औकारगत अकार-ओकाररूप वर्णैकदेशों में भी वे सभी कार्य होने चाहिये, जो वर्णों में विहित हैं, परन्तु एकत्वालम्बनज्ञानग्राह्यरूप समुदाय में विहित कार्य अवयव में प्रवृत्त नहीं होता है, इस सिद्धान्त के आधार पर वर्णों में वर्णैकदेश नहीं माने जाते—

''इदं विचार्यते-य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतयः, एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद् वा न वेति। .....नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु''

(द्र०, म०भा०-प्रत्याहाराह्निक)।

दूसरे समाधान के अनुसार वर्णैकदेश को वर्ण की छाया का अनुसरण करने वाला कहा जाता है। अतः वस्तुतः यह वर्ण नहीं होता। स्वतन्त्र प्रयत्न से निष्पन्न होने वाली ध्वनि को वर्ण कहते हैं, इसलिये भी वर्णैकदेश कभी वर्ण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। एक विचार के अनुसार जिस प्रकार वर्णों में वर्णावयव नहीं माने जाते, उसी प्रकार पदों में वर्णों को भी स्वीकार नहीं किया जाता—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।

(वै०भू०सा०-स्फोटप्रकरण)।

वर्णों का अर्थवत्त्व तथा अनर्थकत्व

धातु-प्रातिपदिक-प्रत्यय-निपातों में विद्यमान एक-एक वर्ण का अर्थ देखे जाने, वर्ण के बदल जाने पर अर्थ के भी बदल जाने, वर्ण की उपलब्धि न होने पर अर्थ की भी उपलब्धि न होने तथा संघात के अर्थवान् होने से वर्णों को अर्थवान् मानना पड़ता है। इसके विपरीत सभी शब्दों में विद्यमान प्रत्येक वर्ण का स्वतन्त्र अर्थ न होने एवं वर्णों में व्यत्यय-अपाय-उपजन-विकार हो जाने पर भी अर्थ के उपलब्ध होने से वर्णों को अनर्थक भी कहना पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति में यही निर्णय किया जाता है कि दोनों ही पक्ष मान्य हैं। अर्थात् धातु-प्रातिपदिक-प्रत्यय-निपातों में विद्यमान वर्ण तो अर्थवान् होते हैं, इनसे अन्यत्र वर्ण अर्थवान् नहीं होते। इसमें लोकव्यवहार को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लोक में देखा जाता है कि समानरूप में इच्छा करने वाले तथा समानरूप में अध्ययन करने वाले उद्यमशील विद्यार्थियों में कुछ को तो सफलता मिल जाती है, शेष असफल रहते हैं- **''समानमीहमानानामधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न''** (म०भा-आह्निक-२)।

वर्णोपदेश के प्रयोजन

वर्णसमाम्नाय के रूप में वर्णोपदेश के तीन प्रमुख प्रयोजन स्वीकार किये जाते हैं-१. व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह। २. कलादिदोषरहित वर्णज्ञान तथा ३. अनुबन्धकरण। पाणिनीय व्याकरण में प्रत्याहारनिर्माण भी एक प्रयोजन मानना पड़ता है। शब्दों का ज्ञान करने के लिये सरलतम और लघु उपाय है-वर्णज्ञान। अतः लाघव को भी वर्णोपदेश का एक प्रयोजन स्वीकार किया जाता है—

''अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः? वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः। अथ कः समवायः? वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः। .... अनुबन्धकरणार्थश्च.......... न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम्। इष्टबुद्ध्यर्थश्च। .... न ह्यनुपदिश्य वर्णान् इष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम्''

(म०भा०-पस्पशाह्निक)।

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते।।

(म०भा०-आह्निक-२)।

'पचति-रामः' इत्यादि में तिप्-विसर्ग आदि को वाचक माना जाता है, इनसे स्मृत 'ल-सु' आदि को नहीं, क्योंकि श्रूयमाण तिप्-आदि में ही शक्तिग्राहकता होती है, उनसे स्मृत किये जाने वाले 'ल, सु' आदि में नहीं। सम्बद्ध वचन द्रष्टव्य है—

"साधुशब्देऽन्तर्गता हि बोधका न तु तत्स्मृताः"।

(वै०भू०सा०-स्फोट०, का० १)।

इस प्रकार आदेशरूप वर्णों के वाचक होने से ही वर्णों को स्फोट भी माना जाता है, अथ च पदस्फोट के भी माने जाने में आदेशात्मक वर्णसमुदाय को ही कारण निश्चित किया गया है। अखण्ड पदस्फोट तथा अखण्ड वाक्यस्फोट के पक्ष में वर्णान्तर्गत वर्णावयव एवं पदान्तर्गत वर्ण स्वतन्त्ररूप में स्वीकार नहीं किये जाते।

वर्णज्ञान से प्राप्तव्य विविध फल

वर्णसमाम्नाय, अक्षरसमाम्नाय तथा वाक्समाम्नाय शब्द का व्यवहार एक ही अर्थ में किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार वाक्समाम्नाय शब्दशास्त्र के ज्ञान से पुष्पित तथा शब्दों के समुचित प्रयोग से फलित होता है। अनादिकाल से सिद्ध चन्द्र-तारकाओं के समान यह सुशोभित ब्रह्मराशि है। इसके ज्ञान से समस्त वेदों के अध्ययन का पुण्य प्राप्त होता है और ज्ञाता के माता-पिता स्वर्गलोक में पूजनीय होते हैं—

"सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते" (म०भा०-आह्निक-२ के अन्त में)।

वर्ण, अक्षर, प्रकृति (प्रातिपदिक = लिङ्ग, धातु), प्रत्यय (स्यादि, त्यादि, कृत्, तद्धित) पद तथा अर्थ में से उत्तरोत्तर के ज्ञान से क्रमशः अधिक पुण्यलाभ बताया गया है। वाजसनेयिप्रातिशाख्य के भाष्य में आचार्य उव्वट ने वैदिक पदार्थज्ञान को मुक्ति का साधक कहते हुये वेदों के पाठ-शिष्यसम्प्रदान-श्रवण-वर्णपरिज्ञान आदि के उत्तरोत्तर ज्ञान से होने वाले स्वर्ग-यश-आयुष्य-धर्मलाभरूप फल का निर्देश किया है—

"पदार्थज्ञानं तन्मुक्तिसाधकम्। यत् प्रकृतिप्रत्ययादिपरिज्ञानं तत् स्वर्ग-यश आयुषां साधकम् इत्ययं विभागो ज्ञानस्य द्रष्टव्यः।

वेदस्याध्ययनाद् धर्मः सम्प्रदानात् तथा श्रुतेः।
वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोऽपि च।।

अथापि भवति,

त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विचत्वारिंशद् व्यञ्जनान्येतावान् वर्णसंग्रहः।।

अयमेवार्थः–प्रकृत्या वेदस्य पाठमात्रात् तावद् धर्मो भवति तथा शिष्येभ्यः सम्प्रदानात् तथा श्रवणात् तथा वर्णपरिज्ञानात्, तथाऽक्षरपरिज्ञानात्, विभक्तिपरिज्ञानाच्च पदपरिज्ञानाच्चोत्तरोत्तरं धर्मो भवतीत्येतदेवानुवर्तते" (वाज०प्रा०-उ०भा० ८/२९-३४)।

विशेष–

ग्रन्थकार शौरीन्द्रमोहन ठाकुर द्वारा कलापीय वर्णमाला को अकारादिहकारान्त कहना चिन्त्य है।

३. गान्धर्वे शब्दलक्षणम्

शब्दस्त्वाकाशवृत्तिगुणविशेषः । यथा–
आकाशाज्जायते शब्दो वायुः शब्दप्रकाशकः।

स तु द्विविधः। यथा—वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्चेति। वर्णात्मकास्ते कादयो मताः, ध्वन्यात्मकास्ते षड्जादयो मताः। तथा च भाषापरिच्छेदे—

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः।
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः।। इत्यादि।

[हिन्दी-अनुवाद]

व्याकरणशास्त्र शब्दों का व्युत्पादन करता है। शब्द आकाश में रहते हैं। अतः वे आकाश के गुण हैं। जैसे कहा गया है कि शब्द आकाश से उत्पन्न होता है और वायु उसे प्रकाशित करता है। यह शब्द दो प्रकार का होता है। वर्णात्मक शब्द तो 'क' आदि तथा ध्वन्यात्मक शब्द षड्ज आदि माने गये हैं। भाषापरिच्छेद नामक ग्रन्थ में इसका स्पष्टीकरण इस रूप में किया गया है–मृदङ्ग आदि वाद्यों से निकलने वाली ध्वनि ही ध्वन्यात्मक शब्द तथा कण्ठ आदि स्थानों से अभिव्यक्त वर्ण ही वर्णात्मक शब्द हैं।

४. कलापे स्वरसंज्ञा

तत्र चतुर्दशादौ स्वराः (१/१/२)।

(दुर्गवृत्तिः)

तस्मिन् वर्णसमाम्नायविषये आदौ ये चतुर्दश वर्णास्ते स्वरसञ्ज्ञा भवन्ति। यथा-अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ।

[पाठा० -यथानुकरणे ह्रस्वऌकारोऽस्ति तथा दीर्घोऽप्यस्तीति मतम्] (दु०वृ० १/१/२१)।

स्वरः स्वयं राजते हि।

स्वरप्रदेशाः-"स्वरोऽवर्णवर्ज्जो नामी" (कात० १/१/७) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में स्वरसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

कलापव्याकरण के वर्णसमाम्नाय में पठित प्रारम्भिक अकारादि १४ वर्णों की स्वर सञ्ज्ञा होती है। स्वरसञ्ज्ञक वर्ण-'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ'। जिसके उच्चारण में दूसरे वर्ण की अपेक्षा नहीं होती, अर्थात् जिसका उच्चारण स्वतन्त्र रूप में होता है, उसे स्वर कहते हैं। स्वरसंज्ञा के विधिसूत्र हैं-"**स्वरोऽवर्णवर्जो नामी**" (१/१/७) इत्यादि।

टिप्पणी-५

१. वर्णसमाम्नाय के प्रारम्भिक १४ वर्णों की स्वरसंज्ञा कलापव्याकरण में होती है-'अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ'। स्वर शब्द का अर्थ है-जो स्वयं उच्चरित या प्रकाशित हो, जिसके उच्चारण में दूसरे की अपेक्षा नहीं होती-"**स्वयं राजन्त इति स्वराः, एकाकिनोऽप्यर्थप्रतिपादने समर्थाः**" (कात० वृ०टी० १/१/२)। लोक में इन वर्णों के लिये स्वरसंज्ञा का व्यवहार होता है। इस प्रकार कलापव्याकरण की यह संज्ञा अन्वर्थ है।

पाणिनि ने इसके लिये 'अच्' संज्ञा का व्यवहार किया है और उनकी अच्-संज्ञा में केवल ९ ही वर्ण पढ़े गये हैं-'अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ'। दीर्घ का बोध सवर्णसंज्ञा के बल पर होता है। पाणिनि की यह अच्-संज्ञा उनकी यादृच्छिकी प्रवृत्ति की द्योतक है। यह संज्ञा किसी भी प्रकार अन्वर्थ नहीं कही जा सकती। कलापव्याकरण में 'ऌ' वर्ण को दीर्घ भी माना गया है, जबकि पाणिनीय व्याकरण में यह दीर्घ नहीं है।

२. इन वर्णों के लिये अक्षर तथा वर्णसंज्ञा का भी व्यवहार किया जाता है। ऋक्प्रातिशाख्य (१८/३२) आदि में कहा गया है-"**सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्**"। वाजसनेयिप्रातिशाख्य में (१/९९-१०१)-"**स्वरोऽक्षरम्, सहाद्यैर्व्यञ्जनैः, उत्तरैश्चावसितैः।**"

३. दूसरों की अपेक्षा न रखने वाले सामर्थ्यसम्पन्न पुरुष भी स्वर कहे जा सकते हैं, परन्तु जो सामर्थ्यहीन होने के कारण दूसरों के साहाय्य की अपेक्षा रखते हैं, वे व्यञ्जनवत् आचरण करने के कारण व्यञ्जन कहे जाते हैं-

एकाकिनोऽपि राजन्ते सत्त्वसाराः स्वरा इव।
व्यञ्जनानीव निःसत्त्वाः परेषामनुयायिनः।।

(द्र०—टे०ट०टे०, पृ० १८६)।

४. इस संज्ञा के प्रदेश (प्रयोगसूत्र) हैं—"स्वरोऽवर्णवर्जो नामी" (१/१/७) आदि। प्रदेश=जिसमें प्रयोजन कहे जाते हैं-"प्रदिश्यन्ते कथ्यन्ते प्रयोजनानि यत्र स प्रदेशः।

५. स्वर के ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-उदात्त-अनुदात्त-स्वरित-अनुनासिक-निरनुनासिक भेद से १८ भेद माने जाते हैं। सन्ध्यक्षर वर्णों (ए ऐ ओ औ) का ह्रस्व भेद नहीं होता, अतः उनमें से प्रत्येक के १२ भेद होते हैं-अ=१८, इ=१८, उ = १८, ऋ=१८, ऌ=१८, ए=१२, ऐ=१२, ओ=१२, औ=१२। कुल = १३८ भेद।

६. स्वरों का दीर्घ, गुण, वृद्धि, अयादि सन्धियों में विशेष उपयोग होता है। पाँच सन्धियों में स्वरसन्धि का विशेष महत्त्व है। पाँच सन्धियाँ इस प्रकार हैं—

स्वरसन्धिर्व्यञ्जनसन्धिः प्रकृतिसन्धिस्तथैव च।
अनुस्वारो विसर्गश्च सन्धिः स्यात् पञ्चलक्षणः।।

७. कातन्त्रव्याकरण में स्वरसंज्ञक १४ वर्णों में से 'ए ऐ ओ औ' इन चार वर्णों को छोड़कर शेष १० वर्णों की समानसंज्ञा, समानसंज्ञक १० वर्णों में से २-२ वर्णों की सवर्ण संज्ञा, सवर्णसंज्ञक वर्णों में से पूर्ववर्ती वर्णों की ह्रस्व, परवर्ती वर्णों की दीर्घ, स्वरसंज्ञक १४ वर्णों में से अ-आ को छोड़कर शेष १२ वर्णों की नामी तथा 'ए-ऐ-ओ-औ' इन ४ वर्णों की सन्ध्यक्षरसंज्ञा की गई है। पाणिनि ने सवर्ण को छोड़कर अचों की अन्य कोई संज्ञा नहीं की है।

८. वैदिक शब्दों में जो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर की योजना की जाती है, उन्हें वहाँ स्वर इसीलिये कहते हैं कि उनकी प्रवृत्ति स्वरसंज्ञक वर्णों में ही होती है, 'क्-ख्' आदि व्यञ्जनों में नहीं।

सङ्गीतविशेषज्ञ स्वर को ईश्वर या नादरूप मानकर उसकी उपासना करते हैं।

४. गान्धर्वे स्वरसंज्ञा

षड्जादिनिषादान्ता स्वरमाला प्रकीर्तिता।

***शारीरं नादसम्भूतिः स्थानानि श्रुतयस्तथा तत्र च सप्तस्वराः (१/१/१,२)**। तत्र षड्जादयः सप्त स्वराः सम्यक् प्रभेदतः। तत्र स्वरप्रस्तावविषये सम्यक् प्रभेदयुक्ताः षड्जादयो ये सप्त ते सङ्गीते स्वरसञ्ज्ञा भवन्ति। यथा-षड्जः, ऋषभः, गान्धारः, मध्यमः, पञ्चमः, धैवतः, निषादः।

स्वयं यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः।

****षड्जर्षभगान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा।**

---

* सं०र०-अ० १, प्र० १, श्लो० ३१, ३२ (ततः शुद्धाः स्वराः सप्त)।

** श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः। पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते।।२३। तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः।।२४। (सं०र०-अ०१, प्र० ३, श्लो० २३-२४)।

धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः।।

यथा—स, ऋ (रि), ग, म, प, ध, नि (सप्तस्वराणां साङ्केतिकवर्णाः)। स्वरप्रदेशाः-"स्वराश्च विशेष्याः" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] गान्धर्व व्याकरण में स्वरसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

षड्ज से निषाद पर्यन्त को स्वर कहा गया है। इन्हें शारीर, नादसम्भूति, स्थान तथा श्रुति भी कहते हैं। सभी भेदों से युक्त षड्ज आदि सात की स्वरसंज्ञा होती है। सात स्वरों के नाम हैं-षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद। जो नाद स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित होता है, उसे स्वर कहते हैं। उक्त सात स्वरों के साङ्केतिक रूप हैं-स, ऋ, ग, म, प, ध, नि। "स्वराश्च विशेष्याः" इत्यादि सूत्रों में स्वरसञ्ज्ञा का प्रयोग हुआ है। श्रोता के चित्त को प्रसन्न करने वाला स्वर होता है-**'स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते'** (सं०र०-अ० १, प्र० ३, श्लो० २५)।

५. कलापे समानसंज्ञा

दश समानाः (१/१/३)।

(दुर्गवृत्तिः)

तस्मिन् वर्णसमाम्नायविषये आदौ ये दश वर्णास्ते समानसञ्ज्ञा भवन्ति। यथा-अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ। समानप्रदेशाः-"समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्" (१/२/१) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में समानसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

वर्णसमाम्नाय के प्रारम्भ में पठित दश वर्णों की समान सञ्ज्ञा होती है। समानसञ्ज्ञक वर्ण -'अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ'। "समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्" (१/२/१) इत्यादि सूत्रों में स्वरसञ्ज्ञा का प्रयोग हुआ है।

५. गान्धर्वे समानसंज्ञा

शुद्धाः समानाः (१/१/३)।

तस्मिन् स्वरप्रस्तावविषये ये ये शुद्धस्वरास्ते ते समानसंज्ञा भवन्ति। यथा— स, ऋ, ग, म, प, ध, नि। समानप्रदेशाः-"समानः सवर्णेन द्विप्रयोगे मिलित्वा पूर्वो व्यक्तोऽपरश्चाप्रकाशम्" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में समानसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

स्वरप्रस्ताव के विषय में जो शुद्ध स्वर माने गये हैं, उन्हीं की समान संज्ञा

होती है। समानसञ्ज्ञक स्वर हैं-स, ऋ, ग, म, प, ध, नि। "समानः सवर्णेन" इत्यादि सूत्रों में समानसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी— ६

समान परिमाण वाले १० वर्णों की यह समानसंज्ञा अन्वर्थ है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य में इसी अर्थ में आठ वर्णों की समानाक्षर संज्ञा की गई है-"अष्टौ समानाक्षराण्यादितः" (१/१)। इसमें ऌवर्ण को छोड़ दिया गया है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में ९ वर्णों की समानाक्षर संज्ञा मान्य है-"अथ नवादितः समानाक्षराणि" (१/३)। यहाँ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञक अ-इ-उ ये तीन वर्ण ही अभिप्रेत हैं। ऋक्तन्त्र (१/२) तथा नाट्यशास्त्र (१४/२०) में उन्हीं १० वर्णों की समानसंज्ञा निर्दिष्ट है, जिनकी कलापव्याकरण में व्याख्यात है। समान परिमाण का तात्पर्य है-ह्रस्वादि जो वर्ण उदात्त-अनुदात्त-समाहार (स्वरित)-सानुनासिक-निरनुनासिक भेदों से ६ प्रकार के मान्य हैं। कलापव्याकरण के वर्णसमाम्नाय में 'अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ' ये १० वर्ण ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक के ६-६ भेद ही होते हैं। पाणिनीय व्याकरण में इन वर्णों के बोधार्थ 'अक्' प्रत्याहार का व्यवहार होता है, जो सर्वथा कृत्रिम है।

सङ्गीतशास्त्र में समान परिमाण वाले शुद्ध स्वरों की समानसंज्ञा विहित है। अतः उसकी अन्वर्थता तथा व्याकरणशास्त्रीय मान्यता से समानता सिद्ध होती है।

६. कलापे सवर्णसञ्ज्ञा

तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ (१/१/४) ।

(दुर्गवृत्तिः)

तेषामेव दशानां यौ द्वौ द्वौ वर्णौ तावन्योऽन्यस्य सवर्णसञ्ज्ञकौ भवतः। यथा- अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ। [**पाठा०**-तेषांग्रहणं व्यक्त्यर्थम्। तेन ह्रस्वयोर्द्वयोर्दीर्घयोश्च सवर्णसंज्ञा सिद्धेति] । सवर्णप्रदेशाः-"समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्" (१/२/१) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में सवर्णसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

उक्त समानसंज्ञक १० वर्णों में से क्रमशः २-२ वर्णों की परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है। सवर्णसंज्ञक वर्ण—अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ, ॡ। "समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्" (१/२/१) इत्यादि सूत्र सवर्णसंज्ञा के उद्देश्यसूत्र हैं।

६. गान्धर्वे सवर्णसञ्ज्ञा

समानश्रुतयः सवर्णाः (१/१/४) ।

स्वरप्रस्तावविषये ये ये समानश्रुतिविशिष्टाः स्वरास्ते ते सवर्णसंज्ञा भवन्ति।

यथा—

स० ० ० ० म० ० ० ० प० ० ० ०	ऋ० ० ० ध० ० ०	ग० ० नि० ०

सवर्णप्रदेशा:-"समान: सवर्णेन द्विप्रयोगे मिलित्वा पूर्वो व्यक्तोऽपरश्चाप्रकाशम्" इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सवर्णसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

स्वरप्रकरण में समान श्रुति वाले स्वरों की सवर्णसंज्ञा होती है। जैसे षड्ज-मध्यम-पञ्चम (स-म-प) में प्रत्येक की चार चार श्रुतियाँ होती हैं। अत: इनकी परस्पर सवर्णसंज्ञा है। इसी प्रकार तीन श्रुतियों वाले 'ऋ-ध' की एवं दो श्रुतियों वाले 'ग-नि' स्वरों की परस्पर सवर्णसंज्ञा समझनी चाहिये। **"समानः सवर्णेन द्विप्रयोगे मिलित्वा पूर्वो व्यक्तोऽपरश्चाप्रकाशम्"** इत्यादि सवर्णसंज्ञा के उद्देश्य-सूत्र हैं।

टिप्पणी-७

कलाप और पाणिनीय दोनों ही व्याकरणों में सवर्णसंज्ञा का विधान है, परन्तु कलापव्याकरण में समानसंज्ञक १० वर्णों में से २-२ वर्णों की सवर्णसंज्ञा की गई है। वर्णसमाम्नाय के क्रम से ह्रस्व की दीर्घ वर्ण के साथ तो सवर्णसंज्ञा होती ही है, इसके अतिरिक्त ह्रस्व की ह्रस्व के साथ, दीर्घ की दीर्घ के साथ तथा दीर्घ की ह्रस्व के भी साथ सवर्णसंज्ञा सम्पन्न होती है—

ह्रस्वे ह्रस्वे ततो दीर्घे दीर्घे ह्रस्वे परस्परम्।
सवर्णत्वं विजानीयात् तेषां-ग्रहणहेतुना।।

यह कार्य सूत्रपठित 'तेषाम्' पद से ज्ञापित किया गया है। पाणिनीय व्याकरण में सवर्णसंज्ञा करने वाला सूत्र है-**"तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्"** (पा० १/१/९)। अर्थात् ताल्वादि स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न जिन वर्णों के तुल्य होते हैं, उनकी सवर्ण संज्ञा होती है। इसके अनुसार सवर्णसंज्ञा के परिज्ञानार्थ स्थान-प्रयत्नों का जानना नितान्त आवश्यक हो जाता है। केवल तुल्य स्थान वाले या केवल तुल्य प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्णसंज्ञा नहीं होती।

सवर्ण का अर्थ है-सदृश। अत: सदृश=तुल्य स्थान-प्रयत्न वाले वर्णों की की गई यह संज्ञा अन्वर्थ मानी जाती है। जैसा कि तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के त्रिभाष्यरत्न नामक भाष्य में कहा गया है-**"इयमन्वर्थसंज्ञा। सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते"** (१/३)।

ऋक्प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में भी यह संज्ञा की गई है। यथा–

ऋक्प्रातिशाख्य-स्थानप्रश्लेषोपदेशे स्वराणां ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ (१/५५)।
तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे (१/३)।
वाजसनेयिप्रातिशाख्य-समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः (१/४३)।
जैनेन्द्रव्याकरण-संस्थानक्रियं स्वम् (१/१/२)।
शाकटायनव्याकरण-स्वः स्थानस्यैक्ये (१/१/६)।
हेमचन्द्रव्याकरण-तुल्यास्यप्रयत्नः स्वः (१/१/१७)।
मुग्धबोधव्याकरण-अपोऽक् समो र्ण ऋ क् च, चपोदिताकानितार्णः (१/१/६,७)।

देवनन्दी, शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने सवर्ण के लिये सादृश्यवाची स्वशब्द का एवं बोपदेव ने सवर्ण के एकदेश 'र्ण' का ही व्यवहार किया है।

सङ्गीतशास्त्र में भी समान श्रुति वाले स्वरों की सवर्णसंज्ञा के विधान से उसकी अन्वर्थता सिद्ध होती है।

७. कलापे ह्रस्वसंज्ञा

पूर्वो ह्रस्वः (१/१/५)।

(दुर्गवृत्तिः)

द्वयोर्द्वयोः सवर्णसंज्ञयोर्यो यः पूर्वो वर्णः स स ह्रस्वसंज्ञो भवति। यथा-अ इ उ ऋ ऌ। ह्रस्वप्रदेशाः-"स्वरो ह्रस्वो नपुंसके" (२/४/५२) इत्येवमादयः।

[हिन्दी - अनुवाद] कलापव्याकरण में ह्रस्वसंज्ञाविधायक सूत्र

सवर्णसंज्ञक दो-दो वर्णों में से पूर्व-पूर्व वर्ण की ह्रस्वसंज्ञा होती है। ह्रस्वसञ्ज्ञक वर्ण-अ इ उ ऋ ऌ। "स्वरो ह्रस्वो नपुंसके" (२/४/५२) इत्यादि सूत्रों में ह्रस्व सञ्ज्ञा का प्रयोग हुआ है।

७. गान्धर्वे ह्रस्वसंज्ञा

एकमात्रो ह्रस्वः (१/१/५)।

एकमात्रोच्चारणकालो ह्रस्वसंज्ञो भवति। यथा—

I	I	I	I	I	I	I
स	ऋ	ग	म	प	ध	नि

ह्रस्वप्रदेशाः—"एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घौ" इत्येवमादयः। एकमात्रो भवेद् ह्रस्वः। मात्रैकातिरिक्तो गुरुः। एकमात्रातिरिक्तोच्चारणकालः सङ्गीते गुरुसंज्ञो भवति। यथा—

I̐	I̐	I̐
सा	सा	सा

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ह्रस्वसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

एकमात्रा वाले काल में उच्चरित होने वाले स्वर की ह्रस्व संज्ञा होती है। ह्रस्वसञ्ज्ञक स्वर—

I	I	I	I	I	I	I
स	ऋ	ग	म	प	ध	नि

"एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घौ" इत्यादि सूत्रों में ह्रस्व संज्ञा का उपयोग होता है। एकमात्रिक स्वर की ह्रस्व संज्ञा तथा एक मात्रा से अधिक स्वर की सङ्गीतशास्त्र में गुरुसंज्ञा होती है। जैसे— Ĭ सा Ĭ सा Ĭ सा

टिप्पणी-८

कोई भी स्वर न्यूनतः एकमात्रिक अवश्य होता है। इसी एकमात्रिक स्वर वर्ण की ह्रस्वसंज्ञा की गई है। ह्रसति-अल्पीभवति दीर्घाद्यपेक्षया इति ह्रस्वः। अतः इसे अन्वर्थ माना जाता है। कलापव्याकरण में उसके वर्णसमाम्नाय के अनुसार सवर्णसंज्ञक दो दो वर्णों (अ-आ, इ-ई, उ-ऊ, ऋ-ॠ, ऌ-ॡ) में से पूर्व वर्ण (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) की ह्रस्वसंज्ञा की गई है, जबकि पाणिनि का सूत्र है-"ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" (पा० १/२/२७)। अर्थात् एकमात्रिक वर्ण की ह्रस्वसंज्ञा होती है। इसके अनुसार शिक्षाशास्त्रीय वर्णोच्चारणसम्बन्धी नियम जानने के बाद ही इस संज्ञा का ज्ञान हो सकता है। पूर्वाचार्यों ने भी इस संज्ञा का प्रयोग किया है। यथा—

निरुक्त- अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (२/१७/१)। अयं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति (६/११/१)।

नि० भा०-आङ्पूर्वस्य हन्तेः स पुनरयमुपसर्गं निर्ह्रस्य ह्रस्वं कृत्वा अहिरुच्यते। (२/१७/१)।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान-ह्रस्वोऽभ्यासस्य, प्वादेर्ह्रस्वः (सू० ८०, ११३)।

गोपथब्राह्मण-ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओङ्कारोऽथर्ववेदे (१/१/२५)।

ऋक्प्रातिशाख्य-ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ताः स्वराणाम् (१/१७)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य-अमात्रस्वरो ह्रस्वः (१/५५)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य- ऋकारऌकारौ ह्रस्वौ, अकारश्च, तेन च समानकालस्वरः, अनुस्वारश्च (१/३१-३४)।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य- मतौ ह्रस्वः (३/१/९)।

ऋक्तन्त्र- अकालो ह्रस्वः (२/४/१०)।

इसके दो सूत्रों में ह्रस्व के लिये एकदेश 'स्व' शब्द का भी प्रयोग किया गया है-"स्पर्शः स्वे, भे स्वे मान्तस्थी" (२/३/५; ४/१/१०)।

नाट्यशास्त्र- य इमे स्वराश्चतुर्दश निर्दिष्टास्तत्र वै दश समानाः। पूर्वो ह्रस्वस्तेषां परश्च दीर्घो विधातव्यः, एकमात्रं भवेद् ह्रस्वम् (१४/२०; १६/१२३)।

कलाप से परवर्ती अधिकांश व्याकरणों में एकमात्रिक अच् की ह्रस्वसंज्ञा मानी गई है। जैसे-

चान्द्रव्याकरण- अत्र चावर्णो ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति त्रिधा भिन्नः, एकमात्रिको ह्रस्वः (वर्णसूत्र ३६, ४१)।

जैनेन्द्रव्याकरण-आकालोऽच् प्रदीपः (१/१/१)।

हैमशब्दानुशासन-एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः (१/१/५)।

मुग्धबोधव्याकरण- आवत् स्वर्घप्लु (सू० ५)।

इसमें एकदेश 'स्व' शब्द का ही व्यवहार किया गया है। लोकव्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि सज्जन पुरुषों का स्नेह प्रारम्भ में तो अल्प होता है तथा क्रमशः दीर्घ होता जाता है। इसके विपरीत दुर्जन पुरुषों का स्नेह प्रारम्भ में तो अधिक होता है, परन्तु वह क्रमशः क्षीण होता जाता है । किसी कवि ने कलापव्याकरण के इन ह्रस्व-दीर्घसंज्ञाविधायक सूत्रों को आधार मानकर ऐसा कहा भी है–

पूर्वो ह्रस्वः परो दीर्घः सतां स्नेहो निरन्तरम्।
असतां विपरीतस्तु पूर्वो दीर्घः परो लघुः।।

(द्र०, टे०टा०टे०, भा० १, पृ० १९२)।

तु० –नीतिशतक

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्।।

(श्लो० ६०)।

८. कलापे दीर्घसंज्ञा

परो दीर्घः (१/१/६)।

(दुर्गवृत्तिः)

द्वयोर्द्वयोः सवर्णसंज्ञयोर्यो यः परो वर्णः स स दीर्घसंज्ञो भवति। यथा–आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ। ह्रस्वो लघुर्दीर्घो गुरुरित्युच्चारणवशाद् गम्यते, तथा संयोगे सति ह्रस्वोऽपि गुरुः "गुरुमतोऽनृच्छः" (३/२/१९) इति वर्जनाच्च। दीर्घप्रदेशाः–"रो रे लोपं स्वरश्च पूर्वो दीर्घः" (१/५/१७) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में दीर्घसंज्ञाविधायक सूत्र

उपर्युक्त सवर्णसंज्ञक दो-दो वर्णों में परवर्ती वर्ण की दीर्घसंज्ञा होती है। दीर्घसंज्ञक वर्ण—आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ।

विशेष

ह्रस्व की लघु तथा दीर्घ की गुरु संज्ञा भी मानी जाती है। "गुरुमतोऽनृच्छः" (३/२/१९) सूत्र में 'ऋच्छ' धातु का निषेध करने के कारण संयोगसंज्ञक वर्ण के परवर्ती होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व की भी गुरुसंज्ञा सिद्ध होती है। "रो रे लोपं स्वरश्च पूर्वो दीर्घः" (१/५/१७) इत्यादि सूत्रों में दीर्घ संज्ञा का उपयोग होता है।

८. गान्धर्वे दीर्घसंज्ञा

द्विमात्रो दीर्घः (१/१/६)।

द्विमात्रोच्चारणकालो दीर्घसंज्ञो भवति। यथा—

II	II	II	II	II	II	II
स	ऋ	ग	म	प	ध	नि

दीर्घप्रदेशाः—"एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घौ" इत्येवमादयः। द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में दीर्घसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

द्विमात्रिक काल में उच्चरित स्वर की दीर्घ संज्ञा होती है। दीर्घसंज्ञक स्वर—

II	II	II	II	II	II	II
स	ऋ	ग	म	प	ध	नि

"एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घौ" इत्यादि सूत्रों में दीर्घसंज्ञा का उपयोग होता है। सङ्गीतशास्त्र में एक मात्रा से अधिक उच्चारणकाल वाले स्वर की गुरुसंज्ञा की गई है। गुरुसंज्ञक स्वर—

Ῐ	Ῐ	Ῐ
सा	सा	सा

टिप्पणी-९

शर्ववर्मा ने सवर्णसंज्ञक दो-दो वर्णों में से परवर्ती वर्णों की तथा पाणिनि ने द्विमात्रिक अच् की दीर्घसंज्ञा की है। पाणिनि की दीर्घसंज्ञा "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" (१/२/२७) का बोध तभी हो सकता है, जब शिक्षाग्रन्थों के अनुसार वर्णोच्चारणविधि

का सम्यक् ज्ञान हो, परन्तु कलापव्याकरण में ऐसी असुविधा नहीं है। "द्राघृ आयामे" (भू० ८०, ८१) धातु से निष्पन्न होने के कारण दीर्घसंज्ञा अन्वर्थ है। महर्षि यास्क ने भी कहा है-"दीर्घं द्राघते:" (नि० २/५)। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण यह संज्ञा प्राचीन है। जैसे-

ऋक्प्रातिशाख्य—अन्ये दीर्घा: (१/१८)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य-द्विस्तावान् दीर्घ: (१/५७)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-द्विस्तावान् दीर्घ: (१/३५)।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य-उपसर्गस्योत्तरपदे दीर्घ:, अभ्यासस्य दीर्घश्छन्दसि (३/३/११, १३)।

ऋक्तन्त्र- द्वे दीर्घम् (२/५/३)। इसके अनेक सूत्रों में एकदेश 'घ' का भी प्रयोग किया गया है-"घम्, रौ घम्, घाद् ग्रा, घे ण:" (२/५/१०, ३/४/३, ६/३, ४/१/८)।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान-गुहो दीर्घ:, यनि दीर्घश्च, शमादेर्दीर्घो यनि, नथादेरिनि दीर्घ: (सू० ६४, ८४, ८७, १२०)।

गोपथब्राह्मण-दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओङ्कार: सामवेदे (१/१/२५)।

नाट्यशास्त्र- य इमे स्वराश्चतुर्दश निर्दिष्टास्तत्र वै दश समाना:, पूर्वो ह्रस्वस्तेषां परश्च दीर्घो विधातव्य:, द्विमात्रं दीर्घमुच्यते (१४/२०, १६/१२३)।

कलाप के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्वाचीन व्याकरणों में दीर्घ-संज्ञाविधायक सूत्र इस प्रकार हैं—

चान्द्रव्याकरण- अत्र चावर्णो ह्रस्वो दीर्घ: प्लुत इति त्रिधा भिन्न:, द्विमात्रिको दीर्घ: (वर्णसूत्र ३६, ४२)।

जैनेन्द्रव्याकरण-आकालोऽच् प्रदीप: (१/१/१)।

हेमचन्द्रशब्दानुशासन- एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुता: (१/१/५)।

मुग्धबोधव्याकरण-आवत् स्वर्घप्लु (सू० ५)।

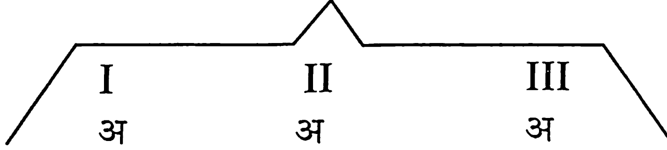
उक्त के अनुसार देवनन्दी ने इसके लिये एकदेश 'दी' का तथा बोपदेव ने 'र्घ' का प्रयोग किया है। वृत्तिकार दुर्गसिंह ने ह्रस्व की लघुसंज्ञा तथा दीर्घ की गुरुसंज्ञा उच्चारण के आधार पर मानी है और इस प्रकार उन्होंने शर्ववर्मा द्वारा 'लघु-गुरु' संज्ञाओं के लिये सूत्र का न बनाया जाना उचित ठहराया है। संयोगसंज्ञक वर्ण के पर में रहने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व के भी उच्चारण में प्राय: द्विमात्रिक काल अपेक्षित होता है, अत: तादृश ह्रस्व की भी संयोग संज्ञा स्वीकार की जा सकती है। तदर्थ पृथक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। पाणिनीय व्याकरण में इन संज्ञाओं के लिये सूत्र पढ़े

गये हैं-"ह्रस्वं लघु, संयोगे गुरु, दीर्घं च" (१/४/१०, ११, १२)।

९. कलापे प्लुतसंज्ञा

अन्ये तु—**दीर्घादतिरिक्तः प्लुतः।**

दीर्घादतिरिक्तोच्चारणो यः स प्लुतसंज्ञो भवति। यथा—



प्लुतप्रदेशाः-"अनुपदिष्टाश्च" (१/३/४) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में प्लुतसंज्ञाविधायक सूत्र

अन्य आचार्यों के अनुसार दीर्घ से अधिक उच्चारण-काल वाले वर्ण की प्लुतसंज्ञा होती है। जैसे—ह्रस्व अकार—अ - I, दीर्घ-आ-II, प्लुत-अ-III. "अनुपदिष्टाश्च" (१/३/४) इत्यादि सूत्रों में प्लुत संज्ञा का उपयोग देखा जाता है।

९. गान्धर्वे प्लुतसंज्ञा

त्रिमात्रः प्लुतः ।

त्रिमात्रोच्चारणकालः प्लुतसंज्ञो भवति। यथा—

III	III	III	III	III	III	III
स	ऋ	ग	म	प	ध	नि

त्रिमात्रं प्लुतं ज्ञेयम्। प्लुतप्रदेशाः-"आमन्त्रिते प्लुतः सम्बुद्धिः" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में प्लुतसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

तीन मात्राओं वाले काल में उच्चरित स्वर की प्लुत संज्ञा होती है। प्लुतसंज्ञक स्वर—

III	III	III	III	III	III	III
स	ऋ	ग	म	प	ध	नि

"आमन्त्रिते प्लुतः सम्बुद्धिः" इत्यादि सूत्रों में प्लुतसंज्ञा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

टिप्पणी-१०

पाणिनीय और कलाप दोनों ही व्याकरणों में प्लुत का प्रकृतिभाव किया गया है, स्वर के पर में रहने पर। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि पाणिनि ने त्रिमात्रिक अच्

की प्लुत संज्ञा मानी है-"ऊकालोऽजह्रस्वदीर्घप्लुत:" (पा० १/२/२७), परन्तु कलापचन्द्रकार सुषेण विद्याभूषण के अनुसार कहीं पर भी प्लुत को त्रिमात्रिक स्वीकार नहीं किया गया है। अत: दीर्घ को ही प्लुत मानना चाहिये। सामान्यतया पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त भी प्राय: व्याकरणशास्त्र में प्लुत को त्रिमात्रिक ही माना जाता है। एक विवरण के अनुसार तो प्लुत को चतुर्मात्रिक भी मानने का उल्लेख प्राप्त होता है। विशेषत: 'ए' और 'ओ' जब प्लुत होते हैं तो उनके विषय में प्लुत को चतुर्मात्रिक भी मानना उचित हो सकता है, परन्तु वहाँ सिद्धान्त त्रिमात्रिक प्लुत का ही स्थापित किया जाता है।

कलापचन्द्रकार ने प्लुत के स्वरूपत: उपदेश की बात कहकर उसे स्वीकार नहीं किया है। वस्तुत: ऐसा होने पर भी यजु:प्रातिशाख्य आदि में उसे जो स्वरूपत: त्रिमात्रिक के रूप में पढ़ा गया है, उसे देखकर तो कलापचन्द्रकार का वचन प्रमादपूर्ण ही कहा जा सकता है।

कलापव्याकरण में प्लुतसंज्ञाविधायक तो सूत्र नहीं है, परन्तु प्रकृतिभाव के प्रसङ्ग में वर्णसमाम्नाय में उपदिष्ट न होने के कारण 'अनुपदिष्ट' शब्द से प्लुत का ग्रहण होता है (कातन्त्र १/३/४)। सामान्यतया त्रिमात्रिक स्वर की यह संज्ञा मानी जाती है, परन्तु कलापव्याकरण के व्याख्याकार द्विमात्रिक से अधिक स्वर की प्लुतसंज्ञा मानने के पक्षधर प्रतीत होते हैं। किसी व्याख्या के अनुसार तो दीर्घ को ही प्लुत कहा जा सकता है। इन मतभेदों के रहने पर भी सामान्यतया उभयत: समानता स्वीकार की गई है। गान, आह्वान, रोदन आदि में तो स्वर त्रिमात्रिक से कम होता ही नहीं है।

१०. कलापे नामीसंज्ञा

स्वरोऽवर्णवर्ज्जो नामी (१/१/७)।

(दुर्गवृत्ति:)

अवर्णवर्ज्जस्वरो नामिसंज्ञो भवति। यथा–इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ। नामिप्रदेशा:—"नामिपरो रम्" (१/५/१२) इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नामीसंज्ञाविधायक सूत्र

अवर्ण को छोड़कर अन्य सभी स्वरों की 'नामी' संज्ञा होती है। नामिसंज्ञक वर्ण– इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ। "नामिपरो रम्" (१/५/१२) इत्यादि सूत्रों में नामिसंज्ञा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

१०. गान्धर्वे श्रुतिसंज्ञा

स्थूलवर्ज्जं श्रुतिः (१/१/७)।

स्वरस्य स्थूलभागं परित्यज्य सूक्ष्मांशः श्रुतिसंज्ञो भवति—

स्वरूपमात्रश्रवणान्नादोऽनुरणनात्मकः ।
श्रुतिरित्युच्यते भेदास्तस्या द्वाविंशतिर्मताः।।

श्रुतिः श्रवणेन्द्रियेणानुभूयते, न त्वन्येन। श्रुतिप्रदेशाः-"नादद्वाविंशतिभेदा श्रुतिः" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में श्रुतिसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

स्वर के स्थूल भाग को छोड़कर शेष सूक्ष्म अंश की श्रुतिसंज्ञा होती है। कहा गया है कि स्वरूपमात्र के श्रवण से अनुरणनात्मक नाद की श्रुतिसंज्ञा स्वीकार की जाती है, इस श्रुति के २२ भेद माने गये हैं। श्रुति का अनुभव श्रवणेन्द्रिय से ही होता है, अन्य किसी से नहीं। "नादद्वाविंशतिभेदा श्रुतिः" इत्यादि सूत्रों में श्रुतिसंज्ञा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

टिप्पणी-११

टीकाकार-पञ्जिकाकार आदि व्याख्याकारों के अनुसार नामी का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—"नमनमिति नामः, सोऽस्यास्तीति नामी"। अर्थात् वे ह्रस्व-दीर्घ वर्ण, जिनके उच्चारण में ध्वनि का स्पर्श ऊपर की ओर न होता हो। ऐसा देखा जाता है कि अवर्ण के उच्चारण में तो ध्वनि का स्पर्श ऊपर की ओर होता है, परन्तु 'इ' से लेकर 'औ' तक के स्वर वर्णों की उच्चारणध्वनि प्रायः नीचे की ओर होती है। इसीलिये अवर्ण के अतिरिक्त स्वर वर्णों की नामी संज्ञा की गई है। पाणिनि ने इसके लिये 'इच्' प्रत्याहार का प्रयोग किया है। 'नमनमिति नामः, सोऽस्यातीति नामी' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का इकारादि संज्ञियों में अन्वय होने के कारण यह संज्ञा अन्वर्थ है, जबकि उक्त वर्णों के लिये पाणिनिद्वारा किया गया 'इच्' प्रत्याहार का प्रयोग विशुद्ध यादृच्छिक ही है। काशकृत्स्नव्याकरण में इसका व्यवहार होने से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है-**"नामिनो गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः, स्थूलदूरयुवह्रस्व-क्षिप्रक्षुद्राणामन्त्यस्वरादेर्लोपो गुणश्च नामिनाम्"** (काश० धा० व्या०, सू० २२, १३६)। युधिष्ठिरमीमांसक ने प्रमादवश ८ ही स्वरों की नामिसंज्ञा का उल्लेख किया है (द्र०-काश० धा० व्या०, सू० ४४, टि० २)।

सङ्गीतशास्त्र में जो एतदर्थ श्रुतिसंज्ञा की गई है, उससे यह कहा जा सकता है कि स्वर का सूक्ष्मभाग वस्तुतः ध्वनिरूप ही होता है, जिसकी श्रुतिसंज्ञा की गई

है और नामी संज्ञा का भी सम्बन्ध ध्वनि से ही है। इस प्रकार दोनों में समानता सिद्ध होती है।

११. कलापे सन्ध्यक्षरसंज्ञा

एकारादीनि संध्यक्षराणि (१/१/८) ।

(दुर्गवृत्तिः)

एकारादीनि स्वरनामानि संध्यक्षरसंज्ञकानि भवन्ति। यथा—ए ऐ, ओ, औ। संध्यक्षरप्रदेशाः-"संध्यक्षरे च" (३/६/३८) इत्येवमादयः।

संधावक्षराणि संध्यक्षराणीति। तथा चैषां पूर्वभागोऽकारः। एकारैकारयोः परो भाग इकारः। ओकारौकारयोः पूर्वभागः अकारः, परश्च भाग उकार इति। अर्थात् सन्धिनिष्पन्नत्वाद् 'ए ऐ ओ औ' एते चत्वारः स्वराः सन्ध्यक्षरा वा विकृता ज्ञेया इति भावः (द्र०-दु०टी०, वि०प०) ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में सन्ध्यक्षरसंज्ञाविधायक सूत्र

'ए' आदि की सन्ध्यक्षर संज्ञा होती है। सन्ध्यक्षरसंज्ञक वर्ण-'ए ऐ ओ औ'। सन्धिकार्य से जो वर्ण निष्पन्न होते हैं, उन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। संध्यक्षरसञ्ज्ञक चारों वर्णों के पूर्वभाग में अकार रहता है। एकार-ऐकार में पर भाग इकार एवं ओकार-औकार में परभाग उकार होता है। सन्धि से निष्पन्न होने वाले उक्त सन्ध्यक्षरसंज्ञक चार वर्णों को विकृत वर्ण भी कहा जा सकता है। "संध्यक्षरे च" (३/६/३८) इत्यादि सूत्रों में सन्ध्यक्षर संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

११. गान्धर्वे विकृतस्वरसंज्ञा

विकृता द्वादश स्वराः (१/१/८) ।

शुद्धकाकलीभेदेन परस्परं द्वादश (स्वराः) विकृतस्वरसंज्ञा भवन्ति। यथा—

स ऋ ऋ ग ग म म प ध ध नि नि

विकृतप्रदेशाः-"शुद्धानां विभागे विकृता द्वादश" इत्येवमादयः। शुद्धाशुद्धादिभेदेन विकृता द्वादशोदिताः इत्यादि।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में विकृतस्वरसञ्ज्ञाविधायक सूत्र

शुद्धकाकली-भेद से बारह (स्वरों) की परस्पर विकृतस्वर संज्ञा होती है। विकृत स्वर—

स ऋ ऋ ग ग म म प ध ध नि नि

ये १२ विकृत स्वर शुद्ध-अशुद्ध आदि के भेद से होते हैं। विकृतस्वर संज्ञा का प्रयोग "शुद्धानां विभागे विकृता द्वादश" इत्यादि सूत्रों में होता है।

टिप्पणी- १२

सन्धौ यान्यक्षराणि तानि सन्ध्यक्षराणि। स्वर वर्णों की अक्षरसंज्ञा पूर्वाचार्यों ने की है। इनमें से पूर्ववर्ती अकार की इकार के साथ गुण-सन्धि होने पर एकार तथा उकार के साथ सन्धि होने पर ओकार वर्ण निष्पन्न होते हैं। अथ च 'अ+ए' एवं 'अ+ओ' की दशा में वृद्धि से क्रमशः 'ऐ' एवं 'औ' वर्णों की सिद्धि देखी जाती है। इस प्रकार दो स्वरवर्णों की सन्धि होने से निष्पन्न वर्णों की यह सन्ध्यक्षर संज्ञा *अन्वर्थ है। अ+इ (गुण)=ए, अ+ए (वृद्धि)=ऐ, अ+उ (गुण)=ओ, अ+ओ (वृद्धि)=औ। यहाँ 'अ' आदि से अवर्णादि अभिप्रेत है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण यह संज्ञा प्राचीन भी है। जैसे—

ऋग्वेदप्रातिशाख्य- ततश्चत्वारि सन्ध्यक्षराणि उत्तराणि (१/२)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य- सन्ध्यक्षरं परम् (१/४५)।

ऋक्तन्त्र- (१/१)।

गोपथब्राह्मण- सन्ध्यक्षरमवर्णलेशः पूर्वो विवृतकरणस्थितश्च (१/१/२७)।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान- सन्ध्यक्षराणाम् आकारः (सू० २६)।

पाणिनि ने इन वर्णों का बोध 'एच्' प्रत्याहार से कराया है। इस प्रकार एकारादि ४ वर्णों की सन्ध्यक्षरसंज्ञा अन्वर्थ है और 'एच्' प्रत्याहार का प्रयोग हस्तचेष्टावत् यादृच्छिक या सांकेतिक है।

सङ्गीतशास्त्र में सम्भवतः सन्धिरूपपरिवर्तन को विकार मानकर विकृतस्वर संज्ञा से इसका साम्य दिखाया गया है।

१२. कलापे व्यञ्जनसंज्ञा

कादीनि व्यञ्जनानि (१/१/९) ।

(दुर्गवृत्तिः)

ककारादीनि हकारपर्यन्तानि व्यञ्जनसंज्ञकानि भवन्ति। यथा-क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व। श ष स ह (क्ष)।

---

* सन्ध्यानि सन्ध्यक्षराण्याहुरेके द्विस्थानतैतेषु तथोभयेषु (ऋ० प्रा० १३/३८) ।
सन्ध्यक्षराणीत्यन्वर्था पूर्वाचार्यसंज्ञा, सन्धीयमानावयवत्वात् ।
(म० भा० प्र०-द्वि० आ०, पृ० ८०)

व्यञ्जनप्रदेशाः–"व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्" (१/१/२१) इत्येवमादयः।

[हिन्दी - अनुवाद] कलापव्याकरण में व्यञ्जनसंज्ञाविधायक सूत्र

'क्' से 'ह्' तक वर्णों की व्यञ्जनसंज्ञा होती है। व्यञ्जनसंज्ञक वर्ण-क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व। श ष स ह (क्ष) । "व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्" (१/१/२१) इत्यादि सूत्रों में व्यञ्जनसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

१२. गान्धर्वे व्यञ्जनसंज्ञा

व्यञ्जनञ्चार्धमात्रिकम् (१/१/९) ।

अर्धमात्रोच्चारणकालं व्यञ्जनसंज्ञम्भवति। यथा–ईदृक्, इक् च। व्यञ्जनप्रदेशाः– "गीतमस्वरं परं नयेत्" इत्येवमादयः।

[हिन्दी - अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में व्यञ्जनसंज्ञाविधायक सूत्र

अर्धमात्रिक उच्चारण काल वाले वर्णों की व्यञ्जन संज्ञा होती है। जैसे–ईदृक्, इक्। "गीतमस्वरं परं नयेत्" इत्यादि सूत्रों में व्यञ्जनसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी - १३

'क्' से लेकर 'ह्' तक के वर्णों की व्यञ्जनसंज्ञा कलाप में तथा 'हल्' संज्ञा पाणिनीय व्याकरण में की गई है। स्वर वर्णों का अर्थ निश्चय करने में उपकारक होने के कारण, स्वरों का अनुसरण करने के कारण अथवा स्वरप्रतिपाद्य अर्थों को द्योतित करने के कारण इन वर्णों को व्यञ्जन कहते हैं—**व्यज्यन्ते एभिरिति व्यञ्जनानि।** इस प्रकार कलापव्याकरण की व्यञ्जन संज्ञा अन्वर्थ है और पाणिनि की हल् संज्ञा सर्वथा कृत्रिम।

कलाप के कुछ व्याख्याकार 'क्ष्' को भी वर्ण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संयोगसंज्ञक व्यञ्जनों के मिलने से निष्पन्न होने वाले वर्णों के निदर्शनार्थ 'क्ष्' को भी वर्ण मानना आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि 'क्-ष्' के संयोग से क्ष्, 'त्-र्' के संयोग से 'त्र्' तथा 'ज्-ञ्' के संयोग से 'ज्ञ्' वर्ण निष्पन्न होता है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने अन्नपूर्णास्तोत्र में 'अ' से लेकर 'क्ष्' तक वर्णों को स्वीकार किया है— **'आदिक्षान्तसमस्तवर्णनिकरी शम्भोस्त्रिभावाकरी'** (अन्नपूर्णा०-श्लो० ७)। प्रयोगरत्नमालाव्याकरण में पुरुषोत्तम विद्यावागीश ने क्षकारान्त वर्ण माने हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा भी यह संज्ञा प्रयुक्त है। जैसे—

ऋक्प्रातिशाख्य-सर्वः शेषो व्यञ्जनान्येव (१/६)। (व्यञ्जयन्ति प्रकटान् कुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि-उ०भा०-१/६)।

वाजसनेयिप्रतिशाख्य-व्यञ्जनं कादि (१/४७)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-शेषा व्यञ्जनानि (१/६)।

अथर्वप्रातिशाख्य-एष सव्यञ्जने (२/३/५)।

ऋक्तन्त्र-अथ व्यञ्जनानि (१/२)।

गोपथब्राह्मण-'अ-उ' इत्यर्धचतस्रो मात्रा मकारे व्यञ्जनमाहुर्या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद् ब्राह्मयं पदम् (१/१/२५)।

नाट्यशास्त्र-हकारान्तानि कादीनि व्यञ्जनानि विदुर्बुधाः (१४/८)।

स्वरों को सत्त्वसम्पन्न तथा व्यञ्जनों को दुर्बल माना जाता है। व्यञ्जनों की दुर्बलता इसलिये सिद्ध है कि इनका सरलता से उच्चारण भी विना स्वरों की सहायता के नहीं होता। इस विषय में कुछ प्रसिद्ध वचन इस प्रकार हैं-'अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं स्वयं राजन्त इति स्वराः, अन्वग् भवति व्यञ्जनम्' । गतिरपि व्यञ्जेरर्थः, विविधं गच्छत्यजुपरागवशादिति व्यञ्जनम्' (म०भा० १/२/२९-३०)। 'व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद् यथा-नटानां स्त्रियो रङ्गं गता यो यः पृच्छति, कस्य यूयं कस्य यूयमिति? तं तं तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते' (म०भा० ६/१/२) इति।

'दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद् हरते बलवान् स्वरः।।

(या० शि०, श्लो० १११)।

एकाकिनोऽपि राजन्ते सत्त्वसाराः स्वरा इव।
व्यञ्जनानीव निःसत्त्वाः परेषामनुयायिनः।।'

(वृ०त्र०वा०। द्र०, टे० टे०, भा० १, पृ० १८६)।

१३. कलापे वर्गसंज्ञा

ते वर्गाः पञ्च पञ्च पञ्च (१/१/१०) ।

(दुर्गवृत्तिः)

ते कादयो मावसानाः वर्णाः पञ्च पञ्च भूत्वा पञ्चैव ते वर्गसंज्ञा भवन्ति। यथा—क ख ग घ ङ (कवर्ग)। च छ ज झ ञ (चवर्ग)। ट ठ ड ढ ण (टवर्ग)। त थ द ध न (तवर्ग)। प फ ब भ म (पवर्ग)। वर्गप्रदेशाः—"वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषाः" (१/१/११) इत्येवमादयः।

[हिन्दी - अनुवाद] कलापव्याकरण में वर्गसंज्ञाविधायक सूत्र

'क्' से लेकर 'म्' तक के वर्णों में पाँच पाँच वर्णों की वर्गसंज्ञा होती है और ये वर्ग पाँच ही होते हैं। वर्गसंज्ञक वर्ण—क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढ ण। त थ द ध न। प फ ब भ म। "वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषाः (१/१/११) इत्यादि सूत्रों में वर्गसंज्ञा का प्रयोग किया गया है।

१ ३. गान्धर्वे वर्गसंज्ञा

ते वर्गा उदात्तादिषु सप्त सप्त सप्त (१/१/१०) ।

ते षड्जादयो निषादावसानाः स्वराः उदात्तादिषु उदात्तानुदात्तस्वरितत्रिसप्तकेषु सप्त सप्त सप्त क्रमेऽपि प्रत्येकस्वरे वर्गसंज्ञा भवन्ति। यथा—उदारायां षड्जादि-सप्त, मुदारायां षड्जादि-सप्त, तारायामपि षड्जादि-सप्त। तद्विभागक्रमो यथा—

उदारायाम्	-	स़	ऋ़	ग़	म़	प़	ध़	नि़।	एते सप्त वर्गाः।
मुदारायाम्	-	स	ऋ	ग	म	प	ध	नि।	एते सप्त वर्गाः।
तारायाम्	-	सं	ऋं	गं	मं	पं	धं	निं।	एते सप्त वर्गाः।

उदारा, मुदारा, तारा। अर्थात् उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितश्च । उदारायाः स्वरनिम्ने एवञ्च तारायाः स्वरोपरि बिन्दुः स्थापनीयः।

[हिन्दी - अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में वर्गसंज्ञाविधायक सूत्र

षड्ज से लेकर निषाद पर्यन्त सात स्वरों में जब उदात्त-अनुदात्त-स्वरित स्वरों का विधान किया जाता है, तब उन सात स्वरों के २१ भेद हो जाते हैं। उन सभी की वर्ग संज्ञा होती है। सङ्गीतशास्त्र में उदात्त को उदारा, अनुदात्त को मुदारा तथा स्वरित को तारा कहते हैं । इस प्रकार उदारा (उदात्त) में षड्ज आदि सात, मुदारा (अनुदात्त) में षड्ज आदि सात तथा तारा (स्वरित) में षड्ज आदि सात वर्ग होते हैं। उदारा के बोधनार्थ स्वर के नीचे तथा तारा के बोधनार्थ स्वर के ऊपर बिन्दु का चिह्न दिया जाता है, जबकि मुदारा में किसी चिह्न का प्रयोग नहीं होता। जैसे—

उदारा (उदात्त)	-	स.	ऋ.	ग.	म.	प.	ध.	नि.।
मुदारा (अनुदात्त)	-	स	ऋ	ग	म	प	ध	नि।
तारा (स्वरित)	-	सं	ऋं	गं	मं	पं	धं	निं।

टिप्पणी - १ ४

कातन्त्रकार के अनुसार 'क, ख, ग, घ, ङ' वर्णों की कवर्ग, 'च, छ, ज, झ, ञ' की चवर्ग, 'ट-ठ-ड-ढ-ण' की टवर्ग, 'त-थ-द-ध-न' की तवर्ग तथा 'प-फ-ब-भ-म' की पवर्ग संज्ञा होती है। पाणिनि ने इन पाँचों वर्गों का व्यवहार

"अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" (१/१/६९) सूत्रस्थ उदित् पद से किया है। तदनुसार 'कु' से कवर्ग, 'चु' से चवर्ग, 'टु' से टवर्ग, 'तु' से तवर्ग तथा 'पु' से पवर्ग का ग्रहण होता है। पाणिनि का यह व्यवहार सर्वथा कृत्रिम ही कहा जा सकता है, क्योंकि लोकव्यवहार की दृष्टि से यह अपरिचित ही है। पूर्वाचार्यों द्वारा भी वर्गसंज्ञा का प्रयोग किया गया है। जैसे—

ऋक्प्रातिशाख्य—पञ्च ते पञ्च वर्गाः (१/८)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य—स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्च पञ्च वर्गाः (१/१०)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक वर्ग के ५-५ वर्णों में से प्रथम वर्ण से वर्ग का बोध होता है, अन्य वर्णों से नहीं। जैसे-'क-ख-ग-घ-ङ' इन पाँच वर्णों का बोध 'क' के ही साथ वर्ग लगाने से होता है, 'ख-ग-घ-ङ' में से किसी वर्ण के साथ 'वर्ग' शब्द का व्यवहार नहीं होता है–

प्रथमग्रहणे वर्गम् (१/६४)।

ऋक्तन्त्र में वर्ग के लिये उसके एकदेश 'र्ग' का प्रयोग हुआ है-

स्पर्शे र्गस्य (२/२/३)।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान-सतवर्गयोः शचवर्गयोगे, षटवर्गयोगे षटवर्गौ, ह्रस्वपूर्वयोर्हकारचवर्गयोः कवर्गः, कवर्गहकारयोश्चवर्गः (सू० १९, २०, ७२, ७६)।

नाट्यशास्त्र–

वर्गे वर्गे समाख्यातौ द्वौ वर्णौ प्रागवस्थितौ।
अघोषा इति ये त्वन्ये सघोषाः सम्प्रकीर्तिताः।। (१४/९)।

सङ्गीतशास्त्र में उदात्त-अनुदात्त-स्वरितयुक्त षड्ज आदि २१ स्वरों की जो वर्गसंज्ञा की गई है, वह उस शास्त्र के अनुरूप ही कही जा सकती है।

१४. कलापे अघोषसंज्ञा

वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषाः (१/१/११)।

(दुर्गवृत्तिः)

वर्गाणां प्रथमद्वितीया वर्णाः शषसाश्च अघोषसंज्ञा भवन्ति। यथा–क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, श ष स। अघोषप्रदेशाः-"अघोषे प्रथमः" (२/३/६१) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अघोषसंज्ञाविधायक सूत्र

प्रत्येक वर्गीय वर्णों में प्रथम-द्वितीय तथा 'श-ष-स' इन तीन वर्णों की

अघोषसंज्ञा होती है। अघोषसंज्ञक वर्ण–क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ। श ष स। "अघोषे प्रथमः" (२/३/६१) इत्यादि सूत्रों में अघोषसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

१४. गान्धर्वे ग्रामसंज्ञा

वर्गाणां प्रथमतृतीयचतुर्था ग्रामाः (१/१/११) ।

वर्गाणां प्रथमतृतीयचतुर्थस्वराः क्रमेण ग्रामसंज्ञा भवन्ति। यथा-स-ग-माश्च त्रयो ग्रामाः। ग्रामप्रदेशाः-"सगमाश्च त्रयग्रामाः" इत्येवमादयः । तथा च—

षड्जश्च गान्धारश्च मध्यमश्चैव ते क्रमात्।
त्रयो ग्रामा निरूप्यन्ते भरतादिमहर्षिभिः।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ग्रामसंज्ञाविधायक सूत्र

वर्गसंज्ञक स्वरों में से प्रथम-तृतीय-चतुर्थ स्वरों की क्रमशः ग्रामसंज्ञा होती है। इस प्रकार 'स-ग-म' ये तीन ग्राम हैं । नाट्यशास्त्रकार भरत आदि महर्षियों ने क्रमशः षड्ज-गान्धार और मध्यम इन तीन ग्रामों का निरूपण किया है । "समगाश्च त्रयो ग्रामाः" इत्यादि सूत्रों में ग्रामसंज्ञा का प्रयोग किया गया है।

टिप्पणी- १५

जिनके उच्चारण में अल्प ध्वनि होती है, उन्हें अघोष कहते हैं–**'न विद्यते घोषो ध्वनिर्येषां ते अघोषाः। ईषदर्थेऽत्र नञ्'।** कलापव्याकरण में अनुशासनसूत्र द्वारा इसे स्वीकार किया गया है, जबकि पाणिनीय व्याकरण में शिक्षा के अनुसार। शिक्षाग्रन्थों में बाह्यप्रयत्न के ११ भेदों में से अघोष को भी एक भेद बताया गया है। जिन वर्णों की अघोषसंज्ञा कलापव्याकरण में कही गई है, पाणिनि ने उनके लिये 'खर्' प्रत्याहार का प्रयोग किया है। अघोषसंज्ञक वर्ण १३ हैं-'क-ख-च-छ-ट-ठ-त-थ-प-फ-श-ष-स'।

शिक्षाग्रन्थों में प्रयुक्त होने से उक्त १३ वर्णों की यह अघोषसंज्ञा प्राचीन है तथा श्वास-उच्छ्वास मात्र के सुनाई पड़ने से किं च नाद-ईषन्नाद के सुनाई न पड़ने से (उच्चारण में वायु के अल्प होने के कारण) यह अन्वर्थ भी है—"त्रयोदशाघोषास्ते क-च-ट-त-पाः, ख-छ-ठ-थ-फाः, शषसाश्चेति" (या० शि० ५/९३)। (उच्चारणे वायोरल्पतया नादेषन्नादौ न श्रूयेते किन्तु श्वासोच्छ्वासौ श्रूयेते, अतस्ते अघोषा भवन्ति इति शेषः-शिक्षावल्लीविवृतिः)।

सङ्गीतशास्त्रीय स्वरवर्गों में से 'षड्ज-गान्धार-मध्यम' की निर्धारित ग्रामसंज्ञा

से इसकी समानता बताई गई है।

१५. कलापे घोषसंज्ञा

घोषवन्तोऽन्ये (१/१/१२)।

(दुर्गवृत्तिः)

अघोषेभ्यो ये अन्ये अवशिष्टा गादयस्ते घोषवत्संज्ञा भवन्ति। यथा—ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व ह। घोषवत्प्रदेशाः—"घोषवति लोपम्" (१/५/११) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में घोषसंज्ञाविधायक सूत्र

अघोषसंज्ञक वर्णों से भिन्न वर्णों की घोषवत् संज्ञा होती है। घोषवत्संज्ञक वर्ण-'ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व ह'। "घोषवति लोपम्" (१/५/११) इत्यादि सूत्रों में घोषवत् संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

१५. गान्धर्वे साधारणस्वरसंज्ञा

ग्रामादन्ये साधारणाः (१/१/१२)।

ग्रामादन्ये ये अवशिष्टाः स्वरास्ते साधारणस्वरसंज्ञा भवन्ति। यथा-'ऋ-प-ध-नि'-एते साधारणाः। साधारणप्रदेशाः-"साधारणश्चोत्तमः" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में साधारणस्वरसंज्ञाविधायक सूत्र

ग्रामसंज्ञक 'षड्ज-गान्धार-मध्यम' स्वरों से अतिरिक्त शेष स्वरों की साधारण स्वरसंज्ञा होती है। साधारणसंज्ञक स्वर—ऋषभ, पञ्चम, धैवत तथा निषाद। "साधारणश्चोत्तमः" इत्यादि सूत्रों में साधारण संज्ञा का उपयोग हुआ है।

टिप्पणी-१६

'वर्गीय तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम, य-र-ल-व-ह' इन २० वर्णों की कलापकार ने घोषसंज्ञा की है। जिन वर्णों के उच्चारण में वायु की अधिकता से नाद-ईषन्नाद दोनों ही सुनाई पड़ते हैं, अर्थात् घोष=ध्वनि वाले वर्णों को घोषवान् कहते हैं। इस प्रकार यह अन्वर्थ संज्ञा है। इसी अर्थ में शिक्षाग्रन्थों में इसका प्रयोग हुआ है—

"विंशतिर्घोषास्ते गजडदबाः, घझढधभाः, ङञणनमाः, यरलवाः, हकारश्चेति"

(या० शि-५/९३)।

(येषां वर्णानामुच्चारणे वायोराधिक्याद् नादेषन्नादौ श्रूयेते ते गजडदबादयो विंशतिसंख्याका घोषा भवन्तीति शेषः-शिक्षावल्लीविवृत्तिः)। पाणिनि ने इन २० वर्णों के बोधार्थ 'हश्' प्रत्याहार का प्रयोग किया है, जो यादृच्छिक या कृत्रिम है।

सङ्गीतशास्त्र में 'ऋषभ-पञ्चम-धैवत-निषाद' स्वरों की मान्य साधारण स्वरसंज्ञा

से इसकी समानता स्वीकार की गई है।

१६. कलापे अनुनासिकसंज्ञा

अनुनासिका ङ-ञ-ण-न-माः (१/१/१३)।

(दुर्गवृत्तिः)

'ङ-ञ-ण-न-म' इत्येते वर्णा अनुनासिकसंज्ञा भवन्ति। अनुनासिकप्रदेशाः- "धुड् व्यञ्जनमनन्तस्थानुनासिकम्" (२/१/१३) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अनुनासिकसंज्ञाविधायक सूत्र

वर्गीय पञ्चम 'ङ-ञ-ण-न-म' इन पाँच वर्णों की अनुनासिक संज्ञा होती है। "धुड् व्यञ्जनमनन्तस्थानुनासिकम्" (२/१/१३) इत्यादि सूत्रों में अनुनासिकसंज्ञा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

१६. गान्धर्वे अनुनासिकसंज्ञा

प्रचितश्चानुनासिकः (१/१/१३)।

अनु पश्चाद् नासाकण्ठाभ्यामनुच्चभावेन यो बहिर्निःसरति स प्रचितस्वरोऽनुनासिकसंज्ञो भवति। अनुनासिकप्रदेशाः—"नासायाः प्रचितोऽनुनासिकः" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अनुनासिकसंज्ञाविधायक सूत्र

नासिका तथा कण्ठ में संयोग के बाद जो प्रचित स्वर अनुच्चभाव से बाहर निकलता है, उसकी अनुनासिक संज्ञा होती है। "नासायाः प्रचितोऽनुनासिकः" इत्यादि सूत्रों में अनुनासिकसंज्ञा का प्रयोग होता है।

टिप्पणी- १७

अनुनासिक शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। जैसे-जिन वर्णों के उच्चारण में नासिका के साथ बाद में संयोग होता है, उनकी अनुनासिक संज्ञा होती है। मुख के साथ नासिका से अथवा मुख और नासिका से उच्चरित होने वाले वर्ण अनुनासिक कहे जाते हैं। कलापकार ने केवल वर्गीय पञ्चम वर्णों की ही यह संज्ञा मानी है, जबकि पाणिनि के अनुसार (मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः-अ० १/१/८) यह संज्ञा वर्गीय पञ्चम वर्णों के अतिरिक्त उन सभी अच्-वर्णों की भी होती है, जिनके उच्चारण में नासिका का भी संयोग होता है। अनु-ग्रहण से केवल नासिकास्थान वाले अनुस्वार की अनुनासिक संज्ञा नहीं होती है। पूर्वाचार्यों ने भी इस संज्ञा का प्रयोग किया है। जैसे—

ऋग्वेदप्रातिशाख्य—अनुनासिकोऽन्त्यः (१/१४)। अष्टावाद्यानवसानेऽ-

प्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान् स्वरान् (१/६३)। उव्वट ने अपने भाष्य में अनुनासिक को अन्वर्थ बताते हुये उसे दो स्थानों वाला कहा है-'इयमन्वर्था संज्ञा। नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते' (१/१४)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-अनुस्वारोत्तमा अनुनासिका: (२/३०)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य-मुखनासिकाकरणोऽनुनासिक: (१/७५)।

ऋक्तन्त्र-हुमित्यनुनासिक:, अन्त्योऽनुनासिक:, साक्षरं पदान्तोऽवसित: (१/२, २/२/७, ८)।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान-अनुनासिकोऽनुषङ्ग: (सूत्र ७)। यहाँ 'अनुषङ्ग' शब्द से वर्गीय पञ्चम वर्णों का ग्रहण होता है।

अर्वाचीन व्याकरणों में भी इसे स्वीकार किया गया है। आचार्य देवनन्दी ने 'ङ' वर्ण को नासिक्य कहा है—'नासिक्यो ङ:' (जै० १/१/७)।

अग्निपुराण-उपदेश इद्धलन्त्यं भवेदजनुनासिक: (३४८/२)।

नारदपुराण-पाठोऽनुनासिकानां च पारायणमिहोच्यते (५३/८५)।

सङ्गीतशास्त्र में प्रचितस्वर की जो यह संज्ञा की गई है, उसमें नासिका तथा कण्ठ का साथ ही साथ संयोग माना गया है। पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रयुक्त होने से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

१७. कलापे अन्तस्थासंज्ञा

अन्तस्था: य-र-ल-वा: (१/१/१४)।

(दुर्गवृत्ति:)

'य-र-ल-व' इत्येते वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति। अन्तस्थाप्रदेशा:—"उवर्णस्य जान्तस्था पवर्गपरस्यावर्णे" (३/३/२७) इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अन्तस्थासंज्ञाविधायक सूत्र

'य-र-ल-व' इन चार वर्णों की अन्तस्था संज्ञा होती है। "उवर्णस्य जान्तस्था पवर्गपरस्यावर्णे" (३/३/२७) इत्यादि सूत्रों में अन्तस्थासंज्ञा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

१७. गान्धर्वे उत्तमस्वरसंज्ञा

समपाश्चोत्तमा: (१/१/१४)।

चतु:श्रुतिविशिष्टा: षड्जमध्यमपञ्चमस्वरा उत्तमस्वरसंज्ञा भवन्ति। यथा—स, म, प। उत्तमप्रदेशा:-"उत्तमादिभि: श्रुतिभिश्च स्वरग्राम: प्रतिग्रामे सप्त सप्त मूर्च्छना:" इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में उत्तमसंज्ञाविधायक सूत्र

चार प्रकार की श्रुतियों से विशिष्ट षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम इन तीन स्वरों की उत्तम संज्ञा होती है। उत्तमसंज्ञक स्वर-'स-म-प'। "उत्तमादिभिः श्रुतिभिश्च स्वरग्रामः प्रतिग्रामे सप्त सप्त मूर्च्छनाः" इत्यादि सूत्र उत्तमस्वरसंज्ञा के प्रयोगप्रदेश हैं।

टिप्पणी - १८

१. 'अन्तस्था' शब्द के २ अर्थ किये जाते हैं-मध्य में स्थित। तदनुसार वर्णसमाम्नाय में स्पर्शसंज्ञक (क से म तक) तथा ऊष्मसंज्ञक (श ष स ह) वर्णों के मध्य में पठित होने के कारण 'य-र-ल-व' की अन्तःस्था संज्ञा होती है।

२. अपने-अपने स्थानों के अन्त में स्थित। तदनुसार ताल्वादि स्थानों के अन्त में स्थित होने के कारण उक्त ४ वर्णों को अन्तस्था कहते हैं। पाणिनि ने इन वर्णों का बोध 'यण्' प्रत्याहार से कराया है । शर्ववर्मा की अन्तस्था संज्ञा अन्वर्थ है और पाणिनि का 'यण्' प्रत्याहार कृत्रिम।

पूर्वाचार्यों द्वारा भी इसका व्यवहार किया गया है। यथा-शतपथब्राह्मण में प्राणों के मध्य में स्थित वाणी को अन्तःस्था वाणी कहा गया है-'प्राणानां मध्ये या तिष्ठति सैवान्तःस्था वागुच्यते' (१/४/३/८) इति।

ऋक्प्रातिशाख्य– चतस्रोऽन्तस्थास्ततः (१/९)। भाष्यकार उव्वट ने इसकी अन्वर्थता दिखाते हुये कहा है-'स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीत्यन्तस्थाः' (१/९)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य– पराश्चतस्रोऽन्तस्थाः (१/८)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य– य्-र्-ल्-व् अन्तःस्था (८/१४, १५)।

ऋक्तन्त्र– यिति रिति लिति विति अन्तस्थाः (१/२)। ऋक्तन्त्रकार ने एकदेश 'स्था' शब्द का भी व्यवहार किया है-रात् स्था जरे, रणमपि स्थायाम् (४/३/९, ११)।

नाट्यशास्त्र–यरलववर्णास्तथैव चान्तस्थाः (१४/१९)।

सङ्गीतशास्त्र में 'षड्ज-मध्यम-पञ्चम' स्वरों की उत्तमसंज्ञा के साथ इसकी समानता ज्ञातव्य है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने से यह प्राचीन संज्ञा है।

१८. कलापे ऊष्मसंज्ञा

ऊष्माणः श-ष-स-हाः (१/१/१५) ।

(दुर्गवृत्तिः)

'श-ष-स-ह' इत्येते वर्णा ऊष्मसंज्ञा भवन्ति। [**पाठा०**-"शिडिति शादयः"

(३/८/३२) इति पुनर्लघुसंज्ञा। एताः पूर्वाचार्यप्रसिद्धा अन्वर्था इह ज्ञाप्यन्ते]।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में ऊष्मसंज्ञाविधायक सूत्र

'श-ष-स-ह' इन चार वर्णों की ऊष्म संज्ञा होती है। (इन्हीं ऊष्मसंज्ञक ४ वर्णों की 'शिट्' संज्ञा भी की जाती है। ऊष्म आदि संज्ञाएँ पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य हैं और वे अन्वर्थ भी होती हैं)।

१८. गान्धर्वे ऊष्मसंज्ञा

(क) ऋधौ च सामान्यौ (१/१/१५)।

त्रिश्रुतिविशिष्टौ ऋषभधैवतौ सामान्यसंज्ञकौ भवतः।

सामान्यप्रदेशाः—"यः सामान्यः" इत्येवमादयः।

(ख) गन्यौ चातिसामान्यौं (१/१/१५)।

द्विश्रुतिविशिष्टौ गान्धारनिषादावतिसामान्यस्वरसंज्ञकौ भवतः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सामान्य-अतिसामान्य-संज्ञाविधायक सूत्र

तीन श्रुतियों वाले 'ऋषभ-धैवत' की सामान्यसंज्ञा तथा दो श्रुतियों वाले 'गान्धार-निषाद' की अतिसामान्य स्वर संज्ञा होती है। "यः सामान्यः" इत्यादि सूत्र इसके प्रयोगप्रदेश हैं।

टिप्पणी-१९

जिन वर्णों के उच्चारण में वायु की अधिकता=महाप्राणता रहती है, उन वर्णों की ऊष्मसंज्ञा की गई है। आख्यातप्रकरण में इन्हीं वर्णों की 'शिट्' संज्ञा भी शर्ववर्मा ने की है-"शिडिति शादयः" (३/८/३२)। पाणिनि ने इन वर्णों का बोध 'शल्' प्रत्याहार से कराया है। कातन्त्रव्याकरण में ऊष्मसंज्ञा का कहीं भी उपयोग नहीं किया गया है। केवल पूर्वाचार्यकृत संज्ञा के स्मरणार्थ ही इसे शर्ववर्मा ने प्रस्तुत किया है। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं-कहीं पर ८ तथा ६ वर्णों की भी ऊष्मसंज्ञा की गई है। जैसे–

ऋक्प्रातिशाख्य– उत्तरे अष्टावूष्माणः (१/१०)।

इसके अनुसार शकारादि ४ वर्णों के अतिरिक्त अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय वर्णों की भी यह संज्ञा अभीष्ट है। इन वर्णों को ऊष्म क्यों कहते हैं- इसका समाधान उव्वट ने अपने भाष्य में इस प्रकार किया है–

"ऊष्मा वायुस्तत्प्रधाना वर्णा ऊष्माणः" (१/१०)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य– परे षडूष्माण: (१/९)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य– अथोष्माण:, शिति षिति सिति हिति (८/१६, १७)।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य– स्त्रीबहुवचनान्यूष्मान्तानि, स्वरान्तान्यूष्मान्ताबाधानि (२/२/१७, १०)।

ऋक्तन्त्र– अथोष्माण: हिति शिति षिति सिति योगवाहा: (१/२)।

नाट्यशास्त्र– ऊष्माण: शषसहा: (१४/१९)।

आपिशलिशिक्षा–शादय ऊष्माण:, महति वायौ महाप्राण:, अल्पे वायावल्प-प्राण:, साल्पप्राण–महाप्राणता। महाप्राणत्वादूष्मत्वम् (४/७, ८/१६-१९)। इस प्रकार यह संज्ञा अन्वर्थ तथा प्राचीन है।

सङ्गीतशास्त्र में सामान्य-अतिसामान्य संज्ञाओं से इसकी तुलना की जा सकती है।

१९. कलापे विसर्जनीयसंज्ञा

अः इति विसर्जनीयः (१/१/१६) ।

(दुर्गवृत्तिः)

अकार इहोच्चारणार्थ:। 'अ:' इति कुमारीस्तनयुगाकृतिर्वर्णो विसर्जनीयसंज्ञो भवति। विसर्जनीयप्रदेशा:–"विसर्जनीयश्चे छे वा शम्" (१/५/१) इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में विसर्जनीयसंज्ञाविधायक सूत्र

'अ' आदि स्वरों के बाद कुमारी के दो स्तनों की तरह आकृति वाले वर्ण की विसर्जनीय संज्ञा होती है। "विसर्जनीयश्चे छे वा शम्" (१/५/१) इत्यादि विसर्जनीयसंज्ञा के प्रयोगसूत्र हैं।

१९. गान्धर्वे दण्डसंज्ञा

मात्राज्ञापको दण्डः (१/१/१६) ।

(|) इति दण्डाकृतिचिह्नं मात्राज्ञापकदण्डसंज्ञं भवति। दण्डप्रदेशा:- "स्वरस्थायिकालरूपं मात्रा" इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में दण्डसंज्ञाविधायक सूत्र

(|) मात्रा का बोधक जो दण्ड की आकृति वाला चिह्न होता है-उसकी 'दण्ड' संज्ञा होती है। "स्वरस्थायिकालरूपं मात्रा" इत्यादि सूत्रों में इस दण्ड संज्ञा का उपयोग होता है।

टिप्पणी- २०

जो जिह्वामूलीय-उपध्मानीय-सत्व-षत्व आदि विविध रूप प्राप्त करता है, उसे विसर्ग या विसर्जनीय कहते हैं-'विविधरूपेण सृज्यते संसृज्यते जिह्वामूलीयादिरूपैरिति विसर्जनीय:'। यत: स्वर वर्णों के ही अनन्तर विसर्ग रहता है। अत: उसके उपलक्षणार्थ कलापसूत्रकार ने 'अ' स्वर का पाठ किया है। पाणिनि ने ''विसर्जनीयस्य स:'' (अ० ८/३/३४) आदि सूत्रों में विसर्जनीय का प्रयोग तो किया है, परन्तु उसकी कोई परिभाषा नहीं की है और न उनके द्वारा समादृत वर्णसमाम्नाय में विसर्ग का पाठ ही किया गया है। इससे कहा जा सकता है कि पाणिनि पूर्वाचार्यों के सिद्धान्त से सहमत हैं, इसीलिये उन्होंने कोई संज्ञासूत्र नहीं बनाया। कलापव्याकरण के वर्णसमाम्नाय में विसर्ग का पाठ होने तथा उसके लिये संज्ञासूत्र किये जाने से यह सिद्ध है कि कलापव्याकरण में विसर्ग को अयोगवाह के रूप में नहीं, अथ च योगवाह के रूप में ही माना गया है। ज्ञातव्य है कि पाणिनीय व्याकरण के वर्णसमाम्नाय में विसर्ग का पाठ नहीं है और न उसके लिये संज्ञासूत्र ही है, परन्तु विध्यादि सूत्रों में उसका उल्लेख हुआ है। फलत: उसे अयोगवाह के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसकी लिपि का स्वरूप बताते हुये कहा गया है कि ऊपर-नीचे स्थित दो बिन्दुओं को विसर्ग कहते हैं-'ऊर्ध्वाध:स्थं बिन्दुयुग्मं विसर्ग इति गीयते' (प्र०र०मा० १/२९)। लिपिस्वरूप का सादृश्य कुछ अन्य वस्तुओं के साथ भी बताया गया है। तदनुसार छोटे बछड़े के दो सींगों, कुमारी के दो स्तनों तथा काले सर्प के दो नेत्रों की तरह विसर्ग होता है—

शृङ्गवद् बालवत्सस्य कुमार्या: स्तनयुग्मवत्।
नेत्रवत् कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृत:।।

(विसर्गस्त्रिविध: स्मृत:-**पाठा०**। टे०ट०टे०-भा० १, पृ० २२५)।

विसर्ग तथा विसर्जनीय पर्याय शब्द हैं और पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग में गौरव-लाघव का विचार नहीं होता। पूर्वाचार्यों द्वारा भी इसका व्यवहार किया गया है। जैसे—

ऋक्प्रातिशाख्य— सहोपधो रिफित एकवर्णवद् विसर्जनीय: स्वरघोषवत्पर: (१/६७)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य— अ: इति विसर्जनीय: (८/२२)।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य— विश्वा विसर्जनीयान्ता:, नकारस्य विसर्जनीय: (२/२/९, ३/३/१)।

ऋक्तन्त्र— अ: इति विसर्जनीय: (१/२)।

सङ्गीतशास्त्र में विहित दण्डसंज्ञा से इसकी समानता की गई है।

२०. कलापे अनुस्वारसंज्ञा

अं इत्यनुस्वारः (१/१/१७) ।

(दुर्गवृत्तिः)

अकार इहोच्चारणार्थः। ँ इति बिन्दुमात्रो वर्णोऽनुस्वारसंज्ञो भवति। अनुस्वारप्रदेशाः-"मोऽनुस्वारं व्यञ्जने" (१/४/१५) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अनुस्वारसंज्ञाविधायक सूत्र

स्वर वर्ण के ऊपर एक बिन्दुमात्र (या अर्द्धचन्द्र के साथ बिन्दुमात्र) वर्ण की अनुस्वारसंज्ञा होती है। "मोऽनुस्वारं व्यञ्जने" (१/४/१५) इत्यादि सूत्रों में अनुस्वारसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

२०. गान्धर्वे अर्धमात्रासंज्ञा

अर्धचन्द्राकृतिरर्द्धमात्रा (१/१/१७) ।

ँ इत्यर्द्धचन्द्राकृतिचिह्नम् अर्द्धमात्रासंज्ञं भवति। अर्द्धमात्राप्रदेशाः "स्वरस्थायिकालरूपं मात्रा" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अर्द्धमात्रासंज्ञाविधायक सूत्र

अर्द्धचन्द्राकृति (ँ) वाले चिह्न की अर्द्धमात्रा संज्ञा होती है। "स्वरस्थायिकालरूपं मात्रा" इत्यादि सूत्रों में अर्द्धमात्रा संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी- २१

कलापकार ने स्वर वर्णों के बाद आने वाले एक बिन्दुमात्र की अनुस्वार संज्ञा की है। यह बिन्दु भी दो प्रकार का माना जाता है-१. तिलक (तिल) की तरह तथा २. अर्धचन्द्राकार। पाणिनि ने अनुस्वार का व्यवहार "मोऽनुस्वारः" (पा० ८/३/२३) आदि सूत्रों में विधि के रूप में किया है, परन्तु संज्ञासूत्र नहीं बनाया है। अनुस्वार सर्वत्र स्वर वर्ण के ही बाद में आता है। अतः शर्ववर्मा ने सूत्र में 'अ' स्वर के साथ लगाकर इसे दिखाया है, जबकि पाणिनीय व्याख्याकार शिक्षावचन के अनुसार ऐसी व्याख्या करते हैं-'जिसका स्वतन्त्र उच्चारण न होकर स्वर के साथ मिलकर होता है, उसे अनुस्वार कहते हैं'। वर्णसमाम्नाय के क्रमानुसार सन्ध्यक्षरसंज्ञा के ही पश्चात् इसे कहना चाहिये था, क्योंकि स्वर वर्णों के ही साथ विसर्ग-अनुस्वार का सम्बन्ध होता है, तथापि व्यञ्जनादि संज्ञाओं के अनन्तर इसे रखकर यह ज्ञापित किया गया है कि अनुस्वार स्वरात्मक तथा व्यञ्जनात्मक उभयविध होता है।

सङ्गीतशास्त्र में अर्धचन्द्राकृति वाले चिह्न की जो अर्धमात्रा संज्ञा की गई है, वह अनुस्वार संज्ञा से समानता रखती है।

२१. कलापे जिह्वामूलीयसंज्ञा

× क इति जिह्वामूलीयः (१/१/१८) ।

(दुर्गवृत्तिः)

ककार इहोच्चारणार्थः। (x) इति वज्राकृतिर्वर्णो जिह्वामूलीयसंज्ञो भवति। जिह्वामूलीयप्रदेशाः—"कखयोर्जिह्वामूलीयं न वा" (१/५/४) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में जिह्वामूलीयसंज्ञाविधायक सूत्र

'क-ख' से पूर्व विसर्ग के स्थान में होने वाले वज्राकृति (x) वर्ण की जिह्वामूलीय संज्ञा होती है। "कखयोर्जिह्वामूलीयं न वा" (१/५/४) इत्यादि सूत्र जिह्वामूलीय संज्ञा के प्रयोगस्थल हैं ।

२१. गान्धर्वे डमरुसंज्ञा

पादमात्रात्मको डमरुः (१/१/१८) ।

× इति वज्राकृतिचिह्नं पादमात्रात्मकं डमरुसंज्ञं भवति। डमरुप्रदेशाः– "अणुमात्रो डमरुः" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में डमरुसंज्ञाविधायक सूत्र

वज्र की आकृति वाले (×) तथा चौथाई मात्रा वाले वर्ण की डमरुसंज्ञा होती है। "अणुमात्रो डमरुः" इत्यादि सूत्र डमरुसंज्ञा के प्रयोगस्थल हैं।

टिप्पणी- २२

आचार्य शर्ववर्मा ने विसर्ग - स्थानिक वज्र (×) की आकृति वाले वर्ण की जिह्वामूलीय संज्ञा की है। जैसे-'राम × करोति, राम × खनति' इत्यादि। पाणिनीय व्याख्याकार विसर्ग के स्थान में 'क-ख' वर्णों के परवर्ती होने पर उसे जिह्वामूलीय कहते हैं और जो अर्ध विसर्गसदृश माना जाता है। पाणिनि ने इसका साक्षात् उल्लेख सूत्र में नहीं किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि कलापकार के मत में जिह्वामूलीय एक अर्धमात्रिक व्यञ्जन है, जबकि पाणिनीय व्याख्याकार उसे अर्धविसर्गसदृश कहकर उसकी अर्धार्ध (१/४) मात्रा ही मानते हैं।

इस संज्ञासूत्र का कातन्त्रव्याकरण में केवल एक ही विधिसूत्र (१/५/४) है, फिर 'इत्येवमादयः' यह वचन प्रवाहवश ही कहा गया मानना चाहिये। याज्ञवल्क्यशिक्षा में कवर्ग से पूर्ववर्ती ऊष्म वर्णों को जिह्वामूलीय कहा गया है। वे वज्री माने गये हैं। अर्थात् जैसे प्रहार किया गया वज्र शत्रु से आश्लिष्ट होकर रहता है, वैसे ही 'इष्क्कृतिः' इत्यादि शब्दों में षकार वर्ण अग्रिम ककार के साथ अत्यन्त संश्लिष्ट

होकर रहता है "जिह्वामूले तु वज्रिण:" (या० शि० ५/९३)। इसमें ७ (८) वर्णों को जिह्वामूलीय स्वीकार किया गया है-"सप्त जिह्वामूलीया:-ऋ-ॠ-ऋ ३ इत्यृवर्णा:, क-ख-ग-घ-ङ इति" (या०शि० ५/९३)।

इस प्रकार कलापव्याकरण में यह योगवाह है, जबकि पाणिनीय वैयाकरण इसे अयोगवाह मानते हैं। जिह्वा के मूल से उच्चरित होने वाले वर्ण को जिह्वामूलीय कहते हैं। यदि जिह्वा का मूल वज्र की आकृति वाला हो तो इसे अन्वर्थ कहा जा सकता है।

सङ्गीतशास्त्र में वज्राकृति वर्ण की जो 'डमरु' संज्ञा की गई है, उस डमरू की बनावट भी प्राय: वज्राकृति सी ही होती है। अत: उभयत्र साम्य प्रतीत होंता है।

२२. कलापे उपध्मानीयसंज्ञा

ᳶप इत्युपध्मानीयः (१/१/१९)।

(दुर्गवृत्ति:)

पकार इहोच्चारणार्थ:।(ᳶ) इति गजकुम्भाकृतिर्वर्ण: उपध्मानीयसंज्ञो भवति। उपध्मानीयप्रदेशा:—"पफयोरुपध्मानीयं न वा" (१/५/५) इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में उपध्मानीयसंज्ञाविधायक सूत्र

'प-फ' वर्णों से पूर्व विसर्ग के स्थान में होने वाले आदेश एवं गजकुम्भ की आकृति वाले वर्ण की उपध्मानीय संज्ञा होती है। "पफयोरुपध्मानीयं न वा" (१/५/५) इत्यादि सूत्र उपध्मानीय संज्ञा के प्रयोगस्थल हैं।

२२. गान्धर्वे गमकसंज्ञा

(ᳶ) गमकं गजकुम्भः (१/१/१९)।

(ᳶ) इति गजकुम्भाकृतिचिह्नं गमकसंज्ञम्भवति। गमकप्रदेशा:—"श्रोत्रचित्तयो: सुखावहस्वरकम्पो गमके" इत्येवमादय:।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में गमकसंज्ञाविधायक सूत्र

गजकुम्भ की आकृति वाले चिह्न की गमक संज्ञा होती है। "श्रोत्रचित्तयो: सुखावहस्वरकम्पो गमके" इत्यादि सूत्र गमकसंज्ञा के प्रयोगस्थल हैं।

टिप्पणी- २३

'प-फ' वर्णों से पूर्व ध्वनित होने वाले विसर्गस्थानिक वर्ण को उपध्मानीय कहते हैं। पाणिनि ने इसके लिये कोई संज्ञासूत्र नहीं बनाया है और न तो विधिसूत्र में ही उसका स्पष्ट उल्लेख किया है। केवल "कुप्वो ᳵ क ᳵ पौ च" (अ० ८/३/३७) सूत्र की व्याख्या में व्याख्याकार 'उपध्मानीय' शब्द को स्वीकार करते हैं-

"कवर्गे पवर्गे च परे विसर्जनीयस्य क्रमाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ स्तः" (सि० कौ०)। कलाप के इस संज्ञासूत्र में व्याख्याकारों ने 'प्' से पूर्ववर्ती विसर्ग के स्थान में होने वाले गजकुम्भ-सदृश वर्ण को उपध्मानीय कहा है। सम्भवतः उपध्मानीय के उच्चारण में ओष्ठ्य की आकृति गजकुम्भसदृश प्रतीत होने के कारण व्याख्याकारों ने उसे गजकुम्भाकृति माना है। लिपि में इसके पाँच चिह्न मिलते हैं। जैसे— ⁂, ω, ◡, ω, ◌ ।

याज्ञवल्क्यशिक्षा में ९ प्रकार के ओष्ठ्य वर्णों के अन्तर्गत उपध्मानीय वर्णों को भी गिनाया गया है-"नव ओष्ठ्याः-उ ऊ ऊ ३ इत्युवर्णः, प-फ-ब-भ-म-वकारोपध्मानीया ओकारश्चेति" (या० शि० ५/९३)।

सङ्गीतशास्त्र में गजकुम्भाकृति वाले चिह्न की जो गमकसंज्ञा की गई है, सम्भवतः वह उपध्मानीय के उच्चारण की समानता पर आधारित होगी।

२३. कलापे पदसंज्ञा

पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम् (१/१/२०) ।

(दुर्गवृत्तिः)

पूर्वपरयोः प्रकृतिविभक्त्योरर्थोपलब्धौ सत्यां समुदायः पदसंज्ञो भवति। यथा— ते अत्र=तेऽत्र। यजन्ते अत्र=यजन्तेऽत्र। [**पाठा०**-उपलब्धिग्रहणं विभक्त्यर्थम्]। पदप्रदेशाः—"एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः" (१/२/१७) इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में पदसंज्ञाविधायक सूत्र

निश्चित अर्थ का ज्ञान होने पर पूर्व-पर में विद्यमान प्रकृति-विभक्ति के समुदाय की पद संज्ञा होती है। जैसे-ते + अत्र=तेऽत्र। यजन्ते + अत्र=यजन्तेऽत्र। "एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः" (१/२/१७) इत्यादि सूत्रों में पदसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

२३. गान्धर्वे पदसंज्ञा

स्वरमात्राभ्यां विभज्यार्थबोधे पदम् (१/१/२०) ।

स्वरमात्राभ्यां विभज्य (अर्थाद् व्यक्तीभूय) अर्थबोधे सति समुदायः पदसंज्ञो भवति। पदप्रदेशाः-"मात्रात्मकस्य पदं ज्ञेयम्" इत्येवमादयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में पदसंज्ञाविधायक सूत्र

स्वरमात्रा से पृथक् रूप में अर्थबोध होने पर समुदाय की पद संज्ञा होती है। "मात्रात्मकस्य पदं ज्ञेयम्" इत्यादि सूत्रों में पदसंज्ञा का प्रयोग हुआ है।

टिप्पणी- २४

आचार्य शर्ववर्मा ने प्रकृति-प्रत्यय के अर्थवान् समुदाय की पदसंज्ञा की है। यहाँ यद्यपि ।वेभक्त्यन्तं पदम्'' इतना ही सूत्र बनाने से ईप्सित अर्थ की सिद्धि हो सकती है, तथापि आचार्य ने 'पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्' यह कहकर जो शब्दगौरव किया है, उससे उनका यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि प्रकृति और प्रत्यय परस्पर सम्बद्ध होकर ही किसी विशिष्ट अर्थ का निष्पादन करते हैं। कलाप की यह पदसंज्ञा ऐन्द्रव्याकरण तथा वाजसनेयिप्रातिशाख्य के आधार पर की गई है, क्योंकि उन दोनों में पदसंज्ञक सूत्र थे-''अर्थः पदम्''।

पाणिनि ने नाम और आख्यात पदों के अनुसार सुबन्त और तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा की है-''सुप्तिङन्तं पदम्'' (१/४/१४; द्र० १/४/१५-१७ भी)। इस प्रकार कलाप की संज्ञा में पूर्वाचार्यों का अनुसरण स्पष्टरूप में दृष्ट है, जबकि पाणिनि ने सुबन्त-तिङन्त शब्दरूपों की कल्पना यादृच्छिक रूप में की है।

गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान के अनुसार सुबन्त-तिङन्त रूप दो प्रकार के पद मानने वाले आचार्य हैं- पाणिनि, शाकटायन, चन्द्रगोमी, देवनन्दी, भर्तृहरि, वामन, भोज, शिवस्वामी, कात्यायन, पतञ्जलि, भद्रेश्वरसूरि तथा दीपकव्याकरणकर्ता। पाणिनि से पूर्व सुप्-तिङ् प्रत्याहारों का प्रयोग दृष्ट न होने से पाणिनि ही इसके प्रथम उद्भावक कहे जा सकते हैं-''सुप्तिङन्तं पदम्'' (अ० १/४/१४)। वर्धमान का वचन इस प्रकार है—

शालातुरीयशकटाङ्गजचन्द्रगोमिदिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्याः।
मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः प्राज्ञैर्निषेवितपदद्वितया जयन्ति।।

(गण०, अ० १-श्लो० २)।

जिससे अर्थ का ज्ञान होता है, उसे पद कहते हैं-''पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्''। अतः अर्थवान् शब्द की की जाने वाली पदसंज्ञा अन्वर्थ है। लोक में देखा जाता है कि प्रामाणिकता या विश्वसनीयता के लिये सम्बद्ध-विषयक पद पर आसीन व्यक्ति का ही ग्रहण होता है। संस्कृतभाषा में भी पदों का ही व्यवहार होता है, केवल प्रकृति या केवल प्रत्ययों का नहीं-''अपदं न प्रयुञ्जीत''। प्राचीन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख हुआ है। जैसे—

ऋग्वेद—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि (१/१६४/४५)।
गोपथब्राह्मण—(ओङ्कारः) कतिपदः ? उदात्तोदात्तद्विपदः (१/१/२४, २५)।
निरुक्त—चत्वारि पदानि। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च (१३/९)।
ऋक्प्रातिशाख्य—नामाख्यातमुपसर्गो निपातश्चत्वार्याहुः पदजातानि शाब्दाः (१२/१७)।

बृहद्देवता–

धातूपसर्गावयवगुणशब्दं द्विधातुजम्।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम्।।
धातुजं धातुजाज्जातं समस्तार्थजमेव वा।
वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम्।।

(२/१०३, १०४)।

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य–एकवर्ण: पदम् (१/५४)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य–अर्थ: पदम् (३/२)।

(अर्थ्यन्ते अभिधीयन्तेऽर्था अनेनेत्यर्थ: शब्दविशेष: इत्यर्थ:। अर्थाभिधायकं यच्छब्दरूपं तत्पदं स्यात्-अनन्तभट्टभाष्यम्। अर्थाभिधायि पदम्। पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्। यद्येवं निपातस्यानर्थकस्य पदसंज्ञा न प्राप्नोति-नैष दोष:। उपरिष्टादर्थपदनिबन्धनं पदचतुष्टयं वक्ष्यति-नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। अक्षरसमुदाय: पदमक्षरं वा-उव्वटभाष्य)।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य–पदानां संहितां विद्यात्। समर्थ: पदविधिरिति (१/१/२, ३)।

ऋक्तन्त्र– पदमेकोच्चम्, प्रकृति: (३/१/२, ३)। इसमें एकदेश 'द' का भी प्रयोग किया गया है–दमु (३/१/९)।

नाट्यशास्त्र– निबद्धाक्षरसंयुक्तं पदच्छेदसमन्वितम्। निबद्धं तु पदं ज्ञेयं प्रमाणनियताक्षरम् (१४/३६)। विभक्त्यन्तं पदम् (१४/३९)।

निरुक्तभाष्य– अर्थ: पदमित्यैन्द्राणाम् (१/१)।

आपिशलीयमत–विभक्त्यन्तं पदम् (द्र०, क०च० १/१/२०)।

महाभाष्य– वर्णसमुदाय: पदम्, पदसमुदाय ऋक्, भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकवर्णं पदम्। ....अत्राप्यर्थेन युक्तो व्यपदेश:। पदं नामार्थ: (१/१/२०)।

महाभाष्यप्रदीप–अभेदोपचाराच्चार्थ एव पदादिभिरभिधीयते (१/१/२०)।

कुछ अर्वाचीन व्याकरणों में पदसंज्ञाविधायक सूत्र–

जैनेन्द्रव्याकरण–सुप्तिङन्तं पदम्, न: क्ये, सिति, स्यादावधे (१/२/१०३-६)।

शाकटायनव्याकरण–सुङ् पदम्, सिद् वल्यधातो: (१/१/६२, ६४)।

हैमशब्दानुशासन–तदन्तं पदम्, नाम सिद् व्यञ्जने, नं क्ये (१/१/२०-२२)।

मुग्धबोधव्याकरण–क्त्यन्तान्यौ दली (सू० १४)।

नारदपुराण–सुप्तिङन्तं पदं विप्र (५२/२)।

इन्द्र आदि पूर्वाचार्य अर्थवान् शब्दविशेष को पद मानते थे—पाणिनि आदि

दो प्रकार के पद मानते हैं-सुबन्त, तिङन्त। तीन प्रकार के-सुबन्त, तिङन्त, अव्यय। चार प्रकार के सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग, निपात। पाँच प्रकार के-सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग, निपात, गति तथा छह प्रकार के-उक्त पाँच तथा कर्मप्रवचनीय नाम वाले पदों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वाक्यपदीय में कहा गया है—

द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्।।

(वा० प० ३/१/१)।

सङ्गीतशास्त्र में अर्थबोधक समुदाय की पदसंज्ञा करने से कलापव्याकरण—परम्परा की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

२४. कलापे परवर्णनयनम्

व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत् (१/१/२१)।

(दुर्गवृत्तिः)

व्यञ्जनं परं वर्णं नयेत्, न तु स्वरम्। व्यञ्जनमन्वक्, स्वरः स्वयं राजते हि। यथा-तत्+गच्छति=तद्गच्छति, षट्+अत्र=षडत्र, कः खनति=क × खनति, कः फलति=क ⩙ फलति [**पाठा०**-इति योगवाहत्वात्। स्वरूपमेतत्]।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में व्यञ्जन की स्वरवर्ण के साथ योजना

व्यञ्जन वर्ण को परवर्ती वर्ण के साथ मिलाना चाहिये, स्वर को नहीं। क्योंकि अनुसरण करने वाले को व्यञ्जन कहते हैं और विना किसी दूसरे की अपेक्षा किये स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले वर्ण को स्वर कहते हैं। जैसे-तत्+गच्छति=तद्गच्छति, षट्+=अत्र=षडत्र, कः खनति= क×खनति, कः फलति=क ⩙ फलति।

२४. गान्धर्वे परस्वरनयनम्

गीतमस्वरं परं नयेत् (१/१/२१)।

अस्वरं स्वरहीनं वर्णात्मकं गीतं परं स्वरं नयेत्, न तु स्वरं गीतेन, यतः स्वरः स्वयं राजते हि।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में स्वरहीन गीत की स्वर के साथ योजना

स्वरहीन अर्थात् केवल वर्णात्मक गीत को परवर्ती स्वर के साथ मिलाना चाहिये, स्वर को गीत के साथ नहीं, क्योंकि स्वर तो किसी की अपेक्षा नहीं करता, अथ च वह तो स्वयं ही समर्थ होने के कारण सुशोभित होता है।

टिप्पणी- २५

आचार्य शर्ववर्मा ने वर्णों तथा वर्णसमूह की संज्ञाएँ करने के बाद व्यञ्जन वर्णों की स्वाभाविक स्थिति के लिये एक परिभाषासूत्र बनाकर यह स्पष्ट किया है कि स्वररहित व्यञ्जन परवर्ती वर्ण के साथ मिलता है। जैसे 'तद् गच्छति, षड् अत्र' आदि उदाहरणों में 'द्' वर्ण 'ग्' के साथ तथा 'ड्' वर्ण 'अ' स्वर के साथ मिलता है- "व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्" (१/१/२१)।

पाणिनि ने ऐसे विषयों में लोक को प्रमाण मानकर उनके लिये सूत्र नहीं बनाये हैं। वस्तुत: ककारादि व्यञ्जनों का परवर्ती वर्ण से मिलने का स्वभाव ही होता है, क्योंकि व्यञ्जन उसे ही कहते हैं जो पश्चाद्वर्ती हो। अत: तदर्थ सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, तथापि यहाँ सूत्र का बनाया जाना सुखार्थ ही समझना चाहिये या केवल स्वरूपाख्यानपरक ही मानना चाहिये। पश्चाद्वर्ती होने के कारण व्यञ्जन परतन्त्र होते हैं। अर्थात् इनके उच्चारणार्थ स्वरों की सहायता लेनी पड़ती है।

सङ्गीतशास्त्र के अनुसार वर्णात्मक गीत को परवर्ती स्वर के साथ मिलाया जाता है, स्वर को गीत के साथ नहीं। इसी प्रकार यहाँ उभयत्र समानता कही जा सकती है।

२५. कलापे सङ्घटितवर्णानां पृथक्करणम्

अनतिक्रमयन् विश्लेषयेत् (१/१/२२)।

(दुर्गवृत्तिः)

वर्णान् संघटितान् सम्मिलितान् अनतिक्रमयन् विश्लेषयेद् विघटयेदित्यर्थ:। यथा—वैयाकरणा:, उच्चकै:। [**पाठा०** -असंमोहार्थोऽयं योग:]।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में सम्मिलित वर्णों का विश्लेषण

जो वर्ण सङ्घटित अर्थात् मिले हुए होते हैं, उनका पृथक्करण विना ही अतिक्रमण (परिवर्तन) के करना चाहिये । जैसे—वैयाकरण:, उच्चकै: इत्यादि ।

२५. गान्धर्वे संयुक्ताक्षराणां पृथक्करणम्

प्रयोजनाद् युक्ताक्षरं मोक्षयेत् (१/१/२२)।

गीते लिङ्गादेर्व्यतिक्रमे विसन्धौ च प्रयोजनवशात् संयुक्ताक्षरं मोक्षयेद् विश्लेषयेदित्यर्थ:। तथा च—

लिङ्गान्यत्वे विसन्धौ च संयुक्ताक्षरमोक्षणे।
ह्रस्वदीर्घव्यतिक्रमे गीते दोषो न विद्यते।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में संयुक्ताक्षर को अलग करना

गीत में प्रयोजनवश लिङ्ग आदि का व्यतिक्रम होने की स्थिति में या फिर विसन्धि के प्रसङ्ग में संयुक्त अक्षरों को पृथक् किया जा सकता है। क्योंकि ऐसी मान्यता है कि लिङ्गभेद तथा विसन्धि के प्रसङ्ग में संयुक्त अक्षरों को अलग-अलग करने में ह्रस्व-दीर्घ का जो व्यतिक्रम सम्भावित होता है, उसमें कोई दोष नहीं माना जाता है।

टिप्पणी- २६

सम्मिलित वर्णों का विश्लेषण क्रम से ही करना चाहिये, अतिक्रमण करके नहीं-इस लोकप्रसिद्ध अर्थ का निर्देश कलापकार ने सूत्र द्वारा किया है—"अनतिक्रमयन् विश्लेषयेत्" (१/१/२२)। जैसे-"वैयाकरण' शब्द में 'व्' और 'ऐ' मिले हुये हैं। यहाँ ऐ-वर्ण की उपस्थिति से पूर्व 'व्+याकरण' शब्दरूप था, 'ऐ' का आगम होने पर 'वैयाकरण' शब्दरूप निष्पन्न हुआ। इसी प्रकार 'उच्चकैः' में भी 'उच्च+ऐस्' इस प्रकार वर्णविश्लेषण करते हैं। इसके अनन्तर 'अक्' आगम होने पर 'उच्चकैः' शब्द सिद्ध होता है।

पाणिनि ने इस लोकप्रसिद्ध अर्थ को बताने के लिये सूत्रनिर्देश नहीं किया है। उन्होंने अपनी सूत्ररचना में यही सिद्ध किया है कि लोकप्रसिद्ध अर्थों के लिये सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

व्याख्याकारों ने कहा है कि-"न य्वोः पदाद्योर्वृद्धिरागमः" (२/६/५०) सूत्र के अनुसार यकार और वकार से पूर्व वृद्धि (ऐ, औ) आगम हो। इसी प्रकार "अव्ययसर्वनाम्नः स्वरादन्त्यात् पूर्वोऽक् कः" (२/२/६४) इस सूत्र में भी अन्त्य स्वर से पूर्व 'अक्' प्रत्यय का स्पष्ट निर्देश है। अतः सूत्र बनाने का कोई मुख्य प्रयोजन तो सिद्ध नहीं किया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि मिले हुये वर्णों में वृद्धि आदि कार्य कहाँ हुये हैं-इस सन्देह के निरासार्थ यह सूत्र बनाया गया है।

सङ्गीतशास्त्र के अनुसार गीत में संयुक्त अक्षरों को अलग-अलग करने में ह्रस्व-दीर्घ का जो व्यतिक्रम होता है, उसे कोई दोष नहीं माना जाता है।

२६. कलापे लोकव्यवहारेण शब्दसिद्धिः

लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः (१/१/२३) ।

(दुर्गवृत्तिः)

लोकानामुपचारो व्यवहारः। तस्मादनुक्तस्यापि ग्रहणस्य सिद्धिर्वेदितव्येति।

[**पाठा०**-निपाताव्ययोपसर्गकारककालसंख्यालोपादयः। तथा 'वरणाः' इति नगरस्यापि संज्ञा, 'पञ्चालाः' इति जनपदस्यापि। 'पञ्चालाः, वरणाः' इति योगो न दृश्यते, संज्ञाशब्दत्वात्। हरीतक्यः फलानीति फलेष्वपि स्त्रियां वृत्तिः। एवमन्येऽपि। संज्ञाशब्दा इव तद्धिता लोकतः सिद्धाः। खलतिकं वनानीति, तेषां वचनानामेकवचनान्तमेव नाम। शब्दानामेकार्थेऽपि लिङ्गवचनभेदः। यथा आपो जलम्, दाराः कलत्रं भार्येति।

वैदिका लौकिकज्ञैश्च ये यथोक्तास्तथैव ते।
निर्णीतार्थास्तु विज्ञेया लोकात् तेषामसङ्ग्रहः।।]

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में लोकव्यवहार के अनुसार शब्दसिद्धि

लोक का उपचार=व्यवहार, उससे जिन शब्दों की सिद्धि के लिये व्याकरण-शास्त्र में कोई नियम नहीं बनाया गया है, उनकी सिद्धि=साधुता समझ लेनी चाहिये।

२६. गान्धर्वे शिष्टानुसारं गीतसिद्धिः

यस्मिन्देशे यथा शिष्टैर्गीतं विज्ञस्तथाचरेत् (१/१/२३) ।

।। इति वेदान्तदर्शन - व्याकरण - सङ्गीतादि - नानाशास्त्रविशारद - ठाकुरोपाधिक - श्रीमद्धरकुमारज - सङ्गीतनायक - श्रीमच्छौरीन्द्र - कृत - गान्धर्ववृत्तौ संज्ञा - प्रकरणं नाम सन्धौ
प्रथमः पादः समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में शिष्टानुसार गीत का व्यवहार

जिस देशविशेष में वहाँ के मान्य सङ्गीतज्ञ जन किसी गीत को जैसे गाते हैं, उन्हें उनके अनुसार ही गाना चाहिये।

टिप्पणी- २७

शब्दों के अनन्त होने के कारण और उन सभी अनन्त शब्दों का साधुत्वान्वाख्यान किसी एक व्याकरण से सम्भव न हो सकने के कारण सभी शाब्दिक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में यह निर्देश अवश्य किया है कि जिन शब्दों की सिद्धि इसमें नहीं कही गई है, उनका साधुत्व शिष्टव्यवहार तथा अन्य व्याकरण-ग्रन्थों से जान लेना चाहिये। जैसे—

पाणिनि—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६/३/१०१)।

हेमचन्द्र—सिद्धिः स्याद्वादात्, लोकात् (१/१/२, ३)।

अनुभूतिस्वरूप—लोकाच्छेषस्य सिद्धिर्यथा मातरादेः (सारस्वत-व्याकरण के अन्त में)।

आचार्य शर्वशर्मा ने भी यही भाव "लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः" (१/१/२३) इस सूत्र में व्यक्त किया है। व्याख्याकारों ने 'हरीतक्यः फलानि, खलतिकं वनानि' इत्यादि अनेक शब्द लोकव्यवहार के ही आधार पर साधु मानकर सिद्ध किये हैं। कुछ शब्दों की सिद्धि के लिये 'वा-अपि-च' आदि की अनुवृत्ति यहाँ मानी जाती है। वररुचि का मत है कि उक्त प्रकार की अनुवृत्ति से भी जो शब्द सिद्ध न हो सकें, उनकी सिद्धि लोकव्यवहार के अनुसार समझ लेनी चाहिये—

वाशब्दैश्चापिशब्दैर्वा सूत्राणां (शब्दानाम्) चालनैस्तथा।
एभिर्येऽत्र न सिध्यन्ति ते साध्या लोकसम्मताः।।

यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि-पूर्ववर्ती व्याकरण लौकिक-वैदिक उभयविध थे और पाणिनि से परवर्ती प्रायः सभी व्याकरण लौकिक शब्दों का साधुत्व बताते हैं। कलाप व्याकरण में वैदिक शब्दों का साधुत्व क्यों नहीं दिखाया गया है, इस सम्बन्ध में वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है—

वैदिका लौकिकज्ञैश्च ये यथोक्तास्तथैव ते।
निर्णीतार्थास्तु विज्ञेया लोकात् तेषामसंग्रहः।।

अर्थात् जो लौकिक शब्दों के साधुत्वज्ञान में पारङ्गत शिष्टजन हैं, वे वैदिक शब्दों का भी साधुत्व अवश्य जानते हैं। उन वैदिक शब्दों का साधुत्व-बोध उन्हीं शिष्टों के माध्यम से कर लेना चाहिये-यह समझकर ही आचार्य शर्ववर्मा ने वैदिक शब्दों के साधुत्वहेतु सूत्र नहीं बनाये।

यहाँ यह आशङ्का की जाती है कि यदि वैदिक शब्दों का साधुत्व शिष्टव्यवहार से जाना जा सकता है तो लौकिक शब्दों का भी साधुत्वबोध शिष्टव्यवहार से किया जा सकता है और इस प्रकार यदि वैदिक शब्दों के साधुत्व के लिये सूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है तो लौकिक शब्दों के लिये भी सूत्र बनाना आवश्यक नहीं है।

इस प्रश्न का समाधान करते हुये व्याख्याकारों ने कहा है कि वैदिक शब्द अल्प हैं, अतः उनका साधुत्वबोध शब्दप्रमाणक शिष्टजनों से किया जा सकता है, परन्तु लौकिक शब्द अनन्त हैं, उनके साधुत्वज्ञान का सरल और लघु उपाय सूत्ररचना (लक्षणशास्त्र) ही हो सकती है। अतः लौकिक शब्दों के साधुत्व के लिये कलापकार ने सूत्र बनाये हैं।

वैदिक शब्दों का साधुत्व न दिखाये जाने के कारण यह वेदाङ्ग नहीं है-ऐसा

नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वेदों में भी अधिकांश वे ही शब्द प्रयुक्त हैं, जिनका प्रयोग लोक में भी होता है। केवल वेद में ही प्रयुक्त शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत अत्यन्त अल्प है। दूसरे यह कि वैदिक-परम्परा युग-मन्वन्तर में भी अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है, वह कभी सर्वथा विच्छिन्न नहीं होती । फलत: वैदिक शब्दों का साधुत्वज्ञान अविच्छिन्न वैदिकपरम्परा से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार केवल लौकिक शब्दों का ही साधुत्व दिखाने वाले व्याकरण भी वेदाङ्ग सिद्ध होते हैं।

पाणिनि ने भी अनेक सूत्रों में लोकप्रामाण्य को स्पष्टरूप में स्वीकार किया है, तथापि उन्होंने कुछ वैदिक शब्दों में भी प्रकृति-प्रत्यय तथा स्वरयोजना के लिये सूत्र बनाये हैं। यह प्रसिद्ध है कि पाणिनि ने कालविषयक परिभाषा नहीं की है। अर्थात् उनका व्याकरण कालपरिभाषा से रहित है, फलत: उसे 'अकालक' कहा जाता है- **"पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्"** (का० वृ० २/४/२१)। काल की तरह प्रत्ययार्थप्राधान्य, उपसर्जन आदि विषयों में भी उनका यही मत है—"प्रधान-प्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्, कालोपसर्जने च तुल्यम्" (अ० १/२/५६-५७)। परन्तु पाणिनि की भी अपेक्षा आचार्य शर्ववर्मा ने लोकव्यवहार की प्रामाणिकता अधिक स्वीकार की है। इनके दो प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं-"सिद्धो वर्णसमाम्नाय:, लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धि:" (१/१/१, २३)।

सङ्गीतशास्त्र में भी शिष्टजनसम्मत मान्यता का समादर किया जाता है । तदनुसार जिस गीत को भिन्न भिन्न देशों में विशेषज्ञ जिस प्रकार से गाते हैं, वहाँ उन्हें प्रमाण मानकर उस शैली को अपनाया जाता है, उसमें किसी दोष की उद्भावना नहीं की जाती है।

सन्धिप्रकरण-प्रथम पाद

समाप्त



अथ सन्धिप्रकरणम्, द्वितीयः पादः

२७. कलापे दीर्घसंधिः

समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम् (१/२/१) ।

(दुर्गवृत्तिः)

समानसंज्ञको वर्णः सवर्णे परे दीर्घीभवति परश्च लोपमापद्यते । यथा –

दण्ड	+	अग्रम्	=	दण्डाग्रम्,
सा	+	आगता	=	सागता,
दधि	+	इदम्	=	दधीदम्,
नदी	+	ईहते	=	नदीहते,
मधु	+	उदकम्	=	मधूदकम्,
वधू	+	ऊढम्	=	वधूढम् ,
पितृ	+	ऋषभः	=	पितॄषभः ,
कॄ	+	ॠकार	=	कॄकारः ,
क्लृ	+	ऌकारः	=	क्लॄकारः ,
होत्लृ	+	ऋकारेण	=	होतॄकारेणेति वक्तव्यम् ।

[**पाठा०** —समानग्रहणमश्रुतादपि दीर्घात् समानात् सर्वणस्य लोपार्थम्, तेन वृक्षाः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में दीर्घ-सन्धिविधायक सूत्र

सवर्णसंज्ञक वर्ण के परवर्ती होने पर समानसंज्ञक वर्ण को दीर्घ तथा परवर्ती वर्ण का लोप होता है।

जैसे-दण्ड + अग्रम् = दण्डाग्रम् । सा + आगता = सागता ।
दधि + इदम् = दधीदम् । नदी + ईहते = नदीहते ।
मधु + उदकम् = मधूदकम् । वधू + ऊढम् = वधूढम् ।
पितृ + ऋषभः = पितॄषभः । कॄ + ॠकारः = कॄकारः ।
क्लृ + ऌकारः = क्लॄकारः। होत्लृ + ॠकारेण = होतॄकारेण ।

२७. गान्धर्वे स्वराभिव्यक्तिः

समानः सवर्णेन द्विस्त्रयोगे पूर्वो व्यक्तः परश्चाप्रकाशम् (१/२/१) ।

समानश्रुतिविशिष्टस्वरः सवर्णस्वरेण सह द्विस्त्रयोगे मिलित्वा पूर्वस्वरो व्यक्तो भवति परश्चाप्रकाशमापद्यते । यथा –

स मे   स पे   ऋ ध   ग नि

[हिन्दी-अनुवाद]सङ्गीतशास्त्र में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वर की स्थिति

समान श्रुतियों वाला स्वर सवर्णस्वर के साथ जहाँ मिलता है तो वैसी स्थिति में पूर्ववर्ती स्वर स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ता है और परवर्ती स्वर छिप जाता है । जैसे - सि मे सि पे ऋि धे गि नि ।

टिप्पणी- २८

पाणिनि ने 'दण्डाग्रम्, मधूदकम्' आदि में दीर्घविधान **"एकः पूर्वपरयोः"** (पा० ६/१/७५) के अधिकार में किया है, जिसके कारण पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों अवर्णों के स्थान में एक दीर्घ आकारादेश, दो इवर्णों के स्थान में एक दीर्घ ईकारादेश, दो उवर्णों के स्थान में एक दीर्घ ऊकारादेश तथा दो ऋवर्णों के स्थान में एक दीर्घ ॠकारादेश उपपन्न होता है-**"अकः सवर्णे दीर्घः"** (पा० ६/१/१०१)।

शर्ववर्मा ने पूर्ववर्ती अवर्णादि के स्थान में दीर्घ आकारादि आदेश तथा परवर्ती अवर्णादि का लोप किया है । इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में दो स्वरों के स्थान में तथा कलापव्याकरण में एक ही स्वर के स्थान में दीर्घ आदेश निर्दिष्ट है। इन दो विधियों में कौन सी विधि प्रशस्त है-इसका निर्णय कर पाना यद्यपि अत्यन्त दुष्कर है, तथापि इतना तो अवश्य ही् कहा जा सकता है कि स्वर उसे कहते हैं जो उच्चारण में किसी अन्य की अपेक्षा न रखता हो। इससे उसे स्वयं समर्थ माना जाता है-'स्वयं राजते इति स्वरः'। स्वयं एकाकी समर्थ होने पर दो स्वरों के स्थान में एक स्वरादेश की अपेक्षा एक ही स्वर के स्थान में एक स्वरादेशविधान अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि कलापव्याकरण में परवर्ती स्वर का लोप अधिक करना पड़ता है । तो वह इसलिये समादरणीय नहीं हो सकता कि पाणिनीय व्याकरण में **"एकः पूर्वपरयोः"** (पा० ६/१/७५) यह अधिकारसूत्र अतिरिक्त करना पड़ता है। कलापव्याकरण में परवर्ती स्वर का लोप करने के लिये अतिरिक्त सूत्र नहीं किया जाता, किन्तु एक ही सूत्र द्वारा दीर्घ तथा लोप-कार्य निर्दिष्ट हुये हैं।

व्याख्याकारों ने इस सवर्णदीर्घविधि को विकार तथा आदेश माने जाने के सम्बन्ध में कुलचन्द्र, हेमकर तथा श्रीपति आदि के मतों को प्रदर्शित किया है। एक वर्ण के स्थान में उपपन्न होने के कारण इसे कुछ विद्वान् विकार भी कहते हैं। एक वर्ण के स्थान में होने वाली विधि को विकार तथा अधिक वर्णों या धातु-पद आदि के स्थान में होने वाली विधि को आदेश माना गया है। **आपिशलि** का मत है—

आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोपः सर्वापकर्षणात्।।

कातन्त्रकार ने स्थानी को प्रथमान्त तथा आदेश को द्वितीयान्त रखा है,

निमित्त का प्रयोग तो सप्तम्यन्त ही है। पाणिनि ने स्थानी को षष्ठ्यन्त तथा आदेश का व्यवहार प्रथमान्त किया है। कातन्त्रकार की शैली पूर्वाचार्यसम्मत है।

सङ्गीतशास्त्र के अन्तर्गत समान श्रुतियों वाले दो स्वरों में पूर्ववर्ती स्वर का स्पष्टरूप में श्रवण होना और परवर्ती वर्ण का जो छिप जाना कहा गया है, उससे दीर्घविधान में कलापशास्त्रीय पद्धति का ही अनुमोदन होता है और इसीलिए इन दोनों में समानता भी सिद्ध होती है।

२८. कलापे यकारादेशः

इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः (१/२/८)।

(दुर्गवृत्तिः)

इवर्णो यमापद्यते असवर्णे, न च परो लोप्यः । यथा – दधि + अत्र = दध्यत्र, नदी + एषा = नद्येषा ।

[**पाठा०** - इवर्ण इति किम् ? पचति । असवर्ण इति किम् ? दधि] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में इवर्ण को यकारादेश

असवर्ण वर्ण के परे रहते इवर्ण को यकारादेश होता है, परन्तु परवर्ती वर्ण का लोप नहीं होता ।

जैसे – दधि + अत्र = दध्यत्र, नदी + एषा = नद्येषा ।

२८. गान्धर्वे पूर्वस्वरस्याव्यक्तता

भिन्नश्रुतिरसवर्णेन पूर्वोऽव्यक्तो न च परो लोप्यः (१/२/२)।

भिन्नश्रुतिविशिष्टस्वरोऽसवर्णस्वरेण सह द्विस्त्रयोगे मिलित्वा पूर्वस्वरोऽव्यक्तो भवति न च परो लोप्यः ।

यथा – स ग ऋ म ध प इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में पूर्वस्वर का प्रकाशित न होना

भिन्न श्रुतियों वाला स्वर जब असवर्ण स्वर के साथ मिलता है तो पूर्ववर्ती स्वर अप्रकाशित हो जाता है, परन्तु परवर्ती स्वर का लोप नहीं होता ।

जैसे – स ग ऋ म ध प इत्यादि ।

टिप्पणी- २९

'दधि+अत्र, नदी+एषा' आदि स्थिति में कलाप तथा पाणिनीय दोनों ही व्याकरणों के अनुसार असवर्ण स्वर के पर में रहने के कारण इवर्ण (इ-ई) के स्थान में यकारादेश उपपन्न होकर 'दध्यत्र, नद्येषा' शब्दरूप निष्पन्न होते हैं। इन दोनों व्याकरणों में अन्तर यह है कि पाणिनि के सूत्र-**''इको यणचि''** (पा० ६/१/७७)

द्वारा इक् के स्थान में यण् आदेश विहित है। इक् चार हैं-'इ-उ-ऋ-ऌ'। यण् भी चार हैं-'य् -व्-र्-ल्'। इ के स्थान में य्, उ के स्थान में व्, ऋ के स्थान में र्, ऌ के स्थान में ल् ही आदेश हो-एतदर्थ **"यथासंख्यमनुदेशः समानाम्"** (पा० १/३/२०; कालाप-परि० सू० २३) सूत्र बनाया गया है। अन्यथा किसी भी इक् के स्थान में कोई भी यणादेश प्रवृत्त हो सकता था। इवर्ण के १८, उवर्ण के १८, ऋवर्ण के १८ तथा ऌवर्ण के १२ भेद होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में इक् ६६ होते हैं (कलाप में ऌ को दीर्घ भी माने जाने से ७२ भेद हैं) तथा य् के २, र् का १, ल् के २ एवं व् के २ भेद होने से यण् ७ ही हैं।

इस प्रकार 'इक्' के स्थान में 'यण्' आदेश का आन्तरतम्य सिद्ध नहीं हो पाता। इसके समाधानार्थ वर्णसमाम्नाय में पठित प्रत्येक वर्ण को ही आधार मानना पड़ता है। 'इको यण्'-इस निर्देश में अल्पशब्दप्रयोग की दृष्टि से शब्दलाघव तो कहा जा सकता है, परन्तु उक्त समग्र बोध के लिये जो पर्याप्त आयास करना पड़ता है, उसकी अपेक्षा तो कलाप का ही सूत्रपाठ सरल कहा जाएगा। जिसमें इवर्ण के स्थान में यकारादेश-हेतु एक स्वतन्त्र सूत्र है। इसी प्रकार उवर्ण के स्थान में वकारादेश-हेतु, ऋवर्ण के स्थान में रकारादेश-हेतु एवं ऌवर्ण के स्थान में लकारादेश-हेतु पृथक् पृथक् सूत्र हैं।

सङ्गीतशास्त्र के नियमानुसार कहीं पर पूर्ववर्ती स्वर अप्रकाशित हो जाता है, परन्तु परवर्ती स्वर का लोप नहीं होता। इसी से दोनों में समानता कही जा सकती है।

२९. कलापे 'य् - व् ' वर्णलोपः

अयादीनां यवलोपः पदान्ते न वा लोपे तु प्रकृतिः (१/२/१६) ।

(दुर्गवृत्तिः)

'अय्' इत्येवमादीनां पदान्ते वर्तमानानां यवयोर्लोपो भवति न वा लोपे तु प्रकृतिः स्वभावो भवति ।

यथा – ते + आहुः = त आहुः , ते + आहुः = तयाहुः ।

तस्मै + आसनम् = तस्मा आसनम् , तस्मै + आसनम् = तस्मायासनम् ।

[**पाठा०** - पट इह, पटविह। असा इन्दुः, असाविन्दुः। अयादीनामिति किम्?दध्यत्र, मध्वत्र। पदान्त इति किम् ?नयनम् , लावकः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में 'य् - व्' का लोप

पदान्त में वर्तमान 'अय्' इत्यादि रूपों में य् - व् का लोप होता है और लोप न होने पर उसका प्रकृतिभाव हो जाता है ।

जैसे – ते + आहुः = त आहु, तयाहुः । तस्मै + आसनम् = तस्मा आसनम् , तस्मायासनम् ।

२९. गान्धर्वे स्वरलोपाभावः

स्वश्रुतिः सप्तको भिन्नसप्तकान्तर्गतं न कोऽपि लोपः प्रकृतिः (१/२/३) ।

स्वकीयश्रुतिविशिष्ट एकसप्तकान्तर्गतस्वरो भिन्नसप्तकान्तर्गतं स्वरं प्राप्य न कोऽपि लोपः प्रकृतिः स्वभावो भवति । लोपः अव्यक्त इत्यर्थः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में स्वर के लोप का अभाव

अपनी श्रुतियों वाला तथा किसी एक सप्तक में रहने वाला स्वर जब भिन्न सप्तक के अन्तर्गत स्वर को प्राप्त करता है तो उसका लोप न होकर प्रकृतिभाव हो जाता है ।

टिप्पणी- ३०

'तय्+आहुः, तस्माय्+आसनम्, असाव्+इन्दुः' इस स्थिति में कातन्त्र और पाणिनीय दोनों ही व्याकरणों के अनुसार विकल्प से पदान्तवर्ती 'य्-व्' वर्णों का लोप होता है। लोपपक्ष में दीर्घ-गुणादि कार्य नहीं होते। इस प्रकार 'तयाहुः-त आहुः, तस्मायासनम्-तस्मा आसनम्, असाविन्दुः-असा इन्दुः' आदि दो दो रूप सिद्ध होते हैं। इस प्रकार कार्य की दृष्टि से दोनों व्याकरणों में विषमता प्रतीत नहीं होती, परन्तु जहाँ कलापकार ने लोप का वैकल्पिक निर्देश किया है, वहीं पर पाणिनि ने शाकल्य के मत में लोप दिखाया है। कलापकार ने इस लोपविधायक सूत्र में ही लोपपक्ष में प्राप्त सन्धि के निषेधार्थ प्रकृतिभाव कहा है, परन्तु पाणिनि 'य्-व्' का लोप हो जाने पर दीर्घादि सन्धि के वारणार्थ उन्हें असिद्ध मानते हैं-"**पूर्वत्रासिद्धम्**" (८/२/१), जिससे 'य्-व्' का व्यवधान उपस्थित होता है और फलतः दीर्घादि सन्धि नहीं होती ।

कातन्त्रसूत्र में 'य्-व्' के लोप का कोई निमित्त नहीं बताया गया है। पाणिनीय व्याकरण में लोपविधायक "**लोपः शाकल्यस्य**" (पा० ८/३/१९) सूत्र में "**भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि**" (पा० ८/३/१७) इस सूत्र से '**अशि**' पद की अनुवृत्ति की जाती है, अतः निमित्त निश्चित हो जाता है। कलापसूत्रकार तथा वृत्तिकार आदि ने जो इसकी आवश्यकता नहीं समझी, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पदान्त में 'य्-व्' वर्ण आदिष्ट होकर तभी आते हैं, जब स्वरवर्ण पर में होता है। किसी स्वर के परवर्ती न होने पर एकारादि के स्थान में अयादि आदेश नहीं होते और इस प्रकार पदान्त में 'य्-व्' वर्ण नहीं मिल पाते। अतः 'स्वरे'-यह निमित्तबोधक पद न होने पर भी लोप करने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। सङ्गीतशास्त्रीय स्वर में प्रकृतिभाव से इसकी समानता दिखाकर ग्रन्थकार ने दो व्याकरणों में अपनी पारङ्गामिता सिद्ध की है ।

३०. कलापे अकारलोपः

एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः (१/२/१७) ।

(दुर्गवृत्तिः)

एदोद्भ्यां परोऽकारः [१]पदान्ते वर्तमानो लोपमापद्यते । **यथा** – ते + अत्र = तेऽत्र, पटो + अत्र = पटोऽत्र इत्यादि ।

[**पाठा०** - एदोद्भ्यामिति किम्? तावत्र । पदान्तग्रहणं पदान्ताधिकारनिवृत्त्यर्थम् । तेन चितम् , स्तुतम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अकार का लोप

पदान्तवर्ती एकार - ओकार के बाद आने वाले अकार का लोप होता है । जैसे – ते + अत्र = तेऽत्र, पटो + अत्र = पटोऽत्र इत्यादि ।

३०. गान्धर्वे सप्तकस्य ग्रहणम्

सप्तकग्रहणे सप्तकान्तग्रहणम् (१/२/४) ।

एकसप्तकग्रहणे सप्तकान्तर्गतस्वरस्य ग्रहणम्भवति ।

यथा – उदात्तसप्तकग्रहणे अनुदात्तसप्तकस्य ग्रहणम् ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में एक से दूसरे सप्तक का ग्रहण

किसी एक सप्तक का ग्रहण किये जाने पर अन्य सप्तकान्तर्गत स्वर का ग्रहण होता है । जैसे – उदात्तसप्तक का ग्रहण करने पर अनुदात्तसप्तक का ग्रहण।

टिप्पणी- ३१

'ते+अत्र, पटो+अत्र' इस स्थिति में कलाप के निर्देशानुसार पदान्तस्थ 'ए-ओ' से परवर्ती अकार का लोप हो जाता है। वर्तमान लेखनपद्धति के अनुसार उस लुप्त अकार के अवबोधार्थ रोमनलिपि के वर्ण (ऽ) को वहाँ योजित कर लिखा जाता है-'तेऽत्र, पटोऽत्र'। इस चिह्न को सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पूर्वरूप चिह्न कहते हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार **"एङः पदान्तादति"** (पा० ६/१/१०९) सूत्र द्वारा पदान्तवर्ती 'ए-ओ' तथा अग्रिम ह्रस्व अकार के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है । अर्थात् अकार वर्ण अपने से पूर्ववर्ती एकार अथवा ओकार में समाहित हो जाता है। इसके अवगमार्थ लगाये जाने वाले (ऽ) चिह्न को पूर्वरूप-चिह्न कहा जाता है। इस प्रकार लिपि में समानता होने पर भी साधन-पद्धति में जो अन्तर

---

१. 'पदान्ते' इत्यस्य सम्बन्धः 'एदोद्भ्याम्' इति पदेन सह कर्तव्यः , अकारस्य पदान्तत्वानपेक्षितत्वात् । तस्मात् 'पदान्ते वर्तमानाभ्यामेदोद्भ्यां परोऽकारो लोपमापद्यते' इत्यर्थोऽवगन्तव्यः ।

दृष्ट है, तदनुसार प्रक्रियाबोध की दृष्टि से कलाप-प्रक्रिया को ही सरल कहना होगा, क्योंकि वस्तुतः अकार का दर्शनाभाव ही होता है, अतः उसका लोप करना ही अधिक समीचीन है। क्योंकि यहाँ अन्तादिवद्भाव करने की कोई आवश्यकता उपस्थित नहीं होती-"**अन्तादिवच्च**" (६/१/८५)।

कलापव्याकरण में अकारलोप के साथ गान्धर्वशास्त्रीय कार्य की जो समानता दिखाई गई है, उसमें सङ्गीतमर्मज्ञ विद्वान् ही प्रमाण हैं ।

३१. कलापे स्वरसन्धिनिषेधः

न व्यञ्जने स्वराः सन्धेयाः (१/२/१८) ।

(दुर्गवृत्तिः)

न खलु व्यञ्जने परे स्वराः सन्धानीया भवन्ति ।

यथा – देवी + गृहम् = देवीगृहम् । पटु + हस्तम् = पटुहस्तम् । मातृ + मण्डलम् = मातृमण्डलम् । जले + पद्मम् = जलेपद्मम् ।

[**पाठा०** - रैधृतिः, वायोगतिः, नौयानम् । 'नञा निर्दिष्टमनित्यम्' (का०परि०सू० ३७)। तेन पित्र्यम् , गव्यूतिः । अध्वमाने संज्ञेयम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में स्वरसन्धि का निषेध

व्यञ्जन वर्ण के परे रहते स्वरवर्णों में सन्धि नहीं होती है ।

जैसे – 'देवी + गृहम् = देवीगृहम् , पटु + हस्तम् = पटुहस्तम् , मातृ + मण्डलम् = मातृमण्डलम् , जले + पद्मम् = जलेपद्मम्' इत्यादि।

३१. गान्धर्वे गीतसन्धिनिषेधः

स्वरश्चादौ न गीतं सन्धेयम् (१/२/५) ।

आदौ स्वरसंयोगे सति पश्चाद् गीतं न सन्धानीयं भवति । अतः आदौ गीतं पश्चात् स्वरः ।

।। इति वेदान्तदर्शन - व्याकरण - सङ्गीतादि - नानाशास्त्रविशारद - ठाकुरोपाधिक - श्रीमद्धरकुमारज - सङ्गीतनायक - श्रीमच्छौरीन्द्र - कृत - गान्धर्ववृत्तौ सन्धौ द्वितीयः पादः समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में गीत-सन्धान का निषेध

प्रारम्भ में स्वरसंयोग हो जाने पर जो गीत बाद में गाया जाता है, उसको फिर स्वर से नहीं मिलाया जाना चाहिये । इसके फलस्वरूप प्रारम्भ में गीत होना चाहिये और बाद में स्वरसंयोग ।

टिप्पणी- ३२

'देवी+गृहम्, पटु+हस्तम्' इत्यादि स्थलों में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार इवर्णादि के स्थान में यकारादि आदेश प्राप्त ही नहीं होते, क्योंकि **''इको यणचि''** (पा० ६/१/१७) सूत्र में स्पष्टतया 'अच्' शब्द का पाठ किया गया है और 'ग्-ह्' आदि 'अच्' में नहीं आते। इसके अतिरिक्त **''तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, तस्मादित्युत्तरस्य''** (पा० १/१/६६, ६७) परिभाषासूत्र भी पठित हैं। कातन्त्रकार का सूत्र है-**''इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः''** (१/२/८)। यहाँ 'स्वरे' शब्द का पाठ नहीं है। ऐसा होने पर यदि सवर्णव्यवहार स्वर के लिये ही मान लिया जाय, क्योंकि सवर्णसंज्ञा स्वरवर्णों की ही होती है, उस स्थिति में तो सवर्णसंज्ञक स्वरों से भिन्न अर्थात् असवर्ण स्वरों के परवर्ती होने पर यकारादि आदेश होंगे और व्यञ्जन वर्णों के पर में रहने पर नहीं। इस स्थिति में तो प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, परन्तु कुछ विद्वान् 'असवर्ण' शब्द का अर्थ करते हैं—स्वभावतः विसदृश (विषम)। इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर असवर्ण व्यञ्जन वर्ण के भी परवर्ती होने पर यकारादि आदेश प्राप्त हो सकते हैं, उनके वारणार्थ इस सूत्र को बनाना आवश्यक है।

इस सूत्र के कारण 'देवी+गृहम्' में **''इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः''** (१/२/८) सूत्र से ईकार का यकारादेश, 'पटु+हस्तम्' में **''वमुवर्णः''** (१/२/९) सूत्र से उ को व् आदेश, 'मातृ+मण्डलम्' में **''रम् ऋवर्णः''** (१/२/१०) सूत्र से ऋ को र् आदेश, 'जले+पद्मम्' में **''ए अय्''** (१/२/१२) सूत्र से ए को अय् आदेश, 'रै+धृतिः' में **''ऐ आय्''** (१/२/१३) सूत्र से ऐ को आय् आदेश, 'वायो+गतिः' में **''औ आव्''** (१/२/१५) सूत्र से औ को आव् आदेश नहीं होता है।

व्याख्याकारों के अनुसार आचार्य शर्ववर्मा ने इस सूत्र की रचना केवल मन्दबुद्धि वाले शिष्यों के ही अवबोधार्थ की है। अतः इस पर आक्षेप नहीं किया जा सकता । यह भी ध्यातव्य है कि 'पित्र्यम्, गव्यम्, गव्यूतिः' आदि ऐसे शब्दों में भी सन्धि होती है, जिनमें व्यञ्जन वर्ण ही परवर्ती हैं। पाणिनीय व्याकरण में 'र्-अव्' आदेशों के विधानार्थ पृथक् सूत्र बनाये गये हैं। कलापव्याकरण में 'नञा निर्दिष्टमनित्यम्' (का० परि० सू० ३७) परिभाषा के बल से इस विधि को अनित्य मानकर रकारादि आदेश किये गये हैं।

सङ्गीतशास्त्र में पहले स्वरसंयोग हो जाने पर गीत के स्वरसन्धान का निषेध करके कलापव्याकरण की विधि के साथ पर्याप्त साम्य प्रस्तुत किया गया है।

सन्धिप्रकरण-द्वितीय पाद

समाप्त



अथ सन्धिप्रकरणम् , तृतीयः पादः

३ २. कलापे प्रकृतिभावः

ओदन्ता अ इ उ आ निपाताः स्वरे प्रकृत्या (१/३/१) ।

(दुर्गवृत्तिः)

ओदन्ता निपाता: अ-इ-उ-आश्च केवला: स्वरे परे प्रकृत्या तिष्ठन्ति । नो अत्र, अहो आश्चर्यम् , अथो एवम् , अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ इत्यादि। [**पाठा०** - आ एवं किं मन्यसे, आ एवं नु तत् । एषामिति किम् ? नवाउ । अन्तग्रहणमकारादीनां केवलार्थम् । तेन चेति, इतीह, नन्विति, वेति। निपाता इति किम् ? पट इह, ईषतुः ,ऊषतुः , आटतुः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में निपातों का प्रकृतिभाव

स्वर वर्णों के परे रहते 'ओकारान्त - अ - इ - उ - आ' निपातों का प्रकृतिभाव होता है । जैसे – 'नो अत्र, अहो आश्चर्यम् , अथो एवम् , अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ' इत्यादि।

३ २. गान्धर्वे प्रकृतिभावः

तीव्रमध्यमो निपातश्चासम्मिलितः प्रकृत्या (१/३/१) ।

केनापि स्वरेणासम्मिलितस्तीव्रमध्यमस्वरो निपातरूपे प्रकृत्या तिष्ठति।

यथा – म

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में स्वर का प्रकृतिभाव

किसी भी अन्य स्वर से न मिले हुये तीव्र-मध्यम स्वर का निपात के रूप में प्रकृतिभाव होता है । यथा – म

टिप्पणी- ३ ३

प्रकृतिभाव के विधान में दो पद्धतियाँ देखी जाती हैं। एक के अनुसार प्रगृह्यसंज्ञा करने के बाद प्रकृतिभाव किया जाता है तो दूसरी के अनुसार साक्षात् ही प्रकृतिभाव प्रवृत्त होता है। पाणिनीय व्याकरण में पहली पद्धति अपनाई गई है और कलापव्याकरण में दूसरी। समीक्षा करने पर कलापव्याकरण की ही प्रक्रिया में लाघव सिद्ध होता है और पाणिनीय प्रक्रिया में गौरव।

सङ्गीतशास्त्र में किसी भी अन्य स्वर से न मिले हुए तीव्र-मध्यम स्वर का निपात के रूप में प्रकृतिभाव स्वीकार किया गया है, उससे कलापशास्त्रीय उक्त विधान के साथ सादृश्य सिद्ध होता है।

३ ३. कलापे प्रकृतिभावः

द्विवचनमनौ (१/३/२) ।

(दुर्गवृत्तिः)

द्विवचनं यदनौभूतं तत् स्वरे परे प्रकृत्या तिष्ठति । औकाररूपं परित्यज्य रूपान्तरं प्राप्तमित्यर्थः । 'अग्नी एतौ, पटू इमौ, शाले एते, माले इमे' इत्यादि। [**पाठा०** - द्विवचनमिति किम् ? चित्र न्वत्र । पर्युदासः किम् ? अयजावह्यावाम् । देवयोरत्र । अनौभूतमिति किम् ? तावत्र] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में द्विवचन का प्रकृतिभाव

स्वर के परे रहते औकाररूप को छोड़कर अन्य रूप को प्राप्त हुये 'ईकारान्त - ऊकारान्त - एकारान्त' द्विवचन का प्रकृतिभाव होता है । जैसे 'अग्नी एतौ, पटू इमौ, शाले एते, माले इमे' इत्यादि।

३ ३. गान्धर्वे प्रकृतिभावः

सं द्वाभ्यामुच्चारितौ (१/३/२) ।

सं सम्यक् प्रकारेण द्वाभ्याम् उच्चारितौ स्वरौ न कोऽपि व्यक्तमव्यक्तं द्वौ प्रकृत्या तिष्ठतः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में दो के द्वारा उच्चरित स्वरों का प्रकृतिभाव

दो व्यक्तियों के द्वारा पूर्णरूप से उच्चरित दो स्वरों में से कोई भी व्यक्त या अव्यक्त नहीं होता, किं च उसका प्रकृतिभाव हो जाता है ।

टिप्पणी- ३४

'अग्नी एतौ, पटू इमौ, शाले एते, माले इमे' इत्यादि स्थलों में 'अग्नि-पटु-शाला' और 'माला' शब्दों से प्रथमा-विभक्ति-द्विवचन 'औ' प्रत्यय के आने पर 'इ-उ' आदेश तथा सवर्णदीर्घ या गुण प्रवृत्त होता है। उनसे पर में स्वरादि सर्वनामों के रहने पर पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पहले इनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है-**''ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्''** (पा० १/१/११) और तब **''प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्''** (पा० ६/१/१२५) से प्रकृतिभाव।

कातन्त्र के अनुसार किसी संज्ञा के विना सीधे ही जो प्रकृतिभाव करके उक्त

रूपों की सिद्धि की जाती है, उससे लाघवप्रतीति स्पष्ट है। प्रकृतिभाव की व्यवस्था न होने पर 'अग्नी एतौ' में **"इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः"** (१/२/८) से ई को य् आदेश, 'पटू इमौ' में **"वमुवर्णः"** (१/२/९) से ऊ को व् आदेश एवं 'शाले एते, माले इमे' में **"ए अय्"** (१/२/१२) सूत्र से ए को अय् आदेश हो जाता।

सूत्रस्थ 'अनौ' पद में 'नञ्' को पर्युदास मानने के कारण और पर्युदास के तद्भिन्न तत्सदृशग्राही होने से 'अयजावह्यावाम्' तथा 'देवयोरत्र' में प्रकृतिभाव नहीं होता है। ज्ञातव्य है कि वहि एवं ओस् प्रत्यय द्विवचन में होते हैं, परन्तु औ-रूप नहीं हैं। अतः इनके 'औ' से भिन्न सिद्ध होने पर भी 'औ' से सादृश्य उपपन्न नहीं होता। फलतः यहाँ प्रकृतिभाव की प्रवृत्ति भी नहीं होती। पर्युदास तथा प्रसज्यप्रतिषेध के क्रमिक लक्षण इस प्रकार हैं—

प्राधान्यं तु विधेर्यत्र निषेधे चाप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदे न नञ्।।
अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।

सङ्गीतशास्त्र में किसी भी अन्य स्वर से न मिले तीव्र-मध्यम स्वर का निपात के रूप में प्रकृतिभाव स्वीकार किया गया है, उससे कलापशास्त्रीय उक्त विधान के साथ सादृश्य सिद्ध होता है।

३४. कलापे प्रकृतिभावः

बहुवचनममी (१/३/३) ।

(दुर्गवृत्तिः)

बहुवचनं यदमीरूपं तत् स्वरे परे प्रकृत्या तिष्ठति । 'अमी अश्वाः, अमी एडकाः' इत्यादि।

[**पाठा०** - बहुवचनमिति किम् ? अम्यत्र । अमीरूपमिति किम् ? त आहुः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अमीशब्दरूप बहुवचन का प्रकृतिभाव

स्वर के परे रहते अमीरूप बहुवचन का प्रकृतिभाव होता है । जैसे – 'अमी अश्वाः, अमी एडकाः' इत्यादि।

३४. गान्धर्वे प्रकृतिभावः

सं बहुभिस्तथा (१/३/३) ।

सम्यक् प्रकारेण बहुभिरुच्चारितैः स्वरैस्तथा न कोऽपि व्यक्तमव्यक्तं सर्वे प्रकृत्या तिष्ठन्ति इत्यादि।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सभी स्वरों का प्रकृतिभाव

बहुत से व्यक्तियों द्वारा पूर्वतया उच्चारित बहुत स्वरों में से कोई भी स्वर व्यक्त या अव्यक्त नहीं होता, किन्तु उन सभी का प्रकृतिभाव हो जाता है ।

टिप्पणी- ३५

१. पाणिनि के अनुसार 'अमी ईशा:' इत्यादि स्थलों में **''अदसो मात्''** (१/१/१२) से प्रगृह्यसंज्ञा और उसका **''प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्''** (६/१/१२५) से प्रकृतिभाव होता है, जबकि कलाप के अनुसार विना ही प्रगृह्यसंज्ञा किये यहाँ प्रकृतिभाव निर्दिष्ट है। अत: प्रक्रिया की दृष्टि से कलापकार ने लाघव दिखाया है।

२. कलाप के सूत्र में बहुवचन का निर्देश स्पष्ट है, अत: प्रकृत सूत्र केवल 'अमी' में ही प्रवृत्त होता है, 'अमू' में नहीं। पाणिनि ने **''ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्''** (१/१/११) में द्विवचन का उल्लेख किया है, परन्तु **''अदसो मात्''** (१/१/१२) में नहीं। फलत: उससे 'रामकृष्णावमू आसाते' में भी प्रगृह्यसंज्ञा करनी पड़ती है। 'अमुकेऽत्र' में प्रगृह्यसंज्ञा न हो-एतदर्थ 'मात्' पद भी पढ़ना पड़ता है। कलाप में द्विवचन तथा बहुवचन शब्द का स्पष्ट उल्लेख है एवं बहुवचन के साथ 'अमी' रूप भी पठित है। जिससे 'अमुकेऽत्र' में प्रकृतिभाव होने का अवसर ही नहीं है। प्रकृतिभाव का विधान न होने पर यहाँ **''इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्य:''** (१/२/८) से 'ई' के स्थान में 'य्' आदेश हो जाता है। 'अम्यत्र' में अमी शब्द बहुवचनान्त नहीं है। रोगार्थक 'अम' शब्द से 'इन्' प्रत्यय होने पर निष्पन्न 'अमी' शब्द को अत्र के साथ मिलाने पर उक्त सूत्र से यकारादेश हो जाता है।

३५. कलापे प्रकृतिभावः

अनुपदिष्टाश्च (१/३/४) ।

(दुर्गवृत्ति:)

ये चाक्षरसमाम्नायविषये व्यक्त्या नोपदिष्टा:, जात्या तु स्वरसञ्ज्ञिता:, प्लुतास्ते स्वरे परे प्रकृत्या तिष्ठन्ति । यथा – आगच्छ भो देवदत्त३ अत्र, तिष्ठ भो यज्ञदत्त३ इह ।

***दूराह्वाने गाने रोदने च प्लुतास्ते लोकतः सिद्धाः ।**

---

* दूराह्वान इत्यादि । ते चानियता एव नाटकेष्वपि दृश्यन्ते, अत इह प्लुतनियमो न कृत इति दुर्गसिंह:। किञ्च नाटकेष्वप्युपलभ्यन्ते, अत इह दूराद्धूतौ चेत्यादि प्लुतनियमो न कृत इति त्रिलोचन: ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में प्लुतों का प्रकृतिभाव

अक्षरसमाम्नाय में जो व्यक्ति के रूप में तो नहीं पढ़े गये, किन्तु जाति के रूप में जो माने जाते हैं, उन प्लुतों का स्वर के परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है। जैसे - 'आगच्छ भो देवदत्त३ अत्र। तिष्ठ भो यज्ञदत्त३ इह'। दूर से बुलाने, रोने या गाने इत्यादि में ही इस प्रकृतिभाव का नियम नहीं किया गया है, क्योंकि नाटक इत्यादि में भी इनका प्रयोग होने से ये अनियत कहे जाते हैं। दूर से बुलाने, गाने तथा रोने में प्लुत का प्रयोग लोकव्यवहार के अनुसार सिद्ध होता है।

३५. गान्धर्वे प्लुतसंज्ञा

त्रिमात्रायां दूराह्वाने गाने च प्लुता ज्ञेयाः (१/३/४)।

त्रिमात्रोच्चारणे दूराह्वाने गाने च प्लुता ज्ञेयाः। यथा – त्रिमात्रोच्चारणे –

।	।।	।।।
स	स	स

।। इति वेदान्तदर्शन - व्याकरण - सङ्गीतादि - नानाशास्त्रविशारद - ठाकुरोपाधिक - श्रीमद्धरकुमारज - सङ्गीतनायक - श्रीमच्छौरीन्द्र - कृत - गान्धर्ववृत्तौ सन्धौ तृतीयः पादः समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में प्लुतसंज्ञा

तीन मात्राओं के प्रयोग में, दूर से बुलाने तथा गाने में किसी भी स्वर की प्लुतसंज्ञा होती है। जैसे तीन मात्राओं के उच्चारण में –

।	।।	।।।
स	स	स

टिप्पणी- ३६

पाणिनीय और कलाप दोनों ही व्याकरणों में प्लुत का प्रकृतिभाव किया गया है, स्वर के पर में रहने पर। यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि पाणिनि ने त्रिमात्रिक अच् की प्लुतसंज्ञा मानी है-"**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः**" (पा० १/२/२७), परन्तु कलापचन्द्रकार सुषेण विद्याभूषण के अनुसार कहीं पर भी प्लुत को त्रिमात्रिक नहीं दिखाया गया है। अतः दीर्घ को ही प्लुत मानना चाहिये। सामान्यतया पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त भी प्रायः व्याकरणशास्त्र में प्लुत को त्रिमात्रिक ही माना जाता

है। एक विवरण[१] के अनुसार तो प्लुत को चतुर्मात्रिक भी मानने के लिये कहा गया है। विशेषत: 'ए' और 'ओ' जब प्लुत होते हैं तो उनके विषय में प्लुत को चतुर्मात्रिक भी मानना उचित हो सकता है, परन्तु वहाँ सिद्धान्त त्रिमात्रिक प्लुत का ही स्थापित किया जाता है। कलापचन्द्रकार ने प्लुत के स्वरूपत: उपदेश की बात कहकर उसे स्वीकार नहीं किया है। वस्तुत: ऐसा होने पर भी यजु:प्रातिशाख्य आदि में उसे जो स्वरूपत: त्रिमात्रिक के रूप में पढ़ा गया है, उसे देखकर तो कलापचन्द्रकार का वचन प्रमादपूर्ण ही कहा जा सकता है।

सङ्गीतशास्त्र में स्वर की की गई प्लुतसंज्ञा व्याकरणशास्त्रसम्मत ही कही जा सकती है।

सन्धिप्रकरण-तृतीय पाद
समाप्त ।



१. द्र०, म० भा० ८/२/१०६; पा० व्या० शा० ता०, पृ० ५२-५३, १९९-२०० ।

अथ सन्धिप्रकरणम् , चतुर्थः पादः

३६. कलापे तृतीयवर्णादेशः

वर्गप्रथमाः पदान्ताः स्वरघोषवत्सु तृतीयान् (१/४/१) ।

(दुर्गवृत्तिः)

वर्गप्रथमाः पदान्ताः स्वरघोषवत्सु तृतीयानापद्यन्ते ।

यथा – वाक् + अत्र = वागत्र, षट् + गच्छन्ति = षड् गच्छन्ति इत्यादि ।

[**पाठा०** - वर्गप्रथमा इति किम् ? भवानाहं । पदान्ता इति किम् ? शकनीयम् । स्वरघोषवत्स्विति किम् ? वाक्पूताः, षट् कुर्वन्ति] ।

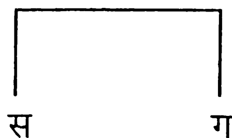
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में वर्गीय प्रथम वर्णों का तृतीयवर्णादेश

स्वर तथा घोषवत्सञ्ज्ञक वर्णों के परे रहते पदान्तवर्ती वर्गीय प्रथम (क, च, ट, त, प) वर्ण तृतीय वर्ण (ग, ज, ड, द, ब) हो जाते हैं। जैसे – वाक् + अत्र = वागत्र, षट् + गच्छन्ति = षड् गच्छन्ति इत्यादि।

३६. गान्धर्वे षड्जस्वरसन्धिः

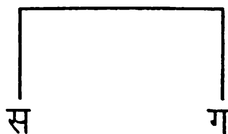
वर्गप्रथमस्तृतीयेन (१/४/१) ।

वर्गप्रथमषड्जस्वरस्तद्वर्गतृतीयेन सह मिलित्वा सन्धिर्भवति । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में वर्गप्रथम षड्जस्वर की सन्धि

वर्गप्रथम में षड्ज स्वर उस वर्ग के तृतीय से मिलकर सन्धिभाव को प्राप्त होता है । जैसे –



टिप्पणी- ३७

कलापव्याकरण के अनुसार पद के अन्त में वर्तमान वर्गीय प्रथम वर्णों (क्-च्-ट्-त्-प्) के स्थान पर क्रमशः तृतीय वर्ण (ग्-ज्-ड्-द्-ब्) हो जाते हैं, यदि स्वरसंज्ञक वर्ण (अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ए-ऐ-ओ-औ) अथवा घोषसंज्ञक वर्ण (ग्-घ्-ङ्-ज्-झ्-ञ्-ड्-ढ्-ण्-द्-ध्-न्-ब्-भ्-म्-य्-र्-ल्-व्-ह्) पर में रहें तो।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "**झलां जशोऽन्ते**" (८/२/३९) सूत्र

प्रवृत्त होता है। इसके अर्थ को जानने के लिये सर्वप्रथम 'झल्-जश्'[१] प्रत्याहारों का सम्यग् ज्ञान तथा स्थान-प्रयत्न[२]-विवेक* अपेक्षित होता है और इस प्रकार पाणिनीय प्रक्रिया में कृत्रिमता के कारण दुर्बोधता अधिक प्रतीत होती है, जबकि कलापीय प्रक्रिया में लोकव्यवहार का आश्रय लिये जाने से सरलता हो सकती है।

*आभ्यन्तर—बाह्यप्रयत्नज्ञापनचक्र

आभ्यन्तरप्रयत्न	स्पृष्ट			ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत		विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श			अन्तःस्थ	ऊष्म		स्वर	
							उदात्त अनुदात्त स्वरित	
व्यञ्जन, स्वर	क ख प फ च छ ट ठ त थ	ग ङ ब म ज ञ ड ण द न	घ भ झ ढ ध	य व र ल	श ष स ह		अ इ ए उ ओ ऋ ऐ ऌ औ	प्रयोग में ह्रस्व 'अ'
बाह्यप्रयत्न	अ.प्रा.म.प्रा.	अ. प्रा.	म.प्रा.	अल्प	म.प्रा.	म.प्रा.	अल्प्राण	अल्पप्राण
	विवार श्वास अघोष	संवार नाद घोष	संवार नाद घोष	संवार नाद घोष	विवार श्वास अघोष	संवार नाद घोष	संवार नाद घोष	संवार नाद घोष

१. वर्णसमाम्नाय-सूत्र (१४), प्रत्याहारविधायक तथा इत्-लोप-विधायक सूत्रों के ज्ञान के अनन्तर ही किसी प्रत्याहार का बोध होता है।

२. झल् वर्ण २४ हैं-झ्-भ्-घ्-ढ्-ध्-ज्-ब्-ग्-ड्-द्-ख्-फ्-छ्-ठ्-थ्-च्-ट्-त्-क्-प्-श्-ष्-स्-ह्, जबकि जश् वर्ण केवल ५ ही हैं-ज्-ब्-ग्-ड्-द्। किसी भी वर्ग के सभी वर्णों का स्थान एक ही होता है। स्पृष्ट प्रयत्न 'क्' से लेकर 'म्' तक के सभी वर्णों का है। अतः बाह्यप्रयत्न 'अल्पप्राण' की समानता से प्रथम के स्थान में तथा 'संवार-नाद-घोष' की समानता से चतुर्थ के स्थान में 'जश्' होता है।

३७. कलापे पञ्चमवर्णादेशः

पञ्चमे पञ्चमांस्तृतीयान्न वा (१/४/२) ।

(दुर्गवृत्तिः)

वर्गप्रथमाः पदान्ताः पञ्चमे परे पञ्चमानापद्यन्ते तृतीयान्न वा । यथा – वाक् + मती = वाङ्मती, वाग्मती । षट् + मुखानि = षण्मुखानि, षड् मुखानि । तत् + नयनम् = तन्नयनम्, तद् नयनम् । त्रिष्टुप् + मिनोति = त्रिष्टुम्मिनोति, त्रिष्टुब् मिनोति ।

[**पाठा०** - पदान्ते धुटां प्रथमे सति – दृशन्नयनम् , ज्ञानभुन्नाथो वा । व्यवस्थितविभाषया प्रत्ययपञ्चमे नित्यं पञ्चमो भाषायाम् । वाङ्मयम् , यन्मात्रम्] ।

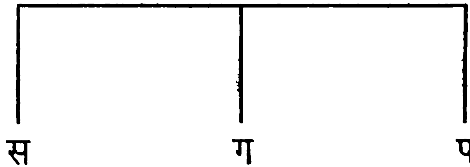
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में वर्गीय पञ्चम वर्णादेश

वर्गीय पञ्चम वर्णों के परे रहते पदान्तवर्ती वर्गीय प्रथम वर्ण वर्गीय पञ्चम अथवा तृतीय वर्ण हो जाते हैं । जैसे – वाक् + मती = वाङ्मती, वाग्मती। षट् + मुखानि = षण्मुखानि, षड् मुखानि। तत् + नयनम् = तन्नयनम् , तद् नयनम्। त्रिष्टुप् + मिनोति = त्रिष्टुम्मिनोति, त्रिष्टुब्मिनोति ।

३७. गान्धर्वे षड्जस्वरसन्धिः

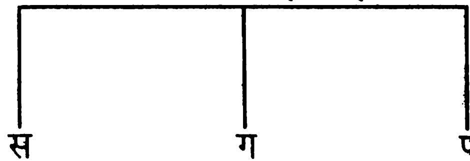
प्रथमस्तृतीयपञ्चमाभ्यां त्रिस्रयोगे (१/४/२) ।

वर्गप्रथमषड्जस्वरस्तद्वर्गतृतीयपञ्चमाभ्यां सह त्रिस्रयोगे मिलित्वा सन्धिर्भवति । यथा —



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में वर्गप्रथम षड्जस्वर की सन्धि

वर्गप्रथम में षड्ज स्वर उस वर्ग के तृतीय-पञ्चम वर्णों के साथ त्रिस्रयोग में मिलकर सन्धिभाव को प्राप्त होता है । जैसे –



टिप्पणी- ३८

कलापकार ने 'वाक्+मती' तथा 'तत्+नयनम्' इस अवस्था में क् के स्थान में ग् तथा ङ् आदेश करके 'वाग्मती-वाङ्मती' एवं त् के स्थान में 'द्-न्' आदेश

करके 'तद्नयनम्-तन्नयनम्' शब्दरूप सिद्ध किये हैं। पाणिनि ने वैकल्पिक अनुनासिक-विधान से इन रूपों का साधुत्व बताया है-**"यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा"** (अ० ८/४/४५)। पाणिनि का संज्ञापूर्वक यह निर्देश सुखार्थ माना जाता है। अनुनासिक एक महती संज्ञा है, जिससे उसकी अन्वर्थता सिद्ध होती है। फलतः वर्गीय पञ्चम वर्णों का स्थान कण्ठादि तथा नासिका भी सिद्ध होता है। सूत्रनिर्देश के अनुसार यर्-प्रत्याहार तथा अनुनासिक संज्ञा के अर्थावगम-हेतु अवश्य ही कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना पड़ता है, जिससे पाणिनीय निर्देश गौरवाधायक कहा जा सकता है।

सङ्गीतशास्त्र में वर्गप्रथम षड्जस्वर की सन्धि के साथ इसकी समानता कही जा सकती है ।

३८. कलापे छकारादेशः

वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरश्छकारं न वा (१/४/३) ।

(दुर्गवृत्तिः)

वर्गप्रथमेभ्यः पदान्तेभ्यः परः शकारः स्वरयवरपरश्छकारमापद्यते न वा । यथा – वाक् + शूरः = वाक्छूरः, वाक्शूरः। षट् + श्यामाः = षट्छ्यामाः, षट् श्यामाः इत्यादि।

[**पाठा०** - तच्छ्वेतम् , तच्श्वेतम् । त्रिष्टुप्छ्रुतम् , त्रिष्टुप्श्रुतम् । वर्गप्रथमेभ्य इति किम् ? प्राङ्शेते । स्वरयवरपर इति किम् ? वाक्श्लक्ष्णः, तच्श्मशानम् । लानुनासिकेष्वपीच्छन्त्यन्ये] ।

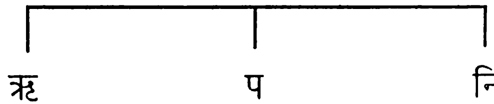
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में शकार को छकारादेश

पदान्तस्थित वर्गीय प्रथम वर्णों से परवर्ती तथा 'स्वर वर्ण - य् - व् - र्' से पूर्ववर्ती शकार को विकल्प से छकारादेश होता है । यथा – वाक् + शूरः = वाक्छूरः, वाक्शूरः। षट् + श्यामाः = षट्छ्यामाः, षट् श्यामाः इत्यादि।

३८. गान्धर्वे ऋषभादिस्वरसन्धिः

वर्गद्वितीयपञ्चमसप्तमाः (१/४/३) ।

वर्गद्वितीयः ऋषभः, पञ्चमः पञ्चमः, सप्तमो निषादः । एते त्रयः स्वराः क्रमेण मिलित्वा त्रिस्त्रयोगे सन्धिर्भवति । यथा –

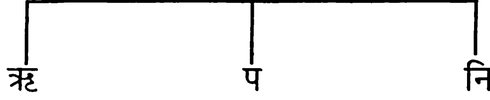


ऋ प नि

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में वर्गद्वितीय ऋषभादि स्वर की सन्धि

वर्गद्वितीय में ऋषभ, वर्गपञ्चम में पञ्चम तथा वर्गसप्तम में निषाद

स्वर क्रमशः एक दूसरे से मिलकर त्रिस्रयोग में सन्धिभाव को प्राप्त होते हैं। जैसे –



टिप्पणी- ३९

पाणिनि का छकारादेशविधायक सूत्र है-"**शश्छोऽटि**" (८/४/६३)। इसके अनुसार पदान्तस्थ 'झय्' से परवर्ती शकार के स्थान में छकारादेश होता है, यदि 'अट्' प्रत्याहार पर में हो तो। ज्ञातव्य है कि पाणिनि के अनुसार 'झय्' प्रत्याहार में वर्गीय प्रथम-द्वितीय-तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण (कुल २० वर्ण) सम्मिलित होते हैं, परन्तु 'तच्छिवः' रूप की सिद्धि के लिये प्रायः 'तद्+शिवः' स्थिति में श्चुत्व से द् के स्थान में ज् तथा "**खरि च**" (८/४/५४) से चर्त्वविधि द्वारा 'च्' आदेश करने के बाद ही "**शश्छोऽटि**" (८/४/६३) से छकारादेश करना पड़ता है। यदि श्चुत्व के बाद ही (चर्त्व से पूर्व) छकारादेश कर लिया जाय, तो भी वर्गीय प्रथम-तृतीय वर्णों से परवर्ती शकार के स्थान में छकारादेश उपपन्न हो जाता है, 'झय्' प्रत्याहारस्थ सभी वर्णों से परवर्ती शकार के स्थान में नहीं।

दूसरे यह कि 'अट्' प्रत्याहार में 'स्वर-य्-व्-र्' से अतिरिक्त 'ह्' वर्ण भी पठित है। 'ह्' के निमित्त होने पर छकारादेश का कोई उदाहरण नहीं देखा जाता। इस प्रकार पाणिनि के सूत्रनिर्देश में स्पष्टता प्रतीत नहीं होती। उसके सम्यग् ज्ञानार्थ पर्याप्त व्याख्यान की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत कलापकार शर्ववर्मा के सूत्रनिर्देश में अधिक स्पष्टता के कारण उसमें अर्थलाघव सन्निहित है, जिससे ज्ञानगौरव नहीं हो पाता।

'वाक्श्लक्षणः, तच्श्मशानम्' आदि प्रयोगों में भी कुछ आचार्य शकार के स्थान में छकारादेश करना चाहते हैं। उसे ध्यान में रखकर वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है-'लानुनासिकेष्वपीच्छन्त्यन्ये'। तदनुसार 'वाक्छ्लक्ष्णः, तच्छ्मशानम्' भी शब्दरूप साधु माने जायेंगे। पाणिनीय व्याकरण में भी कात्यायन का एतादृश वचन है— छत्वममीति वाच्यम्। सङ्गीतशास्त्रीय ऋषभादि स्वर की सन्धि के साथ इसकी समानता स्वीकार करना विशेष मननीय है।

३९. कलापे पूर्वचतुर्थवर्णादेशः

तेभ्य एव हकारः पूर्वचतुर्थं न वा (१/४/४)।

(दुर्गवृत्तिः)

तेभ्य एव वर्गप्रथमेभ्यः पदान्तेभ्यः परो हकारः पूर्वचतुर्थमापद्यते न वा। यथा

– वाक् + हीनः = वाग्घीनः, वाग्हीनः। अच् + हलौ = अज्झलौ, अज्हलौ इत्यादि ।
[**पाठा०** - षड्ढलानि, षड् हलानि। तद्धितम् , तद्हितम् । ककुब्भासः, ककुब्हासः । हकार इति किम् ? तत्कृतम् । तेभ्योग्रहणं स्वरयवरपरनिवृत्त्यर्थम् । तेन वाग्ह्लादयति एवेति तृतीयमतव्यवच्छेदार्थम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में हकार को पूर्व चतुर्थवर्णादेश

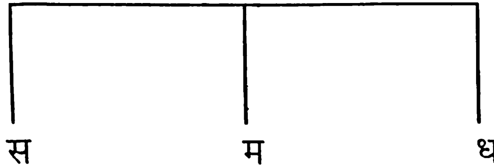
पदान्तवर्ती वर्गीय प्रथम वर्णों से परवर्ती हकार को विकल्प से पूर्वचतुर्थ वर्णादेश होता है । जैसे – वाक् + हीनः = वाग्घीनः, वाग्हीनः। अच् + हलौ = अज्झलौ, अज्हलौ इत्यादि ।

३९. गान्धर्वे षड्जस्वरसन्धिः

वर्गप्रथमो मध्यमधैवताभ्याम् (१/४/४) ।

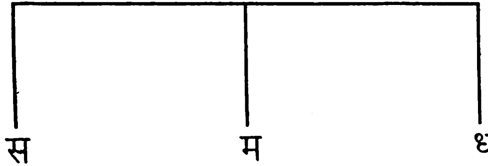
वर्गप्रथमः षड्जस्वरो मध्यमधैवताभ्यां सह मिलित्वा त्रिस्त्रयोगे सन्धिर्भवति।

यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में षड्जस्वर का सन्धिभाव

वर्गप्रथम में षड्ज स्वर मध्यम - धैवत स्वरों के साथ मिलकर त्रिस्त्रयोग में सन्धिभाव को प्राप्त होता है । जैसे –



टिप्पणी-४०

कलापकार के अनुसार 'वाक+हीनः, अच्+हलौ, षट्+हलानि, तत्+हितम्, ककुप्+हासः' इस स्थिति में हकार से पूर्ववर्ती 'क, च्, ट्, त्, प्' वर्ण पठित हैं। इनके चतुर्थ वर्ण क्रमशः 'घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्' होते हैं। ये ही वर्ण हकार के स्थान में आदेशतः प्रवृत्त हो जाते हैं, जिससे 'वाग्घीनः, अज्झलौ, षड्ढलानि, तद्धितम्, ककुब्भासः' शब्दरूप सिद्ध होते हैं।

पाणिनि के निर्देशानुसार हकार के स्थान में पूर्वसवर्णादेश प्रवृत्त होता है। सावर्ण्यज्ञान के लिये स्थान तथा प्रयत्नों को मिलाना पड़ता है। आभ्यन्तर प्रयत्नों से कार्यसिद्धि न होने पर बाह्य प्रयत्नों का भी आश्रय लेना पड़ता है। इसीलिये

'वाक+हरिः' इस स्थिति में घोषवान्, नादवान्, महाप्राण तथा संवृत प्रयत्न वाले हकार का सवर्ण वर्गीय चतुर्थ वर्ण 'घ्' सिद्ध होता है। फलतः 'वाग्घरिः' प्रयोग निष्पन्न हो पाता है। इसी प्रकार अन्यवर्गीय वर्णों के भी सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। इससे पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सावर्ण्यज्ञान के लिए जो विशेष उद्यम करना पड़ता है, उससे शब्दसिद्धि में कुछ कठिनाई ही उपस्थित होती है, सरलता नहीं। पाणिनीय सूत्रनिर्देश में 'झय्' प्रत्याहार का पढ़ा जाना भी असौकर्य का बोधक है—**''झयो होऽन्यतरस्याम्''** (पा० ८/४/६२)।

कातन्त्रसूत्रकार ने सूत्र में 'एव' शब्द का उपादान किसी तृतीय मत के निरासार्थ किया है। तृतीय मत प्रायः पाणिनीय आदि व्याकरणों में देखा जाता है। कातन्त्रकार उसे स्पष्टरूप में स्वीकार नहीं करना चाहते। अतः 'एव' पद से उसी का निषेध करना उन्हें अभीष्ट है—ऐसा वृत्तिकार के उल्लेख से समझना चाहिये।

कुछ विद्वानों के विचार से 'अज्झलौ'' प्रयोग में ''चवर्गदृगादीनां च'' (२/३/४८) से चकार के स्थान में गकारादेश हो जाना चाहिए, क्योंकि उसकी प्राप्ति कोई निषेधक नहीं है। इस प्रकार यदि गकारादेश हो जाय तो प्रकृत सूत्र (तेभ्य एव हकारः पूर्वचतुर्थं न वा-१/४/४) से 'ह्' के स्थान में 'घ्' आदेश उपपन्न होगा। ऐसी स्थिति में 'अज्झलौ' शब्दरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता । उसका साधुत्व अक्षुण्ण रूप में बनाये रखने के लिये विद्वानों का यह उत्तर द्रष्टव्य है—

साहचर्याच्चवर्गस्य क्विबन्तेन दृगादिना।
अज्झलादौ न गत्वं स्याज् ज्ञापकं च सिजाशिषोः।।

(द्र०, वं० भा०)

अर्थात् **''चवर्गदृगादीनां च''** (२/३/४८) सूत्र में दृग्-शब्द क्विबन्त है, उसके साहचर्य से ऐसे ही चवर्ग के स्थान में गकारादेश होगा, जो क्विबन्त या तादृश अन्य शब्द हो। यहाँ 'अच्'-शब्द क्विबन्त नहीं है। अतः गकारादेश भी नहीं होता है। फलतः 'अज्झलौ' का साधुत्व निर्बाध बना रहता है।

इस सूत्र में किये गये 'नवा'-शब्दग्रहण के विषय में भी इस प्रकार विचार किया गया है कि पूर्व सूत्र से ही 'नवा' की अनुवृत्ति यहाँ सुलभ है, अतः इस सूत्र में 'नवा' शब्द नहीं पढ़ना चाहिये । यदि यह कहा जाय कि उत्तर सूत्र में 'नवा' की अनुवृत्ति के निषेधार्थ 'नवा'-पद पढ़ा गया है तो फिर यह शङ्का होती है कि **''पञ्चमे पञ्चमांस्तृतीयान् नवा''** (१/४/२) इस सूत्र से 'नवा'-पद की अनुवृत्ति निर्बाध होने पर भी पुनः अग्रिम, सूत्र **''वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरश्छकारं न वा''** (१/४/३) में 'नवा'-पद पढ़ने की क्या आवश्यकता है ?

इस पर यह निर्णय किया जाता है कि यहाँ दो विभाषाओं के मध्य में पठित विधि को नित्य मानने के लिये ऐसा किया गया है—'उभयोर्विभाषयोर्मध्ये यो विधिः स नित्यः' (का० परि०७८)। फलतः **'वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरश्छकारं न वा'** (१/४/३) यह विधि नित्य मानी जा सकती है।

सङ्गीतशास्त्रीय षड्ज स्वर की सन्धि के साथ उक्त की समानता में सङ्गीतशास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् ही प्रमाण हो सकते हैं ।

४०. कलापे पररूपम्

पररूपं तकारो लचटवर्गेषु (१/४/५) ।

(दुर्गवृत्तिः)

तकारः पदान्तो लचटवर्गेषु परतः पररूपमापद्यते । यथा – तत् + लुनाति = तल्लुनाति । तत् + चरति = तच्चरति । तत् + छादयति = तच्छादयति । तत् + जयति = तज्जयति, तत् + टीका = तट्टीका ।

[**पाठा०-** तज्झासयति, तञ्ञकारेण, तट्टीकनम् , तट्ठकारेण, तड्डीनम् , तड्ढौकते, तण्णकारेण । पदान्ते धुटां प्रथमे सति तज्जयः, दृशल्लेखा, ज्ञानभुट्टीकनम् इति । लचटवर्गेष्विति किम् ? तत्पचति] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में तकार को पररूप

'ल - चवर्ग - टवर्ग' के परे रहते पदान्तवर्ती तकार को पररूप आदेश होता है। जैसे – तत् + लुनाति = तल्लुनाति । तत् + चरति = तच्चरति । तत् + छादयति = तच्छादयति । तत् + जयति = तज्जयति, तत् + टीका = तट्टीका ।

४०. गान्धर्वे पररूपम्

उदात्तसप्तकः पररूपं वर्गान्तरम् (१/४/५) ।

उदात्तसप्तको वर्गः पररूपं वर्गान्तरमापद्यते । यथा – उदात्तसप्तकस्यानुदात्तस्वरितसप्तकाभ्यां सह मेलनं भवति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में पररूप का विधान

उदात्तसप्तक वर्ग को वर्गान्तररूप पररूपविधान होता है, जैसे – उदात्तसप्तक का अनुदात्तसप्तक एवं स्वरितसप्तक के साथ जो सम्मिलन होता है, वह पररूपविधान है ।

टिप्पणी-४१

'तत्+लुनाति, तत्+चरति, तत्+छादयति' आदि स्थिति में कलापकार के निर्देशानुसार पदान्तवर्ती तकार को पररूप होता है। अतः यदि पर में 'ल्' वर्ण होगा तो 'त्' को भी 'ल्' आदेश हो जायेगा। फलतः 'तल्लुनाति' आदि प्रयोग निष्पन्न

होंगे। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार चवर्ग के परवर्ती होने पर पूर्ववर्ती 'त्' को 'च्' आदेश, **"स्तोः श्चुना श्चुः"** (८/४/४०) सूत्र से टवर्ग के परवर्ती होने पर 'त्' को 'ट्' आदेश, **"ष्टुना ष्टुः"** (८/४/४१) सूत्र से तथा लकार के परवर्ती होने पर **"तोर्लि"** (८/४/६०) सूत्र से लकारादेश प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार पाणिनीय निर्देश में तीन सूत्रों के होने से शब्दगौरव स्पष्ट है। परन्तु इन शब्दों की साधुत्वप्रक्रिया के परिमाण में समानता इसीलिये कही जा सकती है कि कलापकार के अनुसार 'तच्छादयति, तज्झासयति' इत्यादि प्रयोगों में तकार के स्थान में छकारादेश पररूप करने के बाद **"पदान्ते धुटां प्रथमः"** (३/८/१) सूत्र से 'छ्' के स्थान में 'च्' आदेश भी करना पड़ता है और पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार 'तज्जयति, तड्डीनम्' इत्यादि स्थलों में 'त्' के स्थान में **"झलां जशोऽन्ते"** (८/२/३९) से 'द्' आदेश करने के बाद ही श्चुत्व या ष्टुत्व होगा **(स्तोः श्चुना श्चुः** ८/४/४०, **ष्टुना ष्टुः** ८/४/४१)।

'तद्+जयः, दृशद्+लेखा, ज्ञानबुध्+टीकनम्' में 'द्' तथा 'ध्' वर्णों के होने पर उनका पररूप कैसे हो सकता है। पररूप न होने पर अभीष्ट शब्दों की सिद्धि नहीं होगी। इसके समाधान में वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है कि ऐसे सभी स्थलों में सर्वप्रथम **"पदान्ते धुटां प्रथमः"** (३/८/१) से तकारादेश होगा और तब प्रकृत सूत्र से पररूप करने पर 'तज्जयः, दृशल्लेखा, ज्ञानभुट्टीकनम्' रूप निष्पन्न होंगे।

सङ्गीतशास्त्र में कोई एक स्वरवर्ग जो दूसरे वर्ग के रूप को प्राप्त कर लेता है-उसे पररूप मानकर कलापव्याकरण की प्रक्रिया से पर्याप्त साम्य दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

४१. कलापे द्विर्वचनम्

ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे द्विः (१/४/७)।

(दुर्गवृत्तिः)

ङणनाः पदान्ता ह्रस्वोपधाः स्वरे परे द्विर्भवन्ति । यथा – क्रुङ् + अत्र = क्रुङ्ङत्र । सुगण् + अत्र = सुगण्णत्र । पचन् + अत्र = पचन्नत्र ।

[**पाठा०** - ङणना इति किम् ? किमत्र । पदान्ता इति किम् ? वृत्रहणौ । ह्रस्वोपधा इति किम् ? प्राङास्ते] ।

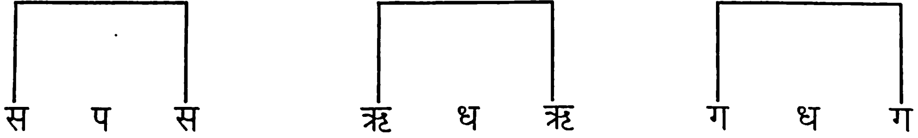
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में द्वित्वविधान

स्वर वर्णों के परे रहते ह्रस्वोपध पदान्तवर्ती 'ङ् - ण् - न् ' वर्णों को द्वित्व होता है । जैसे – क्रुङ् + अत्र = क्रुङ्ङत्र । सुगण् + अत्र = सुगण्णत्र । पचन् + अत्र = पचन्नत्र ।

४१. गान्धर्वे द्विगुणभावः

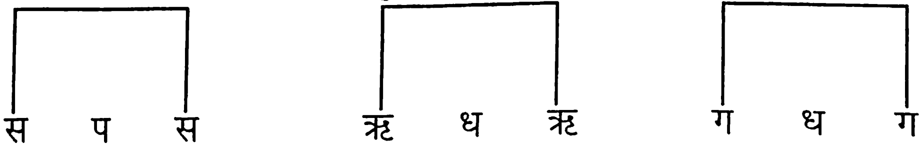
मध्यमे सप्तैकस्थास्त्रिस्राः सप्तकान्तरेण द्विः (१/४/७)।

मध्यमे ग्रामे कृते एकसप्तकस्थितास्त्रिस्राः त्रिस्रयोगविशिष्टाः स्वराः सप्तकान्तरेण सह मिलित्वा द्विर्द्विगुणा भवन्ति । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में द्विगुणभाव

मध्यम ग्राम के होने पर एक सप्तक में स्थित त्रिस्रयोगविशिष्ट स्वर अन्य सप्तक के साथ मिलकर द्विगुण हो जाते हैं। जैसे –



टिप्पणी-४२

'क्रुङ्+अत्र, सुगण्+अत्र, पचन्+अत्र' इस अवस्था में कलापकार ह्रस्व उपधा वाले 'ङ् - ण् - न्' वर्णों का द्वित्व करके 'क्रुङ्ङत्र, सुगण्णत्र' तथा 'पचन्नत्र' शब्दरूपों की सिद्धि करते हैं। पाणिनि के अनुसार यहाँ क्रमशः ङुट्, णुट्, नुट् आगम होते हैं-**"ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्"** (८/३/३२)। इन आगमों के टित् होने के कारण **"आद्यन्तौ टकितौ"** (१/१/४६) परिभाषासूत्र, इत्संज्ञाविधायक तथा लोपविधायक सूत्रों के जानने की भी आवश्यकता होती है। इसके परिणामस्वरूप पाणिनीय प्रकिया में दुरूहता और गौरव सुस्पष्ट है, जबकि कातन्त्रीय प्रक्रिया में सरलता और लाघव।

यदि सूत्ररचना पर ध्यान दिया जाय तो भी पाणिनि की शब्दावली क्लिष्ट प्रतीत होती है। क्योंकि पहले तो 'ङम्' प्रत्याहार का ज्ञान, तदनन्तर उसके अन्त में 'उट्' शब्द पठित होने से उसका 'ङ्-ण्-न्' के साथ अन्वय करके 'ङुट्-णुट्-नुट्' यह अर्थ करना सरलता का परिचायक नहीं हो सकता।

सङ्गीतशास्त्र के अनुसार मध्यम ग्राम में किसी स्वर को अन्य सप्तक के साथ मिलकर किया गया द्विगुणविधान कलापशास्त्रीय प्रक्रिया से साम्य रखता है।

४२. कलापे शकारादेशः

नोऽन्तश्चछयोः शकारमनुस्वारपूर्वम् (१/४/८)।

(दुर्गवृत्तिः)

नकारः पदान्तश्चछयोः परयोः शकारमापद्यते अनुस्वारपूर्वम् । यथा – भवान् + चरति = भवांश्चरति, भवान् + छादयति = भवांश्छादयति ।

[**पाठा०** - भवांश्च्यवते, भवांश्छ्यति । व्यवस्थितवास्मरणात् 'प्रशान् चरति' । एवमुत्तरत्रापि। तथान्तो विरतिरिति । तेन त्वन्तरसि] ।

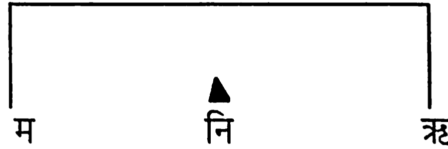
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नकार को शकारादेश

'च् + छ्' के परे रहते पदान्तवर्ती नकार को अनुस्वारपूर्वक शकारादेश होता है। जैसे – भवान् + चरति = भवांश्चरति, भवान् + छादयति = भवांश्छादयति इत्यादि ।

४२. गान्धर्वे मध्यमादि-स्वरसन्धिः

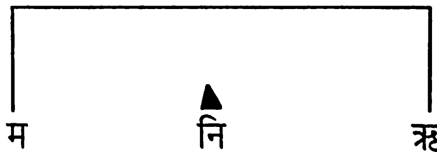
म नि ऋश्च मग्रामपूर्वम् (१/४/८) ।

मध्यमग्रामपूर्वम् मध्यम - कोमलनिषाद - ऋषभाश्च त्रयः स्वराः परस्परं मिलित्वा त्रिस्त्रयोगे सन्धयो भवन्ति । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में मध्यमादि स्वरों की सन्धि

मध्यमग्रामपूर्वक मध्यम - कोमलनिषाद तथा ऋषभ ये तीनों स्वर परस्पर मिलकर त्रिस्त्रयोग में सन्धिभाव को प्राप्त होते हैं। जैसे –



टिप्पणी-४३

'भवान्+चरति, भवान्+छादयति, भवान्+च्यवते, भवान्+छ्यति' इस अवस्था में पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार "**नश्छव्यप्रशान्**" (८/३/७) से नकार के स्थान में 'रु' आदेश, "**अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा**" (८/३/२) से वैकल्पिक अनुनासिक, पक्ष में "**अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः**" (८/३/४) से अनुस्वारागम, "**खरवसानयोर्विसर्जनीयः**" (८/३/१५) से विसर्गादेश, "**विसर्जनीयस्य सः**" (८/३/३४) से विसर्ग को सकार तथा "**स्तोः श्चुना श्चुः**" (८/४/४०) से शकारादेश होता है।

कातन्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार 'न्' के स्थान में केवल अनुस्वारपूर्वक 'श्' आदेश किये जाने पर ही उक्त रूपों की निष्पत्ति मानी जाती है। दोनों प्रक्रियाओं में से पाणिनीय प्रक्रिया विस्तृत होने के कारण दुर्बोध भी हो सकती है, परन्तु कातन्त्रीय प्रक्रिया में संक्षेप और सरलता सन्निहित होने से लाघव स्पष्ट है।

१. **"तेभ्य एव हकारः पूर्वचतुर्थं न वा"** (१/४/४) इस सूत्र में पठित 'वा' को व्यवस्थितविभाषा के रूप में माने जाने के कारण 'प्रशान् चरति' इत्यादि में 'न्' को अनुस्वारपूर्वक शकारादेश नहीं होता। अग्रिम **"टठयोः षकारम्, तथयोः सकारम्"** (१/४/९, १०) सूत्रों में भी व्यवस्थितविभाषा के आश्रयण से 'प्रशाण्टीकते, प्रशान्तरति' में मूर्धन्य षकार तथा दन्त्य सकारादेश 'न्' के स्थान में प्रवृत्त नहीं होते।

२. प्रकृतसूत्रपठित 'अन्त' शब्द का अर्थ विरति या अवसान माना जाता है, जिसके फलस्वरूप 'त्वन्तरसि' में 'न्' के स्थान में अनुस्वारपूर्वक सकारादेश नहीं होता। वस्तुतः इसे **"तथयोः सकारम्"** (१/४/१०) सूत्र की व्याख्या में दिखाया जाना चाहिये। सङ्गीतशास्त्रीय तीन स्वरों का सन्धिभाव को प्राप्त होना प्रकृत विषय से अवश्य ही साम्य रखता है ।

४३. कलापे षकारादेशः

ठठयोः षकारम् (१/४/९) ।

(दुर्गवृत्तिः)

नकारः पदान्तष्ठठयोः परयोः षकारमापद्यते अनुस्वारपूर्वम् । यथा – भवान् + टीकते = भवांष्टीकते, भवान् + ठकारेण = भवांष्ठकारेण ।

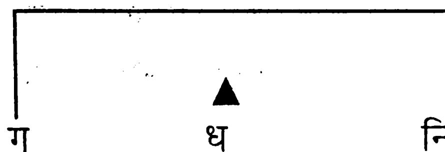
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नकार को षकारादेश

'ट् - ठ्' के परे रहते पदान्तवर्ती नकार को अनुस्वारपूर्वक मूर्धन्य षकारादेश होता है । जैसे – भवान् + टीकते = भवांष्टीकते, भवान् + ठकारेण = भवांष्ठकारेण इत्यादि ।

४३. गान्धर्वे त्रिस्त्रयोगः

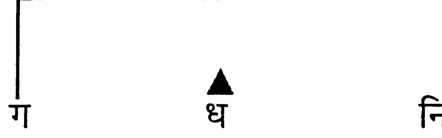
गे गधाभ्यां निषादस्त्रिस्त्रयोगम् (१/४/९) ।

गे गान्धारे ग्रामे कृते गान्धारकोमलधैवताभ्यां सह निषादो मिलित्वा त्रिस्त्रयोगमापद्यते । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में निषादस्वर का त्रिस्त्रयोग

गान्धारग्राम के करने पर गान्धार-कोमल धैवत स्वरों के साथ मिलकर निषाद स्वर त्रिस्त्रयोग को प्राप्त होता है । जैसे –



टिप्पणी-४४

'भवान्+टीकते, भवान्+ठकारेण' इस अवस्था में कातन्त्रकार 'न्' के स्थान में अनुस्वारपूर्वक 'ष्' आदेश करके 'भवांष्टीकते, भवांष्ठकारेण' आदि शब्दरूप सिद्ध करते हैं। पाणिनि के अनुसार यहाँ भी न् को रु, रु को विसर्ग, विसर्ग को स्, स् को ष् आदेश तथा अनुस्वार-अनुनासिक प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार पाणिनीय प्रक्रिया में गौरव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। सङ्गीतशास्त्र में त्रिस्त्रयोग के साथ इसकी समानता स्वीकार की गई है।

४४. कलापे सकारादेशः

तथयोः सकारम् (१/४/१०) ।

(दुर्गवृत्तिः)

नकारः पदान्तस्तथयोः परयोः सकारमापद्यते अनुस्वारपूर्वम् । यथा – भवान् + तरति = भवांस्तरति, भवान् +थुडति = भवांस्थुडति ।

[**पाठा०** - पुंस्कोकिलः, पुंस्खननम् । पुंश्चकोरः, पुंश्छत्रम् । पुंष्टिट्टिभः, सुपुंश्चरति । पुंसोऽशिट्यघोषविषये संयोगान्तलोपस्यानित्यत्वाद् यथाप्राप्तमेव । अशिडिति किम् ? पुंसरः] ।

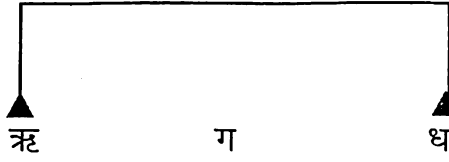
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नकार को सकारादेश

'त् + थ् ' वर्णों के परे रहते पदान्तवर्ती नकार को अनुस्वारपूर्वक सकारादेश होता है । जैसे – भवान् + तरति = भवांस्तरति, भवान् +थुडति = भवांस्थुडति इत्यादि ।

४४. गान्धर्वे त्रिस्त्रयोगः

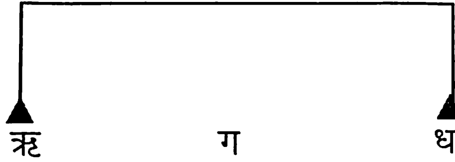
▲ ▲
ऋगौ धैवतेन त्रिस्त्रम् (१/४/१०) ।

गान्धारे ग्रामे कृते कोमलऋषभगान्धारौ परस्परं मिलित्वा धैवतेन सह त्रिस्त्रयोगमापद्येते । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ऋषभादि स्वर का त्रिस्त्रयोग

गान्धार ग्राम के करने पर कोमल ऋषभ तथा गान्धार स्वर परस्पर मिलकर कोमल धैवत के साथ त्रिस्त्रयोग को प्राप्त करते हैं। जैसे –



टिप्पणी-४५

'भवान्+तरति, भवान्+ थुडति' इत्यादि स्थलों में कलापकार 'न्' के स्थान में ही साक्षात् अनुस्वारपूर्वक 'स्' आदेश करते हैं। इसी प्रकार 'भवांस्तरति, भवांस्थुडति' प्रयोग सिद्ध होते हैं। पाणिनि के अनुसार 'न्' के स्थान में रु-आदेश, रु के स्थान में विसर्ग, विसर्ग के स्थान में सकारादेश तथा अनुस्वार-अनुनासिक होने पर उक्त रूप निष्पन्न होते हैं। इससे पाणिनीय प्रक्रिया में गौरव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। 'पुंस्कोकिलः, पुंस्खननम्, पुंश्चकोरः, पुंश्छत्रम्, पुंष्टिट्टिभः, सुपुंश्चरति' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिये पाणिनीय व्याकरण में सूत्र है-"**पुमः खय्यम्परे**" (पा० ८/३/६)। आचार्य शर्ववर्मा ने इसके लिये पृथक् सूत्र नहीं बनाया है। अतः दुर्गसिंह आदि व्याख्याकारों का अभिमत यह है कि शिड्भिन्न अघोष के पर में रहने पर 'पुमन्स्' शब्द में प्राप्त संयोगान्तलोप अनित्य माना जाता है। तदनुसार 'पुमांश्चासौ कोकिलश्च' इस विग्रह तथा 'पुमन्स्+कोकिलः' इस अवस्था में "**व्यञ्जनान्तस्य यत्सुभोः**" (२/५/४) सूत्र द्वारा अतिदेश, "**पुंसोऽन्शब्दलोपः**" (२/२/४०) से अन् का लोप, संयोगान्तलोप की अनित्यता से "**संयोगान्तस्य लोपः**" (२/३/५४) सूत्र से संयोगान्त 'स्' के लोप का निषेध, "**मनोरनुस्वारो धुटि**" (२/४/४४) से म् को अनुस्वार, "**रेफसोर्विसर्जनीयः**" (२/३/६३) से 'स्' को विसर्ग एवं "**अनव्ययविसृष्टस्तु सकारं कपवर्गयोः**" (२/५/२९) से विसर्ग को 'स्' आदेश करने पर 'पुंस्कोकिलः' रूप सिद्ध होता है। 'पुंश्चकोरः, पुंश्छत्रम्, सुपुंश्चरति' में "**विसर्जनीयश्चे छे वा शम्**" (१/५/१) सूत्र से विसर्ग के स्थान में शकारादेश, 'पुंष्टिट्टिभः' में "**टे ठे वा षम्**" (१/५/२) से मूर्धन्य षकारादेश प्रवृत्त होता है।

'पुंसर:' में शिट् के पर में होने के कारण संयोगान्तलोप का निषेध नहीं होता। अत: सलोप तथा 'म्' को अनुस्वारादेश होने पर 'पुंसर:' रूप साधु होता है।

ऐसी मान्यता है कि वसन्त ऋतु में पुरुष-कोकिल के ही स्वर में विशेष माधुर्य रहता है, स्त्री-कोकिल में नहीं। यह भी प्रसिद्ध है कि कोकिल अपने अण्डे काक-नीड में रख देते हैं और इस प्रकार कोकिल-शावकों का पालन-पोषण कौओं द्वारा किया जाता है । इसीलिये इनका 'परभृत:' यह भी एक नाम हैं । परन्तु पुरुषशावकों का पालन-पोषण स्वयं कोकिल माता-पिता ही करते हैं या जिस पुरुष-शावक का पालन-पोषण कोकिल माता-पिता द्वारा किया जाता है, उसी के स्वर में विशेष माधुर्य उत्पन्न होता है। बँगला-टीकाओं में एतद्विषयक एक श्लोक उपलब्ध होता है—

संवर्धितः पितृभ्यां य एकः पुरुषशावकः।
पुंस्कोकिलः स विज्ञेयः परपुष्टो न कर्हिचित्।।

सङ्गीतशास्त्र में तीन स्वरों का जो त्रिस्रयोग होता है, उससे इसकी समानता का रहस्य सङ्गीतमर्मज्ञ ही समझ सकते हैं ।

४५. कलापे लकारादेशः

ले लम् (१/४/११) ।

(दुर्गवृत्तिः)

नकार: पदान्तो ले परे लमापद्यते अनुस्वारहीनम् । यथा – भवान् +लुनाति = भवाँल्लुनाति, भवान् + लिखति = भवाँल्लिखति ।

[**पाठा०** - कारहीनत्वादनुनासिकम्] ।

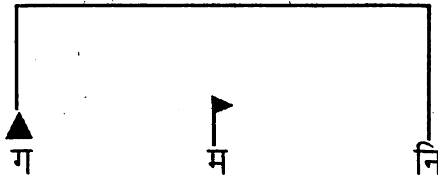
[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नकार को लकारादेश

लकार के परे रहते पदान्तवर्ती नकार को अनुस्वाररहित लकारादेश होता है । जैसे – भवान् +लुनाति = भवाँल्लुनाति, भवान् + लिखति = भवाँल्लिखति।

४५. गान्धर्वे निषादस्वरसन्धिः

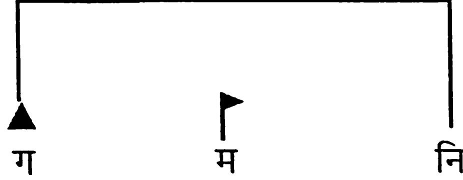
गतीव्रमाभ्यां निषादः (१/४/११) ।

गान्धारे ग्रामे कृते कोमलगान्धार - तीव्रमध्यमाभ्यां सह निषादो मिलित्वा त्रिस्रयोगे सन्धिर्भवति । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में निषाद स्वर की सन्धि

गान्धार ग्राम करने पर कोमल गान्धार तथा तीव्र मध्यम स्वर के साथ मिलकर त्रिस्त्रयोग में निषाद स्वर सन्धिभाव को प्राप्त होता है । यथा –



टिप्पणी-४६

'भवान्+लुनाति, भवान्+लिखति' इत्यादि स्थलों में कलापकार के निर्देशानुसार 'न्' को सानुनासिक 'ल्' आदेश होकर 'भवाँल्लुनाति, भवाँल्लिखति' आदि शब्दरूप निष्पन्न होते हैं। पाणिनि ने ऐसे स्थलों में परसवर्णादेश का विधान किया है— "**तोर्लि**" (८/४/६०)। पाणिनीय और कलाप दोनों में ही साक्षात् सानुनासिक आदेश विहित नहीं है, व्याख्या के बल पर ही सानुनासिक लकारादेश उपपन्न हो पाता है। पाणिनीय व्याख्याकार कहते हैं कि स्थानी नकार यत: अनुनासिक है- "**मुखनासिकावचनोऽनुनासिक:**" (१/१/८), अत: परसवर्ण लकारादेश भी सानुनासिक ही होगा-'विद्वान् लिखतीति स्थिते नकारस्य स्थानिनोऽनुनासिकस्य परसवर्णो लकारो भवन् आन्तर्यादनुनासिक एव लकारो भवतीत्यर्थ:' (बा०म० ८/४/६०)।

कलाप-सूत्रों के वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कहा है कि उपर्युक्त सूत्रों में (१/४/८, ९, १०) 'कार' के साथ वर्णों का पाठ किया गया है, प्रकृत सूत्र में 'ल' के साथ 'कार' पठित नहीं है । आचार्य का यह विशेष निर्देश ही अनुनासिक 'ल्' को सूचित करता है-"**कारहीनत्वादनुनासिकम्**" (कात०वृ० १/४/४१)। कलाप के अनुसार उच्चरित वर्ण के स्वरूप का अवबोध कराने के लिये दो प्रत्यय निर्दिष्ट हैं—कार एवं त्। यदि आचार्य को ल-वर्ण के अनुनासिकरहित स्वरूप का अवबोध कराना अभीष्ट होता तो वे 'ल्' के साथ कार का भी पाठ अवश्य करते। न करने का यही उद्देश्य हो सकता है कि उन्हें यहाँ सानुनासिक लकार करना अभीष्ट है, जैसा कि प्रयोगों में देखा भी जाता है। इन दो कार्यों की उभयत्र समानता होने पर भी पाणिनि का सावर्ण्यज्ञान अवश्य ही गौरवाधायक कहा जा सकता है।

सङ्गीतशास्त्र में कोमल गान्धार तथा तीव्रमध्यम के साथ मिलकर निषादस्वर की जो त्रिस्त्रयोग में सन्धि होती है, उससे इसकी समानता बताई गई है।

४६. कलापे ञकारादेशः

ज - झ - ञ - शकारेषु ञकारम् (१/४/१२) ।

(दुर्गवृत्तिः)

नकारः पदान्तो ज - झ - ञ - शकारेषु परतो ञकारमापद्यते । यथा – भवान् + जयति = भवाञ्जयति, भवान् + झासयति = भवाञ्झासयति, भवान् + ञकारेण = भवाञ्ञकारेण ।

[**पाठा०** - भवाञ्शेते । पदमध्ये चटवर्गादेश इति ज - झ - ञ - शकारेषु ञकारविधानम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नकार को ञकारादेश

'ज् - झ् - ञ् - श्' के परे रहते पदान्तवर्ती नकार को ञकारादेश होता है । जैसे – भवान् + जयति = भवाञ्जयति, भवान् + झासयति = भवाञ्झासयति, भवान् + ञकारेण = भवाञ्ञकारेण, भवाञ्शेते इत्यादि ।

४६. गान्धर्वे चतुरस्त्रयोगः

षगपषड्जाश्चतुरस्त्रयोगम् (१/४/१२) ।

षड्ज - गान्धार - पञ्चमाः पुनः षड्जश्च - एते चत्वारः स्वराः प्रत्येकं मिलित्वा यथाक्रमं चतुरस्त्रयोगमापद्यन्ते । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में चतुरस्त्रयोग की प्राप्ति

षड्ज - गान्धार - पञ्चम तथा पुनः षड्ज ये चार स्वर परस्पर मिलकर क्रमशः चतुरस्त्रयोग को प्राप्त होते हैं । जैसे –



टिप्पणी-४७

'भवान्+जयति, भवान्+झासयति, भवान्+ञकारेण, भवान्+शेते' इत्यादि स्थलों में कलापकार 'न्' के स्थान में 'ञ्' आदेश करके 'भवाञ्जयति, भवाञ्झासयति, भवाञ्ञकारेण, भवाञ्शेते' आदि रूप सिद्ध करते हैं। यहाँ पाणिनि ने श्चुत्व-विधान किया है-**"स्तोः श्चुना श्चुः"** (८/४/४०)। ज्ञातव्य है कि चवर्ग के अन्तर्गत आने

वाले 'च्-छ्-ज्-झ्-ञ्' इन पाँचों वर्णों के परवर्ती होने पर पदान्तवर्ती नकार के स्थान में ञकारादेश के उदाहरण पाणिनीय व्याकरण में नहीं मिलते। अत: पाणिनीय निर्देश की अपेक्षा कलाप का निर्देश अधिक विशद कहा जा सकता है।

कलापव्याकरण के कारक-प्रकरण में एक सूत्र है-"तवर्गश्चटवर्गयोगे चटवर्गौ" (२/४/४६)। इस सूत्र से चवर्ग के परवर्ती होने पर तवर्ग के स्थान में चवर्गादेश होता है। इसी के निर्देशानुसार ज्, झ् एवं ञ् वर्णों के पर में रहने पर 'न्' के स्थान में 'ञ्' आदेश किया जा सकता है। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय तो फिर केवल शकार के परवर्ती होने पर ही नकार को ञकारादेश करना अवशिष्ट रह जाता है । तदर्थ "शे ञकारम्" इतना ही सूत्र करना आवश्यक है । इस पर वृत्तिकार ने समाधान दिया है—"पदमध्ये चटवर्गादेश इति जझञशकारेषु ञकारविधानम्" (कात०वृ० १/४/१२)। अर्थात् कारक-प्रकरणीय (२/४/४६) सूत्र की प्रवृत्ति पद के मध्य में होती है। मध्यवर्ती तवर्ग के स्थान में चवर्गादेश उपपन्न होता है। जैसे-'राज्ञः, मज्जति' इत्यादि। यहाँ पदान्तस्थ 'न्' के स्थान में 'ञ्' आदेशविधानार्थ प्रकृत सूत्र यथावत् रूप में बनाना उचित ही है। सङ्गीतशास्त्र में षड्जादि चार स्वरों का जो चतुरस्रयोग होता है, उसके साथ इसकी समानता बताई गई है।

४७. कलापे णकारादेशः

डढणपरस्तु णकारम् (१/४/१४) ।

(दुर्गवृत्तिः)

डढणाः परे यस्मादिति । डढणपरो नकारो णत्वमापद्यते । यथा – भवान् + डीनम् = भवाण्डीनम् , भवान् + ढौकते = भवाण्ढौकते, भवान् + णकारेण = भवाण्णकारेण ।

[**पाठा०** - तुशब्दो वानिवृत्त्यर्थः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में नकार को णकारादेश

'ड् - ढ् - ण्' के परे रहते पदान्तवर्ती नकार को णकारादेश होता है । जैसे – भवान् + डीनम् = भवाण्डीनम् , भवान् + ढौकते = भवाण्ढौकते, भवान् + णकारेण = भवाण्णकारेण ।

४७. गान्धर्वे चतुरस्रयोगः

ऋमधऋषभाश्चतुरस्रयोगम् (१/४/१४) ।

ऋषभ - मध्यम - धैवताः पुनः ऋषभश्च - एते चत्वारः स्वराः परस्परं मिलित्वा यथाक्रमं चतुरस्रयोगमापद्यन्ते । यथा –



[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में चतुरस्त्रयोग की प्राप्ति

ऋषभ - मध्यम - धैवत तथा पुनः ऋषभ ये चार स्वर क्रमशः परस्पर मिलकर चतुरस्त्रयोग को प्राप्त करते हैं । जैसे –



टिप्पणी - ४८

'भवान्+डीनम्, भवान्+ढौकते, भवान्+णकारेण' इस स्थिति में कलाप एवं पाणिनीय दोनों ही व्याकरणों के अनुसार 'न्' के स्थान में णकारादेश प्रवृत्त होता है। कलाप के अनुसार ड्, ढ् एवं ण् वर्ण के पर में होने के कारण न् के स्थान में ण्-आदेश एवं पाणिनीय व्याकरण में टवर्ग का योग होने के कारण तवर्ग के स्थान में टवर्गादेश का विधान किया जाता है। इस प्रकार प्रयोगसिद्धि में कोई बाधा या जटिलता तो उपस्थित नहीं होती, परन्तु पाणिनि का 'तवर्ग-टवर्ग' यह सामान्य निर्देश सभी उदाहरणों के अभाव में अवश्य ही चिन्त्य प्रतीत होता है।

१. 'डढणपरः' शब्द का अर्थ 'डढणेभ्यः परः' नहीं है, किन्तु 'डढणाः परे यस्मात्' यह माना जाता है। अर्थात् यहाँ तत्पुरुष समास न होकर बहुव्रीहि समास दिखाया गया है। यदि बहुव्रीहि समास ही यहाँ इष्ट हो तो फिर 'डढणेषु' ऐसा पाठ किया जाना चाहिये। इस पर व्याख्याकारों ने अपना अभिमत स्पष्ट करते हुये कहा है कि सूत्रकार ने ऐसा इसलिये किया है कि तत्पुरुष समास के अनुसार 'षण्णवतिः, षण्णगरी' आदि स्थलों में भी णकारादेश सम्पन्न हो जाय, क्योंकि 'षड्+नवतिः, षड्+नगरी' में 'न्' से परवर्ती 'ड्' नहीं है, किन्तु 'ड' से पर में नकार विद्यमान है। अतः केवल बहुव्रीहि समास मानने पर 'षण्णवतिः' आदि स्थलों में णकारादेश नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में भी णकारादेश प्रवृत्त हो जाय, अतः उभयसमासविहित 'डढणपरः' यह पद पढ़ा गया है।

२. सूत्रस्थ 'तु' शब्द का प्रयोजन वैकल्पिक विधान की निवृत्ति बताया गया है । अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र "शि न्चौ वा" (१/४/१३) में वा-शब्द पठित है । उसकी अनुवृत्ति प्रकृत सूत्र में आयेगी, जिसके फलस्वरूप णकारादेश भी विकल्प से प्रवृत्त होगा, जो यहाँ अभीष्ट नहीं है। अतः उसके निरासहेतु 'तु' शब्द का पाठ किया है।

सङ्गीतशास्त्र में ऋषभादि चार स्वरों का जो चतुरस्रयोग होता है, उसके साथ इसकी समानता सिद्ध होती है।

४८. कलापे अनुस्वारादेशः

मोऽनुस्वारं व्यञ्जने (१/४/१५) ।

(दुर्गवृत्तिः)

मकारः पुनरन्त्यो व्यञ्जने परे अनुस्वारमापद्यते । यथा – त्वं यासि, त्वं रमसे ।

[**पाठा०** - अन्त इति किम् ? गम्यते । अनुस्वार इति संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः, तेन सम्राट् , सम्राजौ] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में मकार को अनुस्वारादेश

व्यञ्जन वर्ण के परे रहते पदान्तवर्ती मकार को अनुस्वार आदेश होता है। जैसे – 'त्वं यासि, त्वं रमसे' इत्यादि ।

४८. गान्धर्वे यन्त्रसाधनप्रयोगः

प्रयोजनमेषां यन्त्रे (१/४/१५) ।

एषां द्विस्र - त्रिस्र - चतुरस्र - प्रभृतियोगानां यन्त्रसाधने प्रत्येकं प्रयोजनम्भवति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में 'द्विस्र' इत्यादि का यन्त्रसाधन में प्रयोजन

इन 'द्विस्र -त्रिस्र - चतुरस्र' इत्यादि योगों में से प्रत्येक का यन्त्रसाधन में प्रयोग होता है ।

टिप्पणी- ४९

'त्वम्+यासि, त्वम्+रमसे' इस स्थिति में दोनों ही व्याकरणों में 'म्' के स्थान में अनुस्वारादेश होता है, तथापि कलापव्याकरण के विधान में कार्यी मकार का प्रथमान्त तथा कार्य अनुस्वार का द्वितीयान्त निर्देश किया गया है। पूर्वाचार्यों की यही पद्धति (शैली) थी।

इसके विपरीत पाणिनि कार्यी का षष्ठ्यन्त तथा कार्य का प्रथमान्त निर्देश करते हैं। ऐसा देखा जाता है कि 'सम्राट्, सम्राजौ' आदि स्थलों में 'म्' के स्थान में अनुस्वारादेश प्रवृत्त नहीं होता है। एतदर्थ पाणिनीय व्याकरण में तो **''मो राजि समः क्वौ''** (पा० ८/३/२५) सूत्र बनाया गया है, जिसके अनुसार क्विप्-प्रत्ययान्त 'राज्' शब्द के परवर्ती रहने पर 'सम्' के मकार को मकार ही होता है, परन्तु कलापव्याकरण में ऐसा सूत्र नहीं है, जिससे वृत्तिकार दुर्गसिंह ने इसका समाधान प्रकारान्तर से इस प्रकार किया है कि संज्ञापूर्वक की गई विधि अनित्य होती है-

'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' (कालापपरि० सू० ३८)। इस सूत्र में अनुस्वार यह निर्देश संज्ञापूर्वक है, अतः इस विधि के अनित्य होने के कारण 'सम्राट्' आदि स्थलों में अनुस्वारादेश नहीं होगा।

सङ्गीतशास्त्र में द्विस्र आदि योगों का यन्त्रसाधन में होने वाले प्रयोग के साथ इसका साम्य माना जाता है।

४९. कलापे वर्गीयपञ्चमवर्णादेशः

वर्गे तद्वर्गपञ्चमं वा (१/४/१६)।

(दुर्गवृत्तिः)

अन्त्योऽनुस्वारो वर्गे परे तद्वर्गपञ्चमं वाऽऽपद्यते। यथा – त्वङ्करोषि, त्वं करोषि। त्वञ्चरसि, त्वं चरसि। पुम्भ्याम्, पुंभ्याम्।

[**पाठा०** - वर्ग इति किम्? त्वं लुनासि]।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अनुस्वार का वर्गीय पञ्चम वणदिश

वर्गीय वर्ण के परे रहते पदान्तवर्ती अनुस्वार के स्थान में विकल्प से वर्गीय पञ्चम वर्ण आदेश होता है ' जैसे – 'त्वङ्करोषि, त्वं करोषि। त्वञ्चरसि, त्वं चरसि। पुम्भ्याम्, पुंभ्याम्' इत्यादि।

४९. गान्धर्वे वर्गान्तरसंयोगः

श्रुत्यादेरभेदं नित्यवर्गौ वर्गान्तरेण (१/४/१६)।

श्रुत्यादे॒र्भेदं कृत्वा यद्वर्गो यस्मिन्निरूपितस्तद्वर्गो वर्गान्तरेण सह नित्यसंयोगो भवति। प्रयोजनमस्य यथोचितस्थाने ज्ञातव्यमिति।

।। इति वेदान्तदर्शन - व्याकरण - सङ्गीतादि - नानाशास्त्रविशारद - ठाकुरोपाधिक - श्रीमद्धरकुमारज - सङ्गीतनायक - श्रीमच्छौरीन्द्र - कृत - गान्धर्ववृत्तौ सन्धौ चतुर्थः पादः समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में वर्ग का वर्गान्तर के साथ नित्य संयोग

श्रुति आदि का अभेद करके जो वर्ग जिसमें दिखाया जाता है = निरूपित किया जाता है, उस वर्ग का वर्गान्तर के साथ नित्य संयोग होता है। इसका प्रयोजन यथोचित स्थान में जानना चाहिये।

टिप्पणी - ५०

'त्वम्+करोषि, त्वम्+चरसि, पुम्+भ्याम्' इस स्थिति में 'म्' के स्थान में **"मोऽनुस्वारं व्यञ्जने"** (१/४/१५) से अनुस्वार आदेश तथा प्रकृत सूत्र **"वर्गे तद्वर्गपञ्चमं वा"** (१/४/१६) से अनुस्वार के स्थान में परवर्ती वर्गीय वर्ण का

वर्गीय पञ्चम वर्ण आदेश होकर 'त्वङ्करोषि, त्वञ्चरसि, पुम्भ्याम्' शब्दरूप निष्पन्न होते हैं। पक्ष में वर्गीय पञ्चम वर्ण आदेश न होने पर 'त्वं करोषि, त्वं चरसि, पुंभ्याम्' रूप भी साधु माने जाते हैं। पाणिनीय व्याकरण में भी **"मोऽनुस्वारः"** (८/३/२३) से अनुस्वारादेश तथा **"वा पदान्तस्य"** (८/४/५९) से वैकल्पिक परसवर्णादेश होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं। क्, च् तथा भ् वर्णों के परवर्ती होने पर पूर्ववर्ती अनुस्वार के स्थान में यदि क्रमशः ङ्, ञ् तथा म् आदेश करना हो तो कवर्ग, चवर्ग तथा पवर्ग का पञ्चम वर्ण आदेश करना अधिक सुविधाजनक कहा जा सकता है, परसवर्णादेश-विधान की अपेक्षा। उदाहरणार्थ यदि 'त्वङ्करोषि' को लिया जाय, तो निम्नाङ्कित के अनुसार स्थान-प्रयत्न मिलाने के बाद ही यह निश्चय किया जा सकता है कि कवर्ग के परवर्ती होने पर पूर्ववर्ती अनुस्वार के स्थान में 'ङ्' आदेश उपपन्न होगा—

स्थान	वर्ण
नासिका	अनुस्वार (म्-स्थानिक)।
कण्ठ	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
नासिका	ङ्
प्रयत्न	वर्ण
(आभ्यन्तर) स्पृष्ट	क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, म् (अनुस्वार)।
(बाह्य) अल्पप्राण, संवार, नाद, घोष	ग्, ङ्, म् (अनुस्वार)।

उपर्युक्त स्थिति में स्थान- प्रयत्नों को मिलाकर देखने पर यह विदित होता है कि बाह्य प्रयत्नों में भी प्रत्येक वर्ग के दो-दो वर्ण समान प्रयत्न वाले रह जाते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न में तो वर्गीय पाँचों वर्णों का स्पृष्ट ही प्रयत्न होता है। बाह्य प्रयत्न के अनुसार 'ग्' को हटाने के लिये नासिका-स्थान का आश्रय लेना पड़ता है। यतः अनुस्वाररूप स्थानी वर्ण का स्थान नासिका है और वह कवर्गीय वर्णों में से केवल 'ङ्' का ही होता है। अन्य प्रथम-द्वितीयादि वर्णों का नहीं। अतः कवर्ग के परवर्ती होने पर अनुस्वार के स्थान में 'ङ्' ही परसवर्ण होता है। यह विधि पाणिनीय व्याकरण की है। सामान्यतया किसी भी वर्ग के पञ्चम वर्ण को जानने की अपेक्षा परसवर्ण विधि से पञ्चम वर्ण जानना अत्यन्त प्रयत्नसाध्य है।

सङ्गीतशास्त्र में किसी एक वर्ग का वर्गान्तर के साथ जो नित्य संयोग बताया गया है, उससे कलापव्याकरण की विधि के साथ सादृश्य दिखाने का प्रशंसनीय प्रयास है।

सन्धिप्रकरण-चतुर्थ पाद समाप्त ।

●

अथ नामचतुष्टयवृत्तिः

प्रथमः पादः

५०. कलापे लिङ्गसंज्ञा

धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम् (२/१/१) ।

(दुर्गवृत्तिः)

अर्थोऽभिधेयम् । धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गसंज्ञं भवति । यथा-वृक्षः, कुण्डम्, कुमारी, डित्थः, राजपुरुषः, औपगवः, कारकः ।

[**पाठा०** - धातुविभक्तिवर्जमिति किम् ? अहन्, वृक्षान् । अर्थवदिति किम् ? वृक्ष इति व्-ऋ-क्-षामेकैकशो मा भूत्, राजन्नित्युन्मत्तवचनस्य च । लिङ्गप्रदेशाः "लिङ्गान्तनकारस्य" (२/३/५६) इत्येवमादयः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में लिङ्गसंज्ञा

सूत्रपठित 'अर्थ' शब्द से यहाँ अभिधेय ग्राह्य है । धातु-विभक्ति को छोड़कर अर्थवान् शब्द की लिङ्गसंज्ञा होती है ।

जैसे – 'वृक्षः, कुण्डम्, कुमारी, डित्थः, राजपुरुषः, औपगवः, कारकः' इत्यादि पदों में 'वृक्ष-कुण्ड' आदि की लिङ्गसञ्ज्ञा होगी।

५०. गान्धर्वे नामसंज्ञा

मात्रावर्जस्वरो नाम (२/१/१) ।

मात्रावर्जितस्वरो नामसंज्ञो भवति । यथा–'स - ऋ - ग - म - प - ध - नि'। एते मात्राहीनाः स्वरा नामसंज्ञा ज्ञेयाः ।

स्वरस्थायिकालरूपं मात्रा ।

एकमात्रादिरूपेण स्वरस्थायिकालरूपं चिह्नं मात्रासंज्ञम्भवति । यथा-

I, II, III, ँ, •, ×, ○, *

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में नामसंज्ञा

मात्रारहित स्वर की नाम संज्ञा होती है । जैसे–'स, ऋ, ग, म, प, ध, नि'। इन मात्राहीन स्वरों की नामसंज्ञा समझनी चाहिये ।

मात्रासंज्ञा

एक मात्रा आदि के रूप में स्वर को बनाये रखने वाले काल के बोधक चिह्न की मात्रा संज्ञा होती है, जैसे—I, II, III, ँ, •, ×, ○ , * ।

टिप्पणी- ५१

१. पाणिनि ने "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्, कृत्तद्धितसमासाश्च" (अ० १/२/४५, ४६) इन दो सूत्रों द्वारा धातु-प्रत्ययवर्जित अर्थवान् जिन शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा की है, शर्ववर्मा ने उनके लिये 'लिङ्ग' इस संज्ञाशब्द का व्यवहार किया है । इन दोनों में यद्यपि प्रातिपदिक संज्ञा अधिक प्रसिद्ध है, तथापि लिङ्गसंज्ञा भी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त हुई है । इस प्रकार दोनों में से किसी का भी गौरव या लाघव यद्यपि सिद्ध नहीं किया जा सकता, तथापि आकार की दृष्टि से लिङ्गसंज्ञा अवश्य ही लघु है, जबकि प्रातिपदिक एक महती संज्ञा है।

कैयट आदि व्याख्याकारों के मतानुसार एक या दो अक्षरों वाली ही संज्ञा की जानी चाहिए, क्योंकि लोकव्यवहारसम्पादन का लघु उपाय एकमात्र शब्दव्यवहार ही है, उसमें भी संज्ञा-व्यवहार तो और भी अधिक लाघवाधायक होता है । अतः संज्ञा को अत्यन्त लघु (एक या दो अक्षरों वाली) ही होना चाहिये ।

२. व्याख्याकारों ने महती संज्ञा का एक प्रयोजन माना है-उसका अन्वर्थ होना। अन्वर्थसंज्ञा वह होती है, जिसका कोई लोकप्रचलित यौगिक अर्थ होने के साथ शास्त्र में उसका अर्थविशेष में नियमन किया गया हो-'सर्वार्थाभिधानयोग्यशब्दस्य शक्तिनियमनमात्रं सञ्ज्ञाकरणम्, सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टार्थे संव्यवहाराय नियम्यते तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति' (म०भा०प्र० १/१/२७, २०)। इस दृष्टि से 'पदं पदं प्रति प्रतिपदम्, तत्र भवम्' इस अर्थ के अभिप्रेत होने से यदि प्रातिपदिक संज्ञा को अन्वर्थ माना जाता है, तो 'लिङ्ग्यते चित्र्यतेऽनेनैकदेशेनार्थो गम्यते' इस अर्थ की सङ्गति से 'लिङ्ग' संज्ञा को भी अन्वर्थ सिद्ध किया जा सकता है।

३. शब्दशक्तिप्रकाशिकाकार के अनुसार नाम और प्रातिपदिक में कोई भेद नहीं होता-'यत् प्रातिपदिकं प्रोक्तं तन्नाम्नो नातिरिच्यते' (कारिका १४), तथापि पूर्वाचार्यों ने नाम संज्ञा का अधिकांश व्यवहार सुबन्त पद के लिये किया है । जैसे—

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान-लिङ्गे किमि चिति विभक्तावेतन्नाम (सू० २)। (लिङ्गम्=प्रातिपदिकम्, किम्=स्त्रीत्वादिकम्, चित्=संख्या, विभक्तिः=कर्मादिकारकम्, एष्वर्थेषु यच्छब्दरूपं वर्तते तन्नाम इत्युच्यते–व्याख्या) । इस व्याख्या से स्पष्ट है कि पूर्वाचार्य प्रातिपदिक के अर्थ में लिङ्गसंज्ञा का भी व्यवहार करते थे ।

गोपथब्राह्मण- किं नामाख्यातम् (१/१/२४)।

बृहद्देवता- **अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।**
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः।। (१२/१८)।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य- नाम वायव्यमिष्यते (८/५२)।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य- आख्यातानि नामसदृशानि (१/३/३)।

नाट्यशास्त्र- **नामाख्याततनिपातैरुपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः ।**
सन्धिविभक्तिषु युक्तो विज्ञेयो वाचकाभिनयः।।
(१४/४)।

अर्वाचीन आचार्यों ने 'लिङ्ग' संज्ञा के अर्थ में 'प्रातिपदिक-नाम-मृत्-लि' शब्दों का प्रयोग किया है।

अग्निपुराण- धातुप्रत्ययहीनं यत् स्यात् प्रातिपदिकं तु तत् (३५०/२३)।

नारदपुराण- अर्थवत् प्रातिपदिकं धातुप्रत्ययवर्जितम् (५२/३)।

जैनेन्द्रव्याकरण- अधु मृत् (१/१/५)।

हैमशब्दानुशासन- अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम (१/१/२७)।

मुग्धबोधव्याकरण- क्त्यन्तान्यौ दली (सू० १४)।

४. लिङ्गसंज्ञा में धातुओं का वर्जन यदि न किया जाता तो 'अहन्' इत्यादि में धातुओं की भी लिङ्गसंज्ञा हो जाने से नलोप आदि कार्य प्रवृत्त हो जाते– *"लिङ्गान्तनकारस्य"* (२/३/५६) । विभक्ति का परित्याग किये जाने से 'वृक्षान्' की भी लिङ्गसंज्ञा और उसके फलस्वरूप नलोप नहीं होता है।

'अर्थवत्' पाठ होने से वृक्षशब्दगत 'व् - ऋ - क् - ष् - अ' में से किसी भी वर्ण की स्वतन्त्ररूप में लिङ्गसंज्ञा प्रवृत्त नहीं होती है । 'अर्थ' शब्द की व्याख्या करते हुये व्याख्याकारों ने चार अर्थ बताये हैं—'अभिधेय, निवृत्ति, प्रयोजन तथा धन' । तथापि यहाँ अभिधेयपरक ही 'अर्थ' शब्द का पाठ किया गया है, क्योंकि अभिधेय में निवृत्ति आदि अर्थों का भी अन्तर्भाव हो जाता है । अर्थ के साथ शब्द का औत्पत्तिक संबन्ध है । शब्द को 'जाति-द्रव्य-गुण-क्रिया' के भेद से चार प्रकार का स्वीकार किया गया है ।

व्याख्याकारों ने 'जातिरेव शब्दार्थः, द्रव्यमेव शब्दार्थः, उभयमेव शब्दार्थः' इन तीन पक्षों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है । वर्णों की अर्थवत्ता आदि पर भी विचार किया गया है ।

टीकाकार दुर्गसिंह ने शब्द के चार भेदों को 'जाति-द्रव्य-गुण-क्रिया' के क्रम से प्रस्तुत किया है, परन्तु उदाहरण 'जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य' के क्रम से दिये हैं । इस व्यतिक्रम का समाधान करते हुये कलापचन्द्रकार सुषेण विद्याभूषण ने कहा है कि आचार्य दण्डी 'जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य' के ही क्रम को स्वाभाविक मानते हैं, उन्हीं के अनुसार दुर्गसिंह ने भी उदाहरणों का क्रम रखा है—

जाति-क्रिया-गुण-द्रव्यैः स्वभावाख्यानमीदृशम् ।
दण्डिनो मतमाश्रित्य दुर्गेणापीत्युदाहृतम् ।।

कलापचन्द्रकार ने प्रसङ्गतः 'हेमकर-गोपीनाथ' आदि आचार्यों के भी मतों का उल्लेख किया है ।

सङ्गीतशास्त्र में मात्राहीन स्वरों की 'नाम' संज्ञा करके व्याकरणशास्त्रीय मान्यता से सादृश्य दिखाया गया है ।

५१. कलापे विभक्तिसंज्ञा

तस्मात् परा विभक्तयः (२/१/२) ।

(दुर्गवृत्तिः)

तस्माल्लिङ्गात् पराः स्यादयो विभक्तयो भवन्ति । यथा–

	एकवचनम्	**द्विवचनम्**	**बहुवचनम्**
प्रथमा	सि	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औ	शस्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

दृशत् - दृशद्, दृशदौ, दृशदः [**पाठा०** - दृषदा, दृषद्भ्याम्, दृषद्भिरित्यादि । ---- खट्वा, खट्वे, खट्वाः] कुमारी, कुमार्यौ, कुमार्यः । अर्थस्य विभञ्जनाद् **विभक्तय** इति] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में विभक्तिसंज्ञा

लिङ्गसंज्ञक शब्दों से होने वाले 'सि' आदि प्रत्ययों की विभक्तिसंज्ञा होती है। जैसे—

प्रथमा एकवचन – सि, द्विवचन - औ, बहुवचन - जस् ।
द्वितीया एकवचन – अम्, द्विवचन - औ, बहुवचन - शस् ।
तृतीया एकवचन – टा, द्विवचन - भ्याम्, बहुवचन - भिस् ।
चतुर्थी एकवचन – ङे, द्विवचन - भ्याम्, बहुवचन - भ्यस् ।
पञ्चमी एकवचन – ङसि, द्विवचन - भ्याम्, बहुवचन - भ्यस् ।
षष्ठी एकवचन – ङस्, द्विवचन - ओस्, बहुवचन - आम् ।

सप्तमी एकवचन – ङि, द्विवचन - ओस्, बहुवचन-सुप् ।

जैसे—दृशत् - दृशद्, दृशदौ, दृशदः । कुमारी, कुमार्यौ, कुमार्यः इत्यादि । अर्थ का विभाग करने के कारण 'सि' आदि को विभक्ति कहते हैं ।

५१. गान्धर्वे विभक्तिसञ्ज्ञा

स्वरोपरिस्थिता विभक्तयः (२/१/२) ।

स्वरोपरिस्थिताः एकादयस्तारकान्ता मात्रासमूहाः सप्त विभक्तयो भवन्ति । यथा–

	एकवचनम्	**द्विवचनम्**	**बहुवचनम्**
एकमात्रा	I	II	III
द्विमात्रा	II	II II	II II II
त्रिमात्रा	III	III III	III III III
अर्द्धमात्रा	ँ	ँ ँ	ँ ँ ँ
पादमात्रा	×	× ×	× × ×
पादार्धमात्रा	◯	◯◯	◯◯◯
पादपादमात्रा	*	* *	* * *
	I II III	I I III	ँ × ◯ *
	स स स	स ऋ स	स ऋ ग स

इत्यादि यथाक्रममन्येषु स्वरेष्वेवं ज्ञेयमिति । स्वरस्य विभञ्जनाद् विभक्तय इति । तथा च गीतनिर्णये भरतः—

ँ अर्धेन्दुरर्धमात्रा ।

◯ पादार्धज्ञापको यवः ।

Y तृतीयांशं त्रिशूलम् ।

Δ त्रिकोणं कोमलवाचकम् ।

< दक्षावर्तकोणं विक्षेपबोधकम् ।

> तद्विपरीतं तु प्रक्षेपज्ञापकम् ।

~ हिल्लोलाकृतिर्मूर्छना ।

× वज्राकृतिः पादमात्रा ।

* पादपादप्रकाशकस्तारकः ।

↑ द्वित्र्यंशबोधको बाणः ।

⚑ पताका तीव्रबोधिका इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में विभक्तिसञ्ज्ञा

स्वरों के ऊपर एक खड़ी रेखा से लेकर तारक चिह्न-पर्यन्त सात मात्रासमूहों की विभक्ति संज्ञा होती है । जैसे—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
एकमात्रा	I	II	III
द्विमात्रा	II	II II	II II II
त्रिमात्रा	III	III III	III III III
अर्द्धमात्रा	˘̇—	˘̇- ˘̇-	˘̇- ˘̇- ˘̇-
पादमात्रा	×	× ×	× × ×
पादार्धमात्रा	⌓	⌓⌓	⌓⌓⌓
पादपादमात्रा	*	* *	* * *
	I II III	I I III	˘̇ × ⌓ *
	स स स	स ऋ स	स ऋ ग स

इसी प्रकार से अन्य स्वरों में भी क्रमशः उक्त विभक्तियों की योजना करनी चाहिये । स्वरों का विभाग करने से इन्हें विभक्ति कहते हैं । जैसे कि भरत मुनि ने गीतनिर्णय के प्रसङ्ग में कहा है—

˘̇— अर्धमात्रा का बोधक चिह्न बिन्दुयुक्त अर्धचन्द्र ।
⌓ मात्रा के आठवें भाग का बोधक चिह्न यव ।
Ψ मात्रा के तृतीयांश का बोधक चिह्न त्रिशूल ।
▲ त्रिकोण चिह्न कोमलता का वाचक होता है ।
< दाहिने ओर को मुड़ा हुआ कोण-चिह्न विक्षेपबोधक ।
> उससे विपरीत चिह्न प्रक्षेप का ज्ञापक होता है ।
∽ झूले की आकृति मूर्छना को सूचित करती है ।
× मात्रा के चतुर्थ भाग का बोधक वज्राकृति का चिह्न ।
* मात्रा के १६वें भाग का बोधक चिह्न तारक ।
↑ मात्रा के द्वितीय-तृतीय अंश का बोधक चिह्न बाण ।
⚑ पताकाचिह्न स्वर की तीव्रता का बोध कराती है ।

टिप्पणी-५२

पूर्वाचार्यों ने तथा पाणिनि दोनों ने विभक्तिसंज्ञा की परिभाषा की है । पाणिनि के अनुसार सुप् तथा तिङ् प्रत्ययों में तीन-तीन प्रत्ययों के समुदाय की विभक्तिसंज्ञा

होती है–"विभक्तिश्च, प्राग् दिशो विभक्तिः" (पा० १/४/१०४; ५/३/१) । नाट्यशास्त्र के अनुसार विभक्ति उसे कहते हैं, जो धातु, लिङ्ग तथा पद के संख्या-कर्मादि अर्थों का विभाजन करती है–

एकस्य बहूनां वा धातोर्लिङ्गस्य पदानां वा ।
विभजन्त्यर्थं यस्माद् विभक्तयस्तेन ताः प्रोक्ताः ।।

(नाट्यशास्त्र १४/३०) ।

कातन्त्रकार ने अन्वर्थ मानकर विभक्तिसंज्ञा के लिये सूत्र नहीं बनाया है । प्राचीन ग्रन्थों में 'विभक्ति' संज्ञा का प्रयोग–

गोपथब्राह्मण– ओङ्कारं पृच्छामः । को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं वचनम्, का विभक्तिः ? (१/१/२४, २६) ।

बृहद्देवता- सङ्ख्याविभक्त्यव्ययलिङ्गयुक्तः (१/४५, २/९४, १०१) ।

ऋक्तन्त्र- विभक्तिलोपश्च (३/१/६) ।

निरुक्त- विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, यथार्थं विभक्तीः संनमयेत् (२/१;७/१)।

अर्वाचीन ग्रन्थों में विभक्ति का प्रयोग—

जैनेन्द्रव्याकरण-विभक्ती, ते विभक्तयः (१/२/१५७; ४/१/९१) ।

शाकटायनव्याकरण- त्रयी त्रयी विभक्तीः (१/३/१८१) ।

हैमव्याकरण-स्त्यादिर्विभक्तिः (१/१/१९) ।

मुग्धबोधव्याकरण-सित्यादिः क्तिः (सू० १२) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका- **सङ्ख्यात्वव्याप्यसामान्यैः शक्तिमान् प्रत्ययस्तु यः ।**
सा विभक्तिर्द्विधा प्रोक्ता सुप्-तिङ् चेति विभेदतः ।।
धातु - भेदानुपादाय तदर्थे कर्मतादिकान् ।
बोधयन्त्यो द्वितीयाद्या निर्वक्तव्या विभक्तयः ।।

(कारिका ६१, ६६) ।

अग्निपुराण- द्वे विभक्ती सुप्तिङश्च सुपः सप्त विभक्तयः (३५०/१) ।

नारदपुराण - सुपां सप्त विभक्तयः । विभक्तीनां विपर्यासो यथा दध्ना जुहोति हि । (५२/२, ५३/७) ।

कातन्त्रकार ने 'विभक्ति' शब्द की कोई परिभाषा तो नहीं की है, परन्तु उनके प्रयोग की व्यवस्था प्रकृत सूत्र में प्राप्त है । तद्धित-प्रकरण में 'तस्' आदि प्रत्ययों की विभक्तिसंज्ञा की गई है (कात० २/६/२४) । कातन्त्रव्याकरण में स्यादि २१ प्रत्ययों के लिये तथा त्यादि १८ प्रत्ययों के लिये सूत्र नहीं बनाये गये हैं । अतः वृत्तिकार ने स्यादि २१ प्रत्ययों को यहाँ गिनाया है और उनसे सिद्ध होने वाले शब्दों

के कुछ उदाहरण भी दिये हैं । टीकाकार आदि ने २१ प्रत्ययों में आने वाले अनुबन्धों की सार्थकता भी बताई है । पाणिनि ने **"ङ्याप्प्रातिपदिकात्"** (अ० ४/१/१) इस अधिकारसूत्र द्वारा ङ्यन्त तथा आबन्त से भी 'सु-औ' आदि प्रत्यय विहित किये हैं । इसका स्पष्टीकरण करते हुये व्याख्याकारों ने कहा है कि ङ्यन्त और आबन्त शब्दरूपों से ही तद्धित प्रत्यय हों, सुबन्त से न हों-इसलिये यहाँ प्रातिपदिक से भिन्न 'ङ्याप्' का पाठ किया गया है, परन्तु इसे महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि (बालमनोरमा ४/१/१) आवश्यक नहीं मानते । इस प्रकार कातन्त्रकार का ही सूत्रनिर्देश अधिक संगत प्रतीत होता है ।

सङ्गीतशास्त्र में जिन मात्राओं से रहित स्वर की नामसंज्ञा की गई है, उन्हीं मात्राओं को विभक्ति कहा गया है । वे मात्राएँ ७ प्रकार की उपलब्ध होती हैं– I, II, III, ≗, ˙, ×, ◡, *,

५२. कलापे घुट्संज्ञा

पञ्चादौ घुट् (२/१/३) ।

(दुर्गवृत्तिः)

स्यादीनामादौ पञ्च वचनानि घुट्संज्ञानि भवन्ति । यथा–सि, औ, जस्, अम्, औ । घुट्प्रदेशाः–"घुटि चासम्बुद्धौ" (२/२/१७) इत्येवमादयः ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में घुट् संज्ञा

स्यादि विभक्तियों के प्रारम्भिक ५ वचनों की 'घुट्' संज्ञा होती है । जैसे–सि, औ, जस्, अम्, औ । "घुटि चासम्बुद्धौ" (२/२/१७) इत्यादि सूत्रों में घुट् संज्ञा का प्रयोग होता है ।

५२. गान्धर्वे मुख्यमात्रासंज्ञा

त्रीण्यादीनि मुख्यानि (२/१/३) ।

एकमात्रादीनि त्रीणि चिह्नानि मुख्यमात्रासंज्ञकानि भवन्ति । यथा-I (एकमात्रम्), II (द्विमात्रम्), III (त्रिमात्रम्) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में मुख्यमात्रासंज्ञक चिह्न

एकमात्रा आदि के तीन चिह्नों की मुख्यमात्रा संज्ञा होती है । जैसे– I (एकमात्रा), II (दो मात्राएँ), III (तीन मात्राएँ) ।

टिप्पणी-५३

कातन्त्रकार ने यहाँ जिन 'सि-औ-जस्-अम्-औ' इन पाँच प्रत्ययों की 'घुट्' संज्ञा की है । पाणिनि ने उसे सर्वनामस्थान (शि सर्वनामस्थानम्, सुडनपुंसकस्य-अ०

१/१/४२, ४३) कहा है । स्पष्ट है कि 'घुट्' संज्ञा लघुसंज्ञा है, जबकि 'सर्वनामस्थान' एक महती संज्ञा । न्यासकार आदि सर्वनामस्थान को यद्यपि पूर्वाचार्यकृत मानते हैं, तथापि किस पूर्वाचार्य ने इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया था–यह ज्ञात नहीं है । कुछ व्याख्याकार तो यह भी कहते हैं कि पाणिनि ने इस संज्ञा का समादर (प्रयोग = व्यवहार) अपने ग्रन्थ में इसलिये किया है कि इससे पूर्वाचार्यों का उपहास सूचित हो और वह इसलिये कि पूर्वाचार्य कितनी महती संज्ञा का प्रयोग करते थे । अस्तु पाणिनि की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा में गौरव स्पष्ट है ।

सङ्गीतशास्त्र में इसकी समानता मुख्यमात्रासंज्ञक एकमात्रा आदि के चिह्नों से की गई है ।

५३. कलापे घुट्संज्ञा

जस्शसौ नपुंसके (२/१/४) ।

(दुर्गवृत्तिः)

नपुंसकलिङ्गे जस्-शसौ घुट्संज्ञकौ भवतः । यथा–सामानि तिष्ठन्ति । सामानि पश्य । नपुंसके जसेव घुडिति नियमाद् वारिणी, जतुनी ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में घुट् संज्ञा

नपुंसकलिङ्ग में 'जस्-शस्' प्रत्ययों की घुट् संज्ञा होती है । जैसे–सामानि तिष्ठन्ति । सामानि पश्य । नपुंसकलिङ्ग में 'जस्' प्रत्यय की ही घुट् संज्ञा मान्य है– इस नियम के अनुसार 'वारिणी, जतुनी' प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

५३. गान्धर्वे ह्रस्वदीर्घसंज्ञे

एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घौ (२/१/४) ।

एकमात्रद्विमात्रयोर्ह्रस्वदीर्घसंज्ञे भवतो यथासंख्यम् । एको ह्रस्वः । द्वौ दीर्घौ ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ह्रस्व-दीर्घ संज्ञाएँ

एकमात्रा की ह्रस्वसंज्ञा तथा दो मात्राओं की दीर्घ संज्ञा होती है ।

टिप्पणी-५४

'द्र०-टिप्पणी संख्या-५३

५४. कलापे सम्बुद्धिसञ्ज्ञा

आमन्त्रिते सिः सम्बुद्धिः (२/१/५) ।

(दुर्गवृत्तिः)

सिद्धस्याभिमुखीकरणमामन्त्रितम् । तस्मिन्नर्थे विहितः सिः सम्बुद्धिसंज्ञो भवति ।

यथा–हे अम्ब ! हे वृक्ष ! [**पाठा०**-सम्बुद्धिप्रदेशाः–"सम्बुद्धौ च" (२/१/३९, ५६] इत्येवमादयः ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में सम्बुद्धिसंज्ञा

किसी व्यक्ति को अपने सम्मुख कर लेने को आमन्त्रित कहते हैं । उस अर्थ में किए जाने वाले 'सि' प्रत्यय की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है । जैसे–हे अम्ब ! हे वृक्ष! इत्यादि ।

५४. गान्धर्वे सम्बुद्धिसञ्ज्ञा

आमन्त्रिते प्लुतः सम्बुद्धिः (२/१/५) ।

सिद्धस्याभिमुखीकरणमामन्त्रितम् । तस्मिन्नर्थे विहितः प्लुतः सम्बुद्धिसंज्ञो भवति । यथा—'आगच्छ भो देवदत्त अत्र, तिष्ठ भो यज्ञदत्त इह' इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सम्बुद्धि संज्ञा

आमन्त्रित का अर्थ होता है-किसी को अपने सम्मुख कर लेना । उस अर्थ में किए जाने वाले प्लुत की 'सम्बुद्धि' संज्ञा होती है । जैसे–'आगच्छ भो देवदत्त३ अत्र, तिष्ठ भो यज्ञदत्त३ इह' इत्यादि ।

टिप्पणी-५५

पाणिनि ने संबोधन में विहित प्रथमा विभक्ति की आमन्त्रितसंज्ञा स्वीकार की है–"संबोधने च, साऽऽमन्त्रितम्" (२/३/४७,४८) और उसमें एकवचन सु-प्रत्यय की संबुद्धि संज्ञा "एकवचनं सम्बुद्धिः" (२/३/४९) । इस प्रकार पाणिनि आमन्त्रित को योगरूढ स्वीकार करते हैं, जबकि कातन्त्रकार ने आमन्त्रित को यौगिक मानकर तदर्थ संज्ञासूत्र बनाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी और उस आमन्त्रित अर्थ में 'सि' (प्रथमा-एकवचन) की संबुद्धि संज्ञा-हेतु प्रकृत सूत्र बनाया है । यही दोनों व्याकरणों में संबुद्धिसंज्ञा की विशेषता है । वृत्तिकार दुर्गसिंह द्वारा प्रस्तुत 'सिद्ध' शब्द के ३ अर्थ व्याख्याकारों ने किये हैं–*नित्य, निष्पन्न और प्रसिद्ध* । उनमें से यहाँ प्रसिद्ध अर्थ ग्राह्य है । 'सिद्धि' शब्द को विद्यमानार्थक मानकर कलापचन्द्रकार सुषेण विद्याभूषण ने कहा है कि अविद्यमान का संबोधन नहीं हो सकता है ।

सङ्गीतशास्त्र के अनुसार आमन्त्रित अर्थ में किए जाने वाले प्लुत की सम्बुद्धि संज्ञा करके व्याकरणशास्त्रीय मान्यता से सादृश्य दिखाया गया है ।

५५. कलापे आगमव्यवस्था

आगम उदनुबन्धः स्वरादन्त्यात् परः (२/१/६) ।

(दुर्गवृत्तिः)

प्रकृतिप्रत्यययोरनुपघाती आगमः । आगम उदनुबन्धोऽन्त्यस्वरात् परः परिभाष्यते । यथा-पद्मानि, पयांसि [**पाठा०**-आगम इति किम् ? विद्युत्वान् । उदनुबन्ध आगमस्य लिङ्गम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में आगम की व्यवस्था

प्रकृति-प्रत्यय का किसी भी प्रकार उपघात न करने वाला आगम होता है । उकारानुबन्ध वाले आगम की प्रवृत्ति अन्तिम स्वर के बाद होती है । जैसे–पद्मानि, पयांसि ।

५५. गान्धर्वे आगमसंज्ञा

श्रुतिस्वरयोरनुपघात्यलङ्कारश्चागमः (२/१/६) ।

(दुर्गवृत्तिः)

प्रकृतिप्रत्यययोः श्रुतिस्वरयोरनुपघाती अननिष्टकारी योऽलङ्कारः स आगमसंज्ञो भवति । यथा–गमक - तान - कृन्तनादयश्चैतेऽलङ्कारा आगमरूपिणो भवन्ति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में आगमसंज्ञा

प्रकृति-प्रत्यय अर्थात् श्रुति-स्वर का उपघात न करने वाले अलङ्कार को 'आगम' कहते हैं, अर्थात् उसकी 'आगम' संज्ञा होती है । जैसे-गमक-तान-कृन्तन आदि अलङ्कार आगम के रूप में होते हैं ।

टिप्पणी–५६

आगच्छतीत्यागमः। जो प्रकृति-प्रत्यय का उपघात किए विना ही प्रवृत्त होता है, उसे आगम कहते हैं–'प्रकृतिप्रत्यययोरनुपघाती आगमः'। आपिशलि आचार्य ने भी आगम-विकार-आदेश-लोप की परिभाषा करते हुए कहा है—

आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात् ।
आदेशस्तु प्रसङ्गेन लोपः सर्वापकर्षणात् ।।

प्रकृति–प्रत्यय का उपघात न करने के कारण ही आगम को मित्रवत् कहा जाता है । पाणिनि ने जो 'नुम्' आदि मित् आगम किए हैं और उनके लिए परिभाषा-सूत्र बनाया है—"मिदचोऽन्त्यात् परः" (पा०अ० १/१/४७) । कलापव्याकरण में ऐसे ही आगमों को उकार अनुबन्ध के साथ किया गया है । जैसे—'नु, मु' इत्यादि । इन्हीं आगमों की स्थान-व्यवस्था के लिये यह सूत्र बनाया है । तदनुसार उदनुबन्ध आगम अन्तिम स्वर के बाद होते हैं । जो आगम आदि या अन्त में प्रवृत्त होते हैं, उनका निर्देश सम्बद्ध सूत्रों में ही कर दिया गया है ।

सङ्गीतशास्त्र में प्रकृति-प्रत्ययरूप श्रुति-स्वर का उपघात न करने वाले अलङ्कारों

की जो आगम संज्ञा की गई है, उसका अर्थत: व्याकरणशास्त्रीय आगम से पूर्णतया सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

५६. कलापे 'स्मै' - आदेशः

स्मै सर्वनाम्नः (२/१/२५) ।

(दुर्गवृत्तिः)

अकारान्तात् सर्वनाम्नो लिङ्गात् परस्य ङे-वचनस्य 'स्मैः' भवति । यथा– सर्वस्मै, विश्वस्मै । [**पाठा०** -सर्वेषां नामेति किम् ? विश्वो नाम कश्चित् । विश्वमतिक्रान्त: अतिविश्व:, तस्मै अतिविश्वाय । **तीयाद् वा वक्तव्यम्**–द्वितीयस्मै, द्वितीयाय । तृतीयस्मै, तृतीयाय । किन्तत् सर्वनाम-सर्व, विश्व, उभ, उभय, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम इत्यादि]। [**पाठा०** -वृत् । त्व, नेम, सम, सिम । पूर्वापरावरदक्षिणोत्तरपराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्, स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्, अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयो: । वृत् । त्यद्, तद्, यद्, एतद्, अदस्, इदम्, किम्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवन्त्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में स्मै-आदेश

सर्वनामसंज्ञक अकारान्त लिङ्ग से परवर्ती 'ङे' प्रत्यय को 'स्मै' आदेश होता है । जैसे–'सर्वस्मै, विश्वस्मै' इत्यादि । सर्वनामसंज्ञा–सर्व, विश्व, उभ, उभय, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम' इत्यादि शब्दों की होती है ।

५६. गान्धर्वे सर्वनामसंज्ञा

ग्रामाश्रिताः सर्वनामानः (२/१/७) ।

सर्वे ग्रामाश्रिता: ग्रामानुगता: स्वरादय: सर्वनामसंज्ञा भवन्ति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सर्वनाम संज्ञा

ग्राम के आश्रित रहने वाले अर्थात् ग्राम का अनुसरण करने वाले स्वरादि की सर्वनाम संज्ञा होती है ।

टिप्पणी–५७

'सर्व+ङे' इस अवस्था में पाणिनि और शर्ववर्मा दोनों ही वैयाकरण आचार्य 'ङे' को 'स्मै' आदेश करके 'सर्वस्मै' शब्दरूप सिद्ध करते हैं । अत: आदेश-विधान की दृष्टि से उभयत्र साम्य ही है । परन्तु गणपठित शब्दक्रम के अनुसार विशेषता यह है कि कातन्त्रकार सर्वादिगण में 'द्वि' शब्द से पूर्व ही 'किम्' शब्द का पाठ करते हैं, इसके विपरीत पाणिनीय गण में 'किम्' शब्द का पाठ द्वि-शब्द के अनन्तर किया गया है । इसीलिये **''किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्य:''** (अ० ५/३/२) इस सूत्र में

पाणिनि ने द्व्यादिगण से अतिरिक्त 'किम्' शब्द पढ़ा है । यदि उसे पृथक् से न पढ़ा जाता तो द्व्यादिगण के अन्तर्गत पठित होने के कारण उससे भी 'तसिल्' आदि प्रत्यय नहीं होते । इसके विपरीत कातन्त्र में 'द्वि' से पूर्व ही 'किम्' शब्द का पाठ होने से 'तसिल्' आदि प्रत्ययों के विधायक सूत्र में 'किम्' शब्द का पाठ नहीं किया गया है—

विभक्तिसंज्ञा विज्ञेया वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ये ।

अद्व्यादेः सर्वनाम्नस्ते बहोश्चैव पराः स्मृताः ।। (कात० २/६/२४) ।

कातन्त्रकार ने **सर्वेषां नाम सर्वनाम** अर्थात् उन शब्दों की 'सर्वनाम' संज्ञा प्रसिद्ध है, जो साकल्य अर्थ के प्रतिपादक हैं—इस प्रकार सर्वनाम की अन्वर्थता बताकर सर्वनाम संज्ञा-विधायक सूत्र नहीं बनाया है । साकल्यार्थप्रतिपादक शब्दों की ही सर्वनाम संज्ञा माने जाने के कारण 'विश्व' आदि संज्ञा-शब्दों में तथा 'विश्वमतिक्रान्तोऽतिविश्वः' आदि में सर्वनामसंज्ञा-प्रयुक्त कार्य प्रवृत्त नहीं होते हैं— 'विश्वाय, अतिविश्वाय' । कातन्त्र में 'न गौणे सार्वनामिकम्' वचन प्रसिद्ध है । 'सर्व' आदि शब्दों को गण में पढ़े जाने के कारण 'जगत्, कृत्स्न, निखिल' आदि सर्वार्थप्रतिपादक शब्दों की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है । व्याख्याकारों ने 'तीयाद् वा वक्तव्यम्, स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' आदि वार्त्तिकसूत्र-अन्तर्गणसूत्र पढ़कर 'द्वितीयस्मै, द्वितीयाय' आदि रूपों का भी साधुत्व दिखाया है । 'पश्चिम, प्रथम, द्वय' आदि की सर्वनामता के विषय में व्याख्याकारों के विचार पठनीय हैं ।

सङ्गीतशास्त्र में ग्राम का अनुसरण करने वाले स्वरादि की जो सर्वनामसंज्ञा की गई है, उससे व्याकरणशास्त्रीय सर्वनाम संज्ञा के साथ पर्याप्त सादृश्य बताने का प्रयत्न किया गया है ।

५७. कलापे सर्वनामकार्यप्रतिषेधः

नान्यत् सार्वनामिकम् (२/१/३३) ।

(दुर्गवृत्तिः)

चकारोऽनुवर्तते । द्वन्द्वस्थस्य सर्वनाम्नो लिङ्गस्योक्तमन्यच्च सार्वनामिकं कार्यं न भवति । यथा–पूर्वापराय, पूर्वापरात्, दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में सार्वनामिक कार्यों का निषेध

द्वन्द्वसमास में सर्वनामसंज्ञक लिङ्ग में सर्वनामसम्बन्धी कार्य नहीं होते हैं । जैसे–'पूर्वापराय, पूर्वापरात्, दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' इत्यादि ।

५७. गान्धर्वे सर्वनामकार्यप्रतिषेधः

तेषु भ्रष्टेषु न सार्वनामिकम् (२/१/८) ।

तेषु स्वरादिभ्रष्टेषु ग्रामातिक्रान्तेषु च सार्वनामिकं कार्यं न भवति । ग्रामातिक्रान्तेषु एकस्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे गतेष्वपीत्यर्थः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सार्वनामिक कार्यों का अभाव

स्वरादि से हीन में तथा ग्राम का अतिक्रमण करने वाले ग्रामरहित या एक ग्राम से अन्य ग्राम को प्राप्त करने वाले में सर्वनामप्रयुक्त कार्य नहीं होते हैं ।

टिप्पणी–५८

द्वन्द्व तथा बहुव्रीहि समास में सामान्यतया सर्वनामप्रयुक्त कार्यों का निषेध कलापव्याकरण में किया गया है। तदनुसार 'पूर्वापराय, पूर्वापरात्, वस्त्रान्तरवसनान्तराः' आदि शब्दरूप सिद्ध होते हैं । कलाप में सर्वनामसंज्ञा न होने से सर्वनामप्रयुक्त कार्य का निषेध किया गया है, जबकि पाणिनि के अनुसार सर्वनामसंज्ञा का ही निषेध होता है।

सङ्गीतशास्त्र के अन्तर्गत स्वरादि से हीन इत्यादि में जो सार्वनामिक कार्यों का अभाव दिखाया गया है, इससे व्याकरणशास्त्रीय पर्याप्त समानता स्थापित करने का प्रयत्न कहा जा सकता है।

तुलनात्मक नामचतुष्टयप्रकरण-प्रथम पाद समाप्त ।



अथ सङ्गीतशास्त्रीयं नादप्रकरणम्

५८. गान्धर्वे नादस्य लक्षणम् उद्भवश्च

न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वरः ।
न नादेन विना रागस्तस्मान्नादात्मकं जगत् ।।इति।
(सं० र०-सुधाकरटीका-अ० १, प्र० २, श्लो० १-३),
स हृत्कण्ठशिरोभ्यश्चोत्पन्नः (२/१/९) ।

स नादो हृत्कण्ठशिरोभ्य: स्थानत्रयेभ्यश्चोत्पन्नो भवति । यथा–**सङ्गीतार्णवे** सुधाकरः–

स हृत्कण्ठशिरोभ्यश्च त्रिस्थानेभ्यो यथाक्रमम् ।
द्वाविंशतिविभागेन श्रुतिरूपोऽभवत् सदा ।।१।
हृत्कण्ठशिर इत्येषां द्विगुणादुत्तरोत्तरम् ।
प्रत्येकं स्थानमेतच्च द्वाविंशतिविधं भवेत् ।।२।
हृद्यूर्ध्वनाडिकालग्ना नाड्यो द्वाविंशतिः शुभाः ।
ताश्च वक्रास्तथोर्ध्वस्था ध्वनयो मरुदाहृताः ।।३।
एते तु ध्वनिभेदाः स्युः श्रवणात् श्रुतिसंज्ञिताः ।
उच्चोच्चभावमापन्ना द्विगुणादुत्तरोत्तरम् ।।४।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में नादविषयक विशेष मान्यताएँ

नादलक्षण

नाद के विना न तो गीत प्रतिष्ठित हो सकता है और न ही स्वर तथा राग। फलत: यह समग्र संसार नादात्मक ही सिद्ध होता है ।

नाद का तीन स्थानों से उद्भव

उक्त प्रकार का नाद हृदय, कण्ठ तथा शिर इन तीन स्थानों से उत्पन्न होता है । जैसे कि आचार्य सुधाकर ने **सङ्गीतार्णव** नामक ग्रन्थ में कहा भी है—

वह नाद 'हृदय - कण्ठ - शिर' इन तीन स्थानों से क्रमश: उत्पन्न होकर २२ श्रुतियों के रूप में स्थित होता है । हृदय - कण्ठ - शिर स्थानों के उत्तरोत्तर द्विगुण होने से प्रत्येक स्थान के २२ भेद हो जाते हैं । हृदय के ऊर्ध्वभाग में स्थित नाडी से २२ शुभ नाडियाँ मिली हुई हैं, उनमें कुछ तो वक्र = तिरछी हैं और कुछ ऊपर की ओर उठी हुई हैं । इन्हीं में मरुत् = वायु के आघात से ध्वनियाँ पैदा होती हैं । इन ध्वनिभेदों का जब श्रवण होता है, तो उनकी 'श्रुति' संज्ञा हो जाती है, जो उच्च तथा उच्चतम भाव को प्राप्त होती रहती हैं ।

५९. गान्धर्वे श्रुतीनामुद्भवः

नादाच्च श्रुतयः (२/१/१०) ।

नादात् शब्दाद् द्वाविंशतिः श्रुतयो जाताः । तथा च **गीतनारायणे**–

नादाच्च श्रुतयो जातास्ताभ्यः षड्जादयः स्वराः ।
तेभ्यः स्युर्मूर्च्छनास्ताभ्यस्तानाख्या ग्रामसम्भवाः ।।इति।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में श्रुतियों का उद्भव

नाद (शब्द) से २२ श्रुतियाँ उत्पन्न हुई हैं । गीतनारायण में कहा गया है कि नाद से श्रुतियाँ, श्रुतियों से षड्ज आदि स्वर, स्वरों से मूर्च्छनाएँ और उनसे तानें उत्पन्न हुई हैं ।

६०. गान्धर्वे श्रुतिसंज्ञा

श्रवणग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिः (२/१/११) ।

श्रवणेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिसंज्ञो भवति । तथा च **सङ्गीतसुधाकरे**—

श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।
सैव द्वाविंशतिर्ज्ञेया स्वरक्रमविभागतः ।।
नियताः श्रुतयः सर्वाः स्वरगुणप्रकाशिकाः ।
तस्मात् स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतयः श्रुतिवेदिभिः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में श्रुतियाँ

श्रवणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहणयोग्य होने के कारण ध्वनियों को ही श्रुति कहते हैं । सङ्गीतसुधाकर में कहा गया है कि श्रवणेन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही श्रुति नाम से कही जाती है, वह श्रुति स्वरक्रम-विभाग के कारण २२ प्रकार की होती है । श्रुतियों से स्वर के गुण प्रकाशित होते हैं, इसलिये श्रुतिविशेषज्ञ विद्वान् श्रुतियों को स्वर से सम्बद्ध मानते हैं ।

अन्यच्च–

६१. गान्धर्वे श्रुतिभेदाः

नादद्वाविंशतिभेदाः श्रुतयः (२/१/१२) ।

नादद्वाविंशतिप्रकारा भेदाः श्रुतयो भवन्ति । तथा च **नारदः**-

नादद्वाविंशतिर्भेदाः श्रुतयः परिकीर्तिताः ।
क्रमादुच्चोच्चतायुक्ता वीणया च सुलक्षिताः ।।
तारवीणाधरैश्चैव सुव्यक्तो जायते किल ।
कफादिदुष्टकण्ठे च श्रुतिव्यक्तो न जायते ।
स्वरमण्डलयन्त्रादौ दर्शयन्ति सुशिक्षिताः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में श्रुतियों के २२ भेद

नाद के २२ प्रकार होने के कारण श्रुतियाँ भी २२ प्रकार की होती हैं। ये क्रमश: उच्च तथा उच्चतर होती जाती हैं, जिनका स्पष्ट परिज्ञान वीणा से होता है। तारस्वर वाली वीणा के बजाने पर श्रुतियों की स्पष्टता का अवबोध होता है। कण्ठ के कदाचित् दोषग्रस्त होने पर श्रुतियाँ स्पष्ट नहीं हो पाती हैं, इसलिये शिक्षित व्यक्ति स्वरमण्डल तथा यन्त्र आदि में उन्हें दिखाते हैं।

६२. गान्धर्वे स्वरप्रकाशनम्

अन्यच्च —

श्रुतिभिः स्वराः प्रतिभान्ति (२/१/१३)।

श्रुतिभि: षड्जादिसप्तस्वरा: प्रतिभान्ति, अर्थात् स्वकीया: प्रतिभा: प्रकाशयन्ति। तथा च **नारायणः**—

नराणान्तु मुखं यद्वद् दर्पणेन विकासितम्।
प्रतिभान्ति स्वरास्तद्वत् श्रुतिभिः सह योगतः॥
षड्जादयः स्वराः सर्वे दीप्यन्ते श्रुतिभिः सह।
अन्धकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादयः॥

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में स्वरों का प्रकाशन

श्रुतियों के द्वारा षड्ज आदि सात स्वर प्रतिभासित होते हैं। अर्थात् वे अपनी प्रतिभा को प्रकाशित करते हैं। नारायण ने कहा है–मनुष्य का मुख जैसे दर्पण से विकसित हो जाता है, उसी प्रकार श्रुतियों के योग से स्वर प्रतिभासित होते हैं। जैसे अन्धकार में रखे हुए घटादि पदार्थ दीपक की प्रभा से प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रुतियों के द्वारा स्वरों का भी प्रकाशन होता है।

६३. गान्धर्वे श्रुतिपरिणामाः स्वराः

स्वराः श्रुतीनां परिणामाः (२/१/१४)।

षड्जादय: स्वरा: सर्वे श्रुतीनां परिणामा: स्मृता: कथिता इत्यर्थ:। तथा च उक्तं **मतङ्गेन-**

श्रुतीनाञ्च स्वराः सर्वे परिणामगताः स्मृताः।
परिणामे यथा क्षीरं दधिरूपेण सर्वदा॥

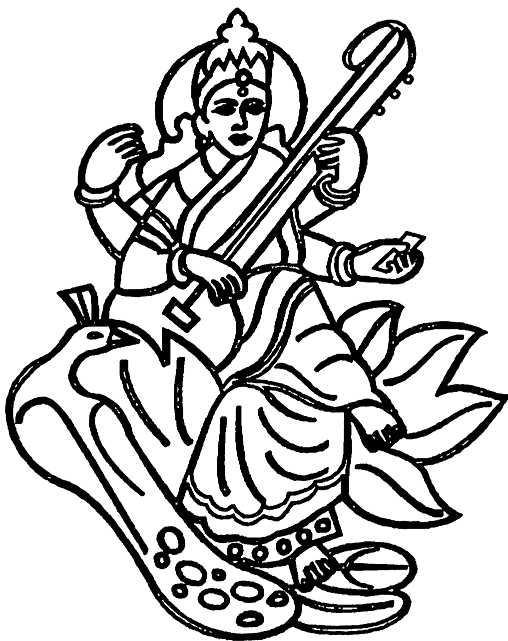
।। इति वेदान्तदर्शन-व्याकरण-सङ्गीतादि-नानाशास्त्रविशारद-ठाकुरोपाधिक-श्रीमद्धरकुमारजसङ्गीतनायक-श्रीमच्छौरीन्द्र-कृत-गान्धर्ववृत्तौ नाम्नि गान्धर्वचतुष्टये प्रथमः पादः समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में श्रुतियों के परिणामरूप स्वर

षड्ज आदि सात स्वर श्रुतियों के परिणाम कहे गए हैं । इस विषय में आचार्य मतङ्ग ने कहा है—जैसे क्षीर का परिणाम दधि होता है, ठीक उसी प्रकार श्रुतियों के परिणाम स्वर होते हैं ।

नामचतुष्टयप्रकरण-प्रथम पाद समाप्त ।

●



अथ चतुष्टयवृत्तिः
द्वितीयः पादः

६४. गान्धर्वे ग्रामाः

यमाश्रित्य षट् स्वरा व्यक्ताः स ग्रामः (२/२/१) ।

यं स्वरमाश्रित्य अवलम्ब्य षट् स्वरा व्यक्ता भवन्ति, स ग्रामः कथ्यते सर्वैर्भरतादिमहर्षिभिः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ग्राम की मान्यता

जिस किसी एक स्वर के आधार पर अन्य छह स्वर अभिव्यक्त होते हैं, उसे भरत आदि सभी महर्षियों ने ग्राम कहा है ।

६५. गान्धर्वे ग्रामसंज्ञा

स्वराणां सूक्ष्मभावसंयोगी ग्रामः (२/२/२) ।

षड्जादिसप्तस्वराणां सूक्ष्मभावसंयोगि यत् स्थानं तद्ग्रामसंज्ञम्भवति । यथा-षड्जग्रामे अन्ये स्वराः सूक्ष्मभावसंयोगरूपेण स्थिता इत्यर्थः । तथा च **नारायणः**– 'स्वराणां सूक्ष्मभावसंयोगि यत् तत् स्थानं ग्राम उच्यते' ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ग्रामसंज्ञा

षड्ज आदि सात स्वरों में सूक्ष्मभाव का संयोग कराने वाले स्थान की ग्रामसंज्ञा होती है । जैसे–षड्ज ग्राम में अन्य छह स्वर भी सूक्ष्मरूप से स्थित रहते हैं । आचार्य नारायण ने कहा भी है–स्वरों के सूक्ष्मभाव = सूक्ष्मता का संयोग कराने वाले स्थान को ग्राम कहते हैं ।

६६. गान्धर्वे ग्रामपरिभाषा

सुव्यवस्थासमूहो ग्रामः (२/२/३) ।

स्वराणां षड्जादिसप्तस्वराणां सुव्यवस्थासमूहो ग्रामः, कथ्यते इति शेषः । यथा-षड्जग्रामे अपराः स्वराः सुव्यवस्थारूपेण च प्रतिवसन्ति । तथा च **रत्नाकरे**-स्वराणाञ्च सुव्यवस्थासमूहो ग्राम इष्यते । विशेषतः **सुधाकरे** च–

यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूता वसन्ति हि ।
सर्वलोकेषु स ग्रामस्तथा नित्यं व्यवस्थितः ।।इति।

(द्र०, सं० र०-सुधाकरटीका, अ०१, प्र०४, श्लो० १-५) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ग्राम की परिभाषा

षड्ज आदि सात स्वरों के व्यवस्थासमूह को ग्राम कहते हैं । जैसे–षड्ज ग्राम में अन्य ऋषभ आदि भी छह स्वर व्यवस्थित रूप से रहते हैं । आचार्य रत्नाकर ने इस विषय में कहा भी है–जैसे विविध परिवारों के सभी सदस्य (अर्थात् जनसमुदाय) एक जगह मिलकर जहाँ रहते हैं, उसे 'ग्राम' कहा जाता है । उसी प्रकार से सङ्गीतशास्त्र में जहाँ सभी स्वर निवास करते हैं, उसे ग्राम यह नाम दिया गया है ।

६७. गान्धर्वे ग्रामसंज्ञाः

अपरञ्च –

श्रुतिस्वरमूर्च्छनानामाश्रयो ग्रामः (२/२/४) ।

यः श्रुतिस्वरमूर्च्छनानामाश्रयीभूतः सः ग्रामसंज्ञो भवति । यथा-षड्जग्रामो यः स तद्ग्रामस्थितश्रुतिस्वरमूर्च्छनानामाश्रयीभूतः । यथा **नारदसंहितायाम् –**

***स्वराणां मूर्च्छनानाञ्च श्रुतीनाञ्च विशेषतः ।**
एतेषामाश्रयो ग्रामो विद्वद्भिः परिकीर्तितः ।।इति।

तथाहि **रत्नाकरे–ग्रामः स्वरसमूहानां मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।**

(सं०र०-अ०१, प्र० ४, श्लो० १) [**पाठा०**–ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्छनादेः समाश्रयः]

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ग्राम संज्ञा की विशेष परिभाषा

'श्रुति-स्वर-मूर्च्छना' का जो आश्रय होता है, उसे ग्राम कहते हैं । जैसे षड्ज-ग्राम उस ग्राम में स्थित सभी श्रुतियों, स्वरों तथा मूर्च्छनाओं का आश्रय माना जाता है । इस विषय में **नारदसंहिता** में कहा गया है कि विद्वान् उसे ग्राम कहते हैं जो सभी 'स्वर–मूर्च्छना-श्रुतियों' का विशेष आश्रय होता है । **रत्नाकर** नामक ग्रन्थ में भी स्वरसमूह तथा मूर्च्छना इत्यादि के आश्रय को ग्राम नाम दिया गया है ।

---

*– द्र०, सं० र०–सुधाकरटीका, अ०१, प्र० ४, श्लोक १-५
स्वराणां मूर्च्छनातानजातिजात्यंशकात्मनाम् ।
व्यवस्थितश्रुतीनां हि समूहो ग्राम इष्यते ।।
कलानिधिटीका–यथा लोके जनसमूहो ग्राम इत्युच्यते, एवमत्र स्वरसमूहो ग्राम इति विवक्षितः ।

अथ सङ्गीतस्वरसाध्यप्रकरणम्

६८. गान्धर्वे त्रयो ग्रामाः

तत्रादौ षड्जादिग्रामत्रयी (२/२/५)।

षड्जमध्यमगान्धाराश्च त्रयः स्वराः क्रमेण ग्रामसंज्ञा भवन्ति। यथा–षड्जग्रामो मध्यमग्रामो गान्धारग्रामश्च। ग्रामस्त्रिविधो यथा **रत्नावल्याम्–**

त्रयो ग्रामा निगदिता घोरो मन्द्रश्च तारकः।
षड्जमध्यमगान्धारग्रामास्त्रितयसंज्ञिताः ॥

केचिच्चलवीणामधिकृत्याहुः–

नाभिमध्ये स्थितो घोरो मन्द्रको हृदयस्थितः।
शिरोगतस्तथा तारस्त्रयो ग्रामा इमे स्मृताः ॥

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में तीन ग्राम

षड्ज, मध्यम तथा गान्धार इन तीन स्वरों के क्रमशः ग्राम होते हैं–१. षड्ज-ग्राम, २. मध्यमग्राम तथा ३. गान्धारग्राम। रत्नावली के अनुसार घोर, मन्द्र और तारक नाम वाले षड्ज, मध्यम और गान्धार ये तीन ग्राम स्वीकार किये जाते हैं।

कुछ विद्वान् चलवीणा के अधिकार से घोर, मन्द्र तथा तार ये तीन ग्राम मानते हैं। घोरग्राम नाभि के मध्य में, मन्द्रकग्राम हृदय में तथा तारग्राम शिरोदेश में रहता है।

६९. गान्धर्वे षड्जग्राम-श्रुति-मूर्च्छनालक्षणम्

प्रथमतः षड्जग्रामलक्षणम् –

प निर्विकारी यद्ग्रामे तद्ग्रामः षड्जः स्मृतः (२/२/६)।

यत्स्वरग्रामे कृते पञ्चमो निर्विकारी भवति, सः षड्जग्रामः स्मृतः कथितः इत्यर्थः[१]।

अस्मिन् श्रुतिविवरणम्, यथा **रत्नाकरे–**

चतस्रः पञ्चमे षड्जे मध्यमे च तथा मताः।
ऋषभे धैवते तिस्रो द्वे गान्धारनिषादयोः ॥

तदुदाहरणं यथा–

---

१. तथा च **रत्नाकरे**–पञ्चमश्चेन्निर्विकारी षड्जग्रामः स उच्यते।
तथा च **दर्पणे** – षड्जग्रामः पञ्चमे तु चतुर्थश्रुतिसंस्थिते।
(द्र०, सं० र०–अ०१, प्र० ४, श्लो० २)।

स *|*** ऋ *|** ग*—* म *|***

प *|*** ध *|** नि *—*

षड्जग्रामे मूर्च्छनालक्षणम्। यथा **नारायणे**–

आदि-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-सप्तस्वपि ता मताः ।
षड्जान्निषादपर्यन्तं निषादाद् धैवतान्तकम् ।
धैवतात् पञ्चमान्तं तु पञ्चमान्मध्यमान्तकम् ।
गान्धारान्तं मध्यमात् स्याद् गान्धाराद् ऋषभान्तकम् ।
ऋषभात् सान्तमित्याहुः षड्जग्रामस्य मूर्च्छना ।।

अथोदाहरणम् । यथा - स ऋ ग म प ध नि च, नि स ऋ ग म च, ग म प ध नीत्यन्तञ्च । इति षड्जग्राममूर्च्छना ।

षड्जग्रामे शब्दाः

	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
। एकमात्रा	I	I I	I I I I
	स	स ऋ	स ऋ स स
।। द्विमात्रा	II	II II	II II II II
	स	स ऋ	स ऋ ग स
।।। त्रिमात्रा	III	III III	III III III III III
	स	स ग	स ऋ ग म स
ॅ अर्द्धमात्रा	ॅ	ॅ ॅ	ॅ ॅ ॅ ॅ ॅ ॅ ॅ
	स	स म	स ऋ ग म प स स
× पादमात्रा	×	× ×	× × × × × × × ×
	स	स प	स ऋ ग म प ध स स
◡ पादार्धमात्रा	◡	◡ ◡	◡◡◡◡◡◡◡◡◡
	स	स ध	स ऋ ग म प ध नि स स
* पादपादमात्रा	*	* *	* * * * * * * * *
	स	स नि	स ऋ ग म प ध नि स स

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में षड्जग्राम का लक्षण

जिस स्वरग्राम के विधान में पञ्चम स्वर निर्विकारी रहता है, उसे षड्जग्राम कहते हैं । रत्नाकर तथा दर्पण में इसी प्रकार के लक्षण दिये गये हैं । (टिप्पणी-वचन द्रष्टव्य है) । रत्नाकर ग्रन्थ के अनुसार 'पञ्चम-षड्ज-मध्यम' ग्रामों में चार-चार श्रुतियाँ रहती हैं, जबकि 'ऋषभ-धैवत' में ३-३ तथा 'गान्धार-निषाद' में २-२ श्रुतियाँ देखी जाती हैं । जैसे–

स * * * *   ऋ * * *   ग * — *   म * * * *

प * * * *   ध * * *   नि * — *

नारायण के अनुसार षड्ज-ग्राम में मूर्च्छना का लक्षण-षड्ज से निषाद पर्यन्त । जैसे - स ऋ ग म प ध नि च । निषाद से धैवतपर्यन्त, जैसे–नि स ऋ ग म च, ग म प ध । इसी प्रकार धैवत से पञ्चम पर्यन्त, पञ्चम से मध्यमपर्यन्त, मध्यम से गान्धारपर्यन्त, गान्धार से ऋषभपर्यन्त तथा ऋषभ से षड्जपर्यन्त षड्जग्राम की मूर्छनाएँ होती हैं ।

षड्जग्राम में शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
। एकमात्रा	I	I I	I I I I
	स	स ऋ	स ऋ स स
।। द्विमात्रा	II	II II	II II II II
	स	स ऋ	स ऋ ग स
।।। त्रिमात्रा	III	III III	III III III III III
	स	स ग	स ऋ ग म स
˘ अर्द्धमात्रा	˘	˘ ˘	˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘
	स	स म	स ऋ ग म प स स
× पादमात्रा	×	× ×	× × × × × × × ×
	स	स प	स ऋ ग म प ध स स
◡ पादार्धमात्रा	◡	◡ ◡	◡◡◡◡◡◡◡◡◡
	स	स ध	स ऋ ग म प ध नि स स
* पादपादमात्रा	*	* *	* * * * * * * * *
	स	स नि	स ऋ ग म प ध नि स स

७०. गान्धर्वे मध्यमग्रामः

ऋषभः पञ्चमो यत्र स ग्रामो मध्यमः स्मृतः (२/२/७) ।

यत्र ग्रामे ऋषभः पञ्चमो भवति, स मध्यमग्रामः स्मृतः कथित इत्यर्थः । तथा पक्षान्तरे च-

अर्धकोमलधो गश्च निश्च मध्यमः ।
एवं ग्रामो भवेद् यत्र स ग्रामो मध्यमः स्मृतः ।।

यत्रार्धकोमलधैवतो गान्धारः पूर्णकोमलनिषादश्च मध्यमो भवति, तत्र यो ग्रामः स मध्यमग्रामः स्मृतः कथित इत्यर्थः । मध्यमग्रामे श्रुतिनियमो यथा **रत्नाकरे**–

स्वोपान्ते श्रुतिसंस्थेऽस्मिन्मध्यमग्राम इष्यते ।
यद् वा धस्त्रिश्रुतिः षड्जे मध्यमे तु चतुःश्रुतिः ।।

(सं० र०-अ० १, प्र० ४, श्लो० ३)।

तदा तु मध्यमग्रामो विज्ञेयो मुनिसम्मतः ।।इति।

तदुदाहरणं यथा–

म *|_* * *   प *|_* *   ध *—*   नि *|_* * *
स *|_* * *   ऋ *|_* *   ग *—*

पक्षान्तरे च–

स *|_* * *   ऋ *|_* *   ग *—*   म *|_* * *
प *|_* * *   ध *|_* *   नि *—*

▲ ध   ▲ नि

अथ मध्यमग्रामे मूर्च्छनालक्षणमाह सङ्गीतनारायणे मतङ्गः–

अथोच्यते ज्ञापनार्थं मध्यमग्राममूर्च्छना ।
माद्गान्तं गाच्चर्षभान्तम् ऋषभात् सान्तमिष्यते ।
सान्न्यन्तं नेर्धैवतान्तं धात् पान्तं पान्मान्तकं तथेति ।।

तदुदाहरणम्–

म प ध नि स ऋ ग च, ग म प ध नि स ऋ च, ध नि स ऋ ग म प च, प ध नि स ऋ ग म च ।

अथ मध्यमग्रामशब्दाः

	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
। एकमात्रा	I	I I	I I I
	म	म म	म प म
।। द्विमात्रा	II	II II	II II II II
	म	म प	म प ध म
।।। त्रिमात्रा	III	III III	III III III III III
	म	म ध	म प ध नि म
ॅ अर्द्धमात्रा	ॅ	ॅ ॅ	ॅ ॅ ॅ ॅ ॅ ॅ ॅ
	म	म नि	म प ध नि स म प
× पादमात्रा	×	× ×	× × × × × × × × ×
	म	म स	म प ध नि स ऋ म म म
◡ पादार्धमात्रा	◡	◡ ◡	◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡
	म	म ऋ	म प ध नि स ऋ ग म म म म म म
* पादपादमात्रा	*	* *	* * * * * * * * * * * * * *
	म	म ग	म प ध नि स ऋ ग म म म म म म म

अन्येषु शब्देष्वेवं ज्ञेयमिति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में मध्यम-ग्राम

जिस ग्राम में ऋषभ पञ्चम होता है, उसे मध्यम-ग्राम कहते हैं ।

पक्षान्तर के अनुसार मध्यमग्राम

जहाँ अर्धकोमल धैवत, गान्धार तथा पूर्णकोमल निषाद मध्यम हो जाता है, उसे मध्यमग्राम कहते हैं।

रत्नाकर के अनुसार मध्यमग्राम में श्रुतियाँ

मध्यम-निषाद-षड्ज में चार-चार, पञ्चम-ऋषभ में तीन-तीन तथा धैवत-गान्धार में दो-दो श्रुतियाँ होती हैं ।

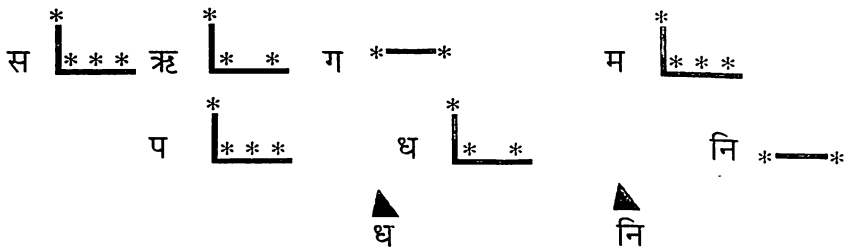
मुनिसम्मत पक्षान्तर के अनुसार श्रुतियाँ

षड्जग्राम के अन्तर्गत धैवत स्वर में तीन श्रुतियाँ तथा मध्यमग्राम के धैवतस्वर में चार श्रुतियाँ होती हैं । जैसे–

म *|* * *   प *|* *   ध *—*   नि *|* * *

स *|* * *   ऋ *|* *   ग *—*

पक्षान्तर से–



आचार्य मतङ्ग द्वारा सङ्गीतनारायण में प्रोक्त मध्यमग्रामगत-मूर्च्छनालक्षण

मध्यम से गान्धार पर्यन्त, गान्धार से ऋषभपर्यन्त, ऋषभ से षड्ज तक, षड्ज से निषाद तक, निषाद से धैवत तक, धैवत से पञ्चम तक तथा पञ्चम से मध्यम तक मध्यमग्राम में मूर्च्छनाएँ होती हैं। जैसे–म प ध नि स ऋ ग च, ग म प ध नि स ऋ च, ध नि स ऋ ग म प च, प ध नि स ऋ ग म प च।

विशेष—तीन मूर्च्छनाओं के उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

मध्यमग्रामगत शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
। एकमात्रा	I	I I	I I I
	म	म म	म प म
।। द्विमात्रा	II	II II	II II II II
	म	म प	म प ध म
।।। त्रिमात्रा	III	III III	III III III III III
	म	म ध	म प ध नि म
˘ अर्द्धमात्रा	˘	˘ ˘	˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘
	म	म नि	म प ध नि स म प
× पादमात्रा	×	× ×	× × × × × × × × ×
	म	म स	म प ध नि स ऋ म म म
◡ पादार्धमात्रा	◡	◡ ◡	◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡ ◡
	म	म ऋ	म प ध नि स ऋ ग म म म म म म
* पादपादमात्रा	*	* *	* * * * * * * * * * * * * *
	म	म ग	म प ध नि स ऋ ग म म म म म म म

अन्य शब्दों में भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

७१. गान्धर्वे तृतीयग्रामः

गः पञ्चमो भवेद् यत्र स ग्रामस्तृतीयः स्मृतः (२/२/८)।

यत्र ग्रामे गान्धारः पञ्चमो भवति, स तृतीयग्रामः स्मृतः । अर्थाद् गान्धारग्रामः कथित इत्यर्थः । पक्षान्तरे च–

यद्ग्रामनिर्णये पश्चात् कोमलाः षट् स्वराः स्थिताः ।
गान्धारः स समाख्यातस्तृतीयग्रामनिश्चये ।।

यद्ग्रामस्य निर्णये निरूपणे षट् स्वराः कोमला भवन्ति, स गान्धारग्रामः समाख्यातः कथित इत्यर्थः । तथा च **दर्पणे**–

ऋमयोः श्रुतिमेकैकां गान्धारश्चेत् समाश्रितः ।
प-श्रुतिन्धो निषादस्तु श्रुतिं सश्रुतिमाश्रितः ।
गान्धारग्राममाचष्टे तदा तं नारदो मुनिः ।।

(सं० र०-अ० १, प्र० ४, श्लो०४-५) ।

तदुदाहरणं यथा–

ग *|* * * म *|* * प *—* ध *|* * *

नि *|* * * स *|* * ऋ *—*

पक्षान्तरे च–

स ऋ ग म प ध नि ।

अथ गान्धारग्राममूर्च्छना–

अथ निरूप्यते पश्चाद् गान्धारग्राममूर्च्छना ।
गान्धाराद् ऋषभान्तं तु ऋषभात् सान्तमिष्यते ।।
सान्यन्तं नेर्धैवतान्तं धैवतात् पान्तमेव च ।
पञ्चमान्मध्यमान्तं तु मध्यमाद् गान्तकं तथा ।
एवं क्रमेण जानीयाद् गान्धारग्राममूर्च्छनाम् ।।

अथ गान्धारग्रामशब्दाः

	एकवचनम्	द्विवचनम्	बहुवचनम्
। एकमात्रा	I	I I	I I I I
	ग	ग म	ग म ग ग
।। द्विमात्रा	II	II II	II II II II II
	ग	ग म	ग म प ग ग
।।। त्रिमात्रा	III	III III	III III III III III III
	ग	ग प	ग म ध ग ग ग

˘ अर्द्धमात्रा	˘	˘ ˘	˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘
	ग	ग ध	ग म ध ध नि ग ग ग
× पादमात्रा	×	× ×	× × × × × × × × ×
	ग	ग नि	ग म ध ध नि ऋ ग ग ग
◡ पादार्धमात्रा	◡	◡◡◡◡◡◡◡◡ ◡	◡◡◡◡◡◡◡◡
	ग	ग स ग म ध ध ध नि ऋ	ग ग ग ग ग ग
* पादपादमात्रा	*	* *	* * * * * * * * * * * * **
	ग	ग ऋ	ग म ध ध नि ऋ स ग ग ग ग ग ग ग

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में गान्धारग्राम

जिस ग्राम में गान्धारस्वर पञ्चम हो जाता है, उसे गान्धारग्राम कहते हैं। पक्षान्तर के अनुसार जिस ग्राम के निरूपण में छह स्वर कोमल हो जाते हैं, उसे गान्धारग्राम स्वीकार किया गया है। दर्पण में नारद के मतानुसार जब ऋषभ-मध्यम में एक-एक श्रुति होती है, धैवत स्वर जब पञ्चमश्रुति का एवं निषाद स्वर जब षड्जश्रुति का आश्रय लेता है, तब गान्धारग्राम होता है। जैसे–

ग * * * *   म * * *   प *—*   ध * * * *

नि * * * *   स * * *   ऋ *—*

पक्षान्तर में–

स   ऋ   ग   म   प   ध   नि ।

सङ्गीतशास्त्र में गान्धारग्रामगत मूर्च्छनाएँ

गान्धार से ऋषभ तक, ऋषभ से षड्ज तक, षड्ज से निषाद तक, निषाद से धैवत तक, धैवत से पञ्चम तक, पञ्चम से मध्यम तक तथा मध्यम से गान्धार तक क्रम से गान्धारग्राम में मूर्च्छनाएँ होती हैं।

गान्धारग्रामगत शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
। एकमात्रा	I	I I	I I I I
	ग	ग म	ग म ग ग

।। द्विमात्रा	II	II II	II II II II II
	ग	ग म	ग म प ग ग
।।। त्रिमात्रा	III	III III	III III III III III III
	ग	ग प	ग म ध ग ग ग
˘ अर्द्धमात्रा	˘	˘ ˘	˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘ ˘
	ग	ग ध	ग म ध ध नि ग ग ग
× पादमात्रा	×	× ×	×× × × × ◣ × × × ×
	ग	ग नि	ग म ध ध नि ऋ ग ग ग
◡ पादार्धमात्रा	◡	◡◡	◡◡◣◡◣◡◡◡◡◣◡◡◡◡◡
	ग	ग स	ग म ध ध ध नि ऋ ग ग ग ग ग ग
* पादपादमात्रा	*	* *	* * * ◣* * * *◣*◣******
	ग	ग ऋ	ग म ध ध नि ऋ स ग ग ग ग ग ग ग

अथ मूर्च्छनालक्षणम्—

७२. गान्धर्वे मूर्च्छनालक्षणम्

अनुलोमविलोमक्रमेणैकविंशतिर्मूर्च्छना ग्रामत्रये सप्तसप्तविभागे च (२/२/९)।

अनुलोमविलोमक्रमेण षड्जादिग्रामत्रये सप्तसप्तविभागरूपे चैकविंशतिर्मूर्च्छना भवन्ति। यथा षड्जग्रामे सप्त, मध्यमग्रामे सप्त, गान्धारग्रामे च सप्त। एवं क्रमेण त्रिसप्तके एकविंशतिर्मूर्च्छना ज्ञेयाः। तथा च दर्पणे–

क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामत्रये ताः सप्त सप्त च।
स्थानत्रयसमायोगे मूर्च्छनारम्भसम्भवः।।

(द्र०, सं० र०-अ० १, प्र० ४, श्लो० ९)।

अनुलोम-विलोमम् आरोहणावरोहणम्। अर्थात् षड्जमारभ्य निषादपर्यन्तमारोहः, एवं निषादमारभ्य षड्जपर्यन्तमवरोहः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में मूर्च्छना का लक्षण

अनुलोम-विलोम के क्रम से 'षड्ज-ऋषभ-गान्धार' इन तीन ग्रामों में सात-सात के भेद से २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं। अर्थात् षड्जग्राम में सात, मध्यमग्राम में सात तथा गान्धारग्राम में सात मूर्च्छनाएँ मान्य हैं। दर्पण ग्रन्थ में कहा गया है कि सात स्वरों में क्रम से जो आरोह-अवरोह होता है, उसे ही मूर्च्छना कहते हैं। वे मूर्च्छनाएँ 'षड्ज-ऋषभ-गान्धार' में सात-सात होती हैं। षड्जस्वर से लेकर निषाद स्वर तक आरोह। निषादस्वर

से आरम्भ करके षड्जस्वर-पर्यन्त अवरोह ।

७३. गान्धर्वे स्वरग्रामता

संज्ञाभिः श्रुतिभिश्च स्वरो ग्रामं प्रतिग्रामं सप्त सप्त मूर्च्छनाः (२/२/१०) ।

संज्ञाभिः सह श्रुतिभिश्च स्वरो ग्रामत्वं प्राप्नोति प्रतिग्रामं सप्त सप्त मूर्च्छनाः । तथा च **सङ्गीतसुधाकरे** मतङ्गः—

संज्ञाभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरो *ग्रामत्वमागतः ।
सप्तैव मूर्च्छनाश्चात्र प्रतिग्रामं प्रकीर्तिताः ।।

।। इति वेदान्तदर्शन - व्याकरण - सङ्गीतादि - नानाशास्त्रविशारद-
ठाकुरोपाधिक - श्रीमद्धरकुमारज - सङ्गीतनायक -
श्रीमच्छौरीन्द्र - कृत - गान्धर्ववृत्तौ नाम्नि
गान्धर्वचतुष्टये द्वितीयः पादः
समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में स्वर की ग्रामता

संज्ञाओं तथा श्रुतियों के द्वारा ऋषभादि स्वर ही ग्राम हो जाते हैं और प्रत्येक ग्राम में ७-७ मूर्च्छनाएँ होती हैं । उक्त विवरण आचार्य मतङ्ग ने सङ्गीतसुधाकर में प्रस्तुत किया है ।

नामचतुष्टयप्रकरण-द्वितीय पाद समाप्त ।

●



---

* ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।। (सं० र०–अ० १, प्र०४, श्लो० १)।

अथ चतुष्टयवृत्तिः
तृतीयः कारकपादः
७४. कलापे अव्ययेभ्यो विभक्तिलुक्

अव्ययाच्च (२/४/४) ।

(दुर्गवृत्तिः)

अव्ययमसङ्ख्यम् । अव्ययाच्च विभक्तीनां लुग् भवति । यथा–स्वः, प्रातः, च, वा, अहह, प्र, परा । एवमन्येऽपि । तथा चाह–

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।।इति।

[**पाठा०** - पदसंज्ञार्थमिदम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अव्ययों से विभक्तियों का लुक्

लिङ्ग - वचन - विभक्ति से रहित को अव्यय कहते हैं । उस अव्ययसंज्ञक लिङ्ग से विभक्तियों का लुक् होता है । जैसे–स्वः, प्रातः, च, वा, अहह, प्र, परा । इसी प्रकार से अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये । कहा गया है कि जो तीनों लिङ्गों में, सभी विभक्तियों में तथा सभी वचनों में परिवर्तित नहीं होता, उसे अव्यय कहते हैं ।

७४. गान्धर्वेऽव्ययेभ्यो विभक्तिलुक्

एवमव्ययाच्च विभक्तेर्लुक् (२/३/१) ।

एवंभूतादव्ययादव्ययस्वराद् विभक्तेर्मात्रायाश्च लुग् भवति । अर्थात् सङ्गीतस्वरव्यतिरिक्ते मात्रा कुत्रापि न तिष्ठेदिति तात्पर्यार्थः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अव्यय से विभक्ति का लुक्

उक्त प्रकार के अव्यय = अव्ययस्वर से विभक्ति = मात्रा का लुक् होता है । तात्पर्य यह है कि सङ्गीतस्वर के अतिरिक्त मात्रा अन्य कहीं पर भी स्थित नहीं रहती है ।

टिप्पणी—५९

'स्वर् + सि, प्रातर् + सि, च + सि, वा + सि, अहह + सि' इस अवस्था में पाणिनि तथा शर्ववर्मा दोनों ही सि–आदि (पाणिनि सु-आदि) विभक्तियों का लुक् करके 'स्वः, प्रातः, च, वा, अहह' शब्दरूप सिद्ध करते हैं । पाणिनि का सूत्र है– "**अव्ययादाप्सुपः**" (अ० २/४/८२) ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पाणिनि ने अव्ययसंज्ञा के बोधार्थ ***"स्वरादिनिपातमव्ययम्"***

(अ० १/१/३७-४१) आदि ५ सूत्र बनाये हैं, जबकि कातन्त्रकार *'न व्येतीत्यव्ययम्'* इस व्युत्पत्ति के बल पर उसे अन्वर्थ मानकर अव्ययसंज्ञा के अवबोधार्थ सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार संज्ञा-सूत्ररचना को छोड़कर प्रक्रिया की दृष्टि से उभयत्र साम्य ही कहा जा सकता है ।

सङ्गीतशास्त्र में स्वभावसिद्ध नादों की अव्ययसंज्ञा करके उनसे जो विभक्तियों = मात्राओं का लुक् दिखाया गया है, वह व्याकरणशास्त्रीय प्रक्रिया से पर्याप्त सादृश्य के बोध का प्रयत्न कहा जा सकता है ।

७५. कलापेऽव्ययशब्दाः

***शश्वत सम् द्राङ् मनागपि ।**
स्वरादिः प्रादिरूर्यादिराविरादितद्धिताः ।
विभक्त्याभाः त्त्वामसन्ध्यक्षरान्तकाः कृतोऽव्ययाः ।।

स्वः, जोषम्, प्र परा च हि वा, उरी, उररी, उदरी (ऊररी), आविः, प्रादुः, द्विधेत्यादि । विभक्तिप्रतिरूपकाः–अकस्मात्, अमुष्मिन्, अस्ति, भाति, कृत्वा, गन्तुम्, परिस्तरितवै, के, अवगाहे इत्यादयः[१] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलाप में मान्य अव्यय

जैसे - शश्वत्, सम्, द्राक्, मनाक् आदि भी, स्वः- जोषम् आदि स्वरादि, प्र - परा - च - हि - वा - इत्यादि प्रादि, उरी-उररी-उदरी (ऊररी) ऊर्यादि, आविः-प्रादुः - द्विधा इत्यादि आविरादि, अकस्मात् -अमुष्मिन् - अस्ति- भाति इत्यादि विभक्तिप्रतिरूपक, क्त्वाप्रत्ययान्त-कृत्वा इत्यादि, मकारान्त-गन्तुम् इत्यादि तथा 'परिस्तरितवै - के, अवगाहे' इत्यादि सन्ध्यक्षरान्तक कृत्प्रत्यय वाले शब्द अव्यय माने जाते हैं ।

७५. गान्धर्वेऽव्ययशब्दाः

मनुष्यादिभिस्सङ्गीताः साधारणाश्चाव्ययाः (२/३/१) ।

असङ्गीताः सङ्गीतस्वरभिन्ना मनुष्यादिभिर्मनुष्यपशुपक्षिप्रभृतिभिरुच्चारिताः साधारणाः शब्दाः । अर्थात् स्वभावसम्भूता ये नादास्ते अव्यया भवन्ति । तथा चाह–

---

*. विद्वत्कुलपङ्कजसवित्रा मत्पूर्वपुरुषमहामहोपाध्यायश्रीश्रीमत्पुरुषोत्तमविद्यावागीशभट्टाचार्येण विरचितप्रयोगरत्नमालाभिधेयव्याकरणस्थाव्ययप्रकरणादुद्धृतमेतत् ।

१. ग्रन्थकार ने यह विषय अपने पूर्वज महामहोपाध्याय पुरुषोत्तम विद्यावागीश द्वारा रचित प्रयोगरत्नमाला व्याकरण के अव्यय-प्रकरण से लिया है ।

गीते वाद्ये तथा नृत्ये त्रैविध्ये सङ्गतेऽपि च ।
साधारणं नरादीनां[१] यन्न युक्तं तदव्ययम् ।। इति।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अव्यय

मनुष्य - पशु - पक्षी आदि के द्वारा उच्चरित सङ्गीतस्वर से भिन्न जो साधारण शब्द अर्थात् जो स्वभावसिद्ध नाद हैं, उनकी अव्ययसंज्ञा होती है । कहा गया है कि–गीत-वाद्य-नृत्य[२] इन तीनों में पृथक् पृथक् तथा समन्वितरूप में मनुष्य आदि की साधारण ध्वनि का जहाँ संयोग नहीं होता है, उसे अव्यय कहते हैं ।

७६. कलापे विंशतिरुपसर्गाः

प्रादयस्तत्र–

प्र-पराप-समन्वव-निर् - दुरभि - व्यधि - सूदति - नि - प्रति - पर्यपयः ।
उप - आङिति विंशतिरेव सखे ! उपसर्गविधिः कथितः कविना ।।

(द्र०-कात० वि० प० २/४/४) ।

तद् यथा–'प्र-परा-अप-सम् -अनु-अव-निर्-दुर्-अभि-वि-अधि-सु-उद्-अति-नि-प्रति-परि-अपि-उप--आङ्' इति । अत्र तु द्वाविंशतिरुपसर्गा इति पाणिनिः[३] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में २० उपसर्ग

प्र - परा - अप - सम् - अनु - अव - निर् - दुर् - अभि - वि - अधि - सु -उद् - अति - नि - प्रति - परि-अपि - उप - आङ् । ये बीस उपसर्ग पूर्वाचार्य द्वारा मान्य हैं । पाणिनि द्वारा "निरः कुषः, सुदुरोरधिकरणे" में 'निर् - दुर्' दो उपसर्ग माने गये हैं, इनके अतिरिक्त 'निस् - दुस्' उपसर्ग भी पाणिनि मानते हैं । अतः पाणिनीय व्याकरण में २२ उपसर्ग स्वीकार किए गए हैं । सङ्गीतशास्त्र में भी उपसर्गों की संख्या २२ मानी गई है । (इसका समाधान विद्वानों के अधीन है–तदर्थ ग्रन्थकार की टिप्पणी द्रष्टव्य है ।)

---

१. नृत्येऽपि नरादीनां साधारणध्वनेरसंयोगो भवतीति यदनेन प्रतिपादितं तत् स्पष्टार्थमिति भावः ।

२. नृत्य में भी मनुष्य आदि की साधारणध्वनि के संयोग का जो अभाव यहाँ बताया गया है, वह स्पष्टता के उद्देश्य से समझना चाहिए ।

३. कलापोक्तविंशत्युपसर्गैः सह गान्धर्वोक्तद्वाविंशत्युपसर्गसमन्वये सङ्ख्यागतविरोधापत्तिमाशङ्क्याह- अत्र तु द्वाविंशतिरुपसर्गा इति । तथा च पाणिनिमते 'निस्, दुस्' इत्येतावेवोपसर्गौ । महाभाष्यवामनवृत्तिमनोरमाहरदत्तादिटीकामते तु 'निर्-दुर्' इत्येतावपि रेफान्तौ पृथग् उपसर्गौ स्तः–"निरः कुषः" (अ० ६/२/४६) इति पाणिनिसूत्रात्, "सुदुरोरधिकरणे" इति भाष्य-लिखनाच्च (ग्रन्थकारीया टिप्पणी) ।

७६. गान्धर्वे द्वाविंशतिरुपसर्गाः

सङ्गीते द्वाविंशतिरुपसर्गाः (२/३/२) ।

सङ्गीते सङ्गीतशास्त्रमते तु द्वाविंशतिश्रुतयः सर्वा अप्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति । यथाहि **रत्नाकरे**–

तीव्रा - कुमुद्वती - मन्दा - च्छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः ।
दयावती व्यञ्जली (रञ्जनी) च रतिका चर्षभे स्थिताः ।।
रौद्री क्रोधी च गान्धारे, वज्रिकाथ प्रसारिणी ।
प्रीतिश्च मार्जनी चैव श्रुतयो मध्यमे स्थिताः ।।
क्षिती रक्ता च सन्दीपन्यालापन्यपि पञ्चमे ।
मदन्ती रोहिणी रम्येत्येतास्तिस्त्रस्तु धैवते ।
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे कथिता बुधैः ।।

(सं० र०-अ० १, प्र०३, श्लो० ३५-३८) ।

तद् यथा–१. तीव्रा, २. कुमुद्वती, ३. मन्दा, ४. छन्दोवती, ५. दयावती, ६. व्यञ्जली, ७. रतिका, ८. रौद्री, ९. क्रोधी, १०. वज्रिका, ११. प्रसारिणी, १२. प्रीतिः, १३. मार्जनी, १४. क्षितिः, १५. रक्ता, १६. सान्दीपनी, १७. आलापनी, १८. मदन्ती, १९. रोहिणी, २०. रम्या, २१. उग्रा, २२. क्षोभिणी इति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में २२ उपसर्ग

सङ्गीतशास्त्र में जो २२ श्रुतियाँ कही गई हैं, उन सभी की उपसर्गसंज्ञा होती है । षड्ज स्वर में 'तीव्रा - कुमुद्वती - मन्दा - छन्दोवती' ये चार श्रुतियाँ, ऋषभस्वर में 'दयावती - व्यञ्जली – रतिका' ये तीन श्रुतियाँ, गान्धारस्वर में 'रौद्री-क्रोधी' ये दो श्रुतियाँ, मध्यमस्वर में 'वज्रिका - प्रसारिणी - प्रीति - मार्जनी' ये चार श्रुतियाँ, पञ्चमस्वर में 'क्षिति-रक्ता-सन्दीपनी–आलापनी' ये चार श्रुतियाँ, धैवतस्वर में 'मदन्ती-रोहिणी-रम्या' ये तीन श्रुतियाँ तथा निषादस्वर में 'उग्रा–क्षोभिणी' ये दो श्रुतियाँ विद्वानों ने मानी हैं । स्पष्टता के लिए इन सभी को एकत्र सारणी में इस प्रकार जाना जा सकता है–

क्र.स.	स्वर	श्रुतियाँ				संख्या
		१	२	३	४	
१.	षड्ज	तीव्रा	कुमुद्वती	मन्दा	छन्दोवती	
२.	ऋषभ	दयावती	व्यञ्जली	रतिका	—	समग्र श्रुतियाँ-
३.	गान्धार	रौद्री	क्रोधी	—		२२
४.	मध्यम	वज्रिका	प्रसारिणी	प्रीति	मार्जनी	
५.	पञ्चम	क्षिति	रक्ता	सन्दीपनी	आलापनी	
६.	धैवत	मदन्ती	रोहिणी	रम्या	—	
७.	निषाद	उग्रा	क्षोभिणी	—	—	

टिप्पणी - ६०

पुरुषोत्तमदेवकृत उपसर्गसूत्रों के अनुसार कलापव्याकरण में २० उपसर्ग माने गए हैं—'प्र-परा-अप-सम् - अनु- अव-निर्-दुर् - अभि - वि- अधि - सु - उद् - अति - नि- प्रति - परि - अपि - उप - आङ्' । 'निस् - दुस्' को सम्मिलित कर लेने पर २२ सङ्ख्या हो जाती है । कुछ कार्यों के लिए 'अच्छ, श्रत्, अन्तः' को भी उपसर्ग माने जाने से २५ संख्या हो सकती है । अव्ययों में जो दो प्रकार के शब्द होते हैं, उनमें से एक प्रकार के शब्द **उपसर्ग** कहे जाते हैं । इनका सम्बन्ध धातुओं से पूर्व किया जाता है । अर्थविशेष में कुछ उपसर्गों की 'गति—कर्मप्रवचनीय' संज्ञाएँ भी की जाती हैं । उपसर्गों की पदसंज्ञा होने पर भी उनका स्वतन्त्ररूप में प्रयोग नहीं होता है ।

पुरुषोत्तमदेवकृत २० उपसर्ग अर्थनिर्देश के साथ

१. प्र ग्रन्थारम्भोत्कर्षसर्वतोभावप्राथम्यख्यात्युत्पत्तिव्यवहारेषु।
२. परा भङ्गानादरप्रत्यावृत्तिन्यग्भावादिषु ।
३. अप अनादरभ्रंशासाकल्यवैरूप्यत्यागनञर्थेषु ।
४. सम् प्रकर्षश्लेषनैरन्तर्यौचित्याभिमुख्येषु ।
५. अनु पश्चात्सादृश्यलक्षणवीप्सेत्त्थम्भावभागहीनसहार्थसामीप्यदीर्घपुनरर्थेषु ।
६. अव निश्चयासाकल्यानादरेषु ।
७. निर् अत्यर्थनिषेधनिश्चयबहिष्करणेषु ।
८. दुर् निषेधकष्टनिन्दावक्षेपणेषु ।
९. अभि समन्तादुभयार्थलक्षणवीप्सेत्थम्भावधर्षणेषु ।
१०. वि विशेषवैरूप्यनञर्थगतिदानेषु ।
११. अधि उपरिभावे ।
१२. सु पूजनायासातिशायनेषु ।
१३. उद् ऊर्ध्वोत्कर्षप्राकट्यनैकट्येषु ।
१४. अति अतिशयक्रान्तिपूजासंभावनेषु ।
१५. नि निश्चयनिषेधयोः ।
१६. प्रति लक्षणव्यावृत्तिप्रसक्तीत्त्थम्भावत्यागप्रत्यर्पणसादृश्यविरोधवीप्सासमाधिषु ।
१७. परि सर्वतोभावातिशयवीप्सेत्त्थम्भावचिह्नभागत्यागनियमेषु ।
१८. अपि आवरणसंभावननिन्दानुज्ञाल्पत्वसमुच्चयेषु ।
१९. उप अनुगतिपश्चाद्भावानुकम्पाधिक्यहीनसामीप्यप्राथम्येषु ।

२०. आङ् समन्ताद्ग्रहणप्रत्यवृत्तीषदर्थमर्यादाव्याप्तिषु ।

सङ्गीतशास्त्र में २२ श्रुतियों की उपसर्गसंज्ञा का सादृश्य व्याकरणशास्त्रीय २२ उपसर्गों से कहा जा सकता है ।

अथ शुद्ध-काकलीविवरणम्

७७. गान्धर्वे शुद्धस्वराः

यस्मिन् स्वरे ये चोक्तास्ते शुद्धाः (२/३/३) ।

यस्मिन् यस्मिन् स्वरे ये ये (याः याः) श्रुतयश्चोक्ताः कथितास्तत्तत्श्रुतिविशिष्टाः स्वराः शुद्धस्वरा भवन्ति । यथा–

स * * * *   ऋ * * *   ग *—*   म * * * *

प * * * *   ध * * *   नि *—*

एते शुद्धस्वराः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में शुद्ध स्वर

जिस जिस स्वर में जो जो श्रुतियाँ कही गई हैं, उन उन श्रुतियों से विशिष्ट स्वरों को आचार्य शुद्ध स्वर मानते हैं । जैसे–

स * * * *   ऋ * * *   ग *—*   म * * * *

प * * * *   ध * * *   नि *—*   ये शुद्ध स्वर हैं ।

७८. गान्धर्वे विकृतस्वराः

शुद्धानां विभागे विकृता द्वादश (२/३/४) ।

शुद्धस्वराणां श्रुतिविभागे कृते सति द्वादश स्वराः सर्वे विकृता भवन्ति । यथा–

स ऋ ऋ ग ग म म प ध ध नि नि

तथा च **दर्पणे**–शुद्धाशुद्धादिभेदेन विकृता द्वादशोदिता इत्यादि ।

विशेषतः **सुधाकरे**–यस्तु काकशब्दवन्निष्ठुरः प्रतीयते स काकली, येन महता क्लेशेन

तारमन्द्रादिभिः सूक्ष्मस्वरो जायते । सूक्ष्मः कृशः, अर्थाद् गर्दभादिध्वनिवन्नीरसो भग्नस्वर इति भावः । विशेषतः उच्चारणव्यतिक्रमादसम्यगह्रस्वदीर्घोच्चारणं काकली ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में विकृतस्वर

शुद्धस्वरों की श्रुतियों का विभाग करने पर सभी १२ स्वर विकृत हो जाते हैं । जैसे–

स ऋ ऋ ग ग म म प ध ध नि नि

दर्पण के अनुसार शुद्ध आदि के भेद से शुद्ध स्वर ही विकृत हो जाते हैं, जिनकी संख्या १२ है । आचार्य सुधाकर ने विशेष रूप में कहा है कि जो कौए के शब्द की तरह कठोर मालूम पड़ता है, वह काकली स्वर है, जिसमें महान् क्लेशपूर्वक तार-मन्द्र आदि के द्वारा यह सूक्ष्मता को प्राप्त कर पाता है । सूक्ष्म = कृश । अर्थात् गर्दभ आदि की ध्वनि के सदृश जो नीरस और भग्न स्वर होता है, उसे काकली कहते हैं । विशेषतः उच्चारण के व्यतिक्रम से अनुचितरूप में जो ह्रस्व-दीर्घ का उच्चारण होता है, वह काकली स्वर है ।

७९. गान्धर्वे कोमलस्वरौ

विभागेन दातृगृहीत्रोः प्रकृतिनाशात्तदुभौ (२/३/५) ।

विभागेन श्रुतिविभागक्रमेण श्रुतिदातृग्रहीत्रोः स्वकीयप्रकृतिविनाशात्तदुभौ दाताग्रहीतारौ विकृतौ अर्थात् कोमलौ भवतः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में दो कोमल स्वर

श्रुतियों का विभाग करने पर उसके 'दाता-ग्रहीता' में अपने स्वभाव के विनाश से वे दोनों 'दाता-ग्रहीता' विकृत अर्थात् कोमल हो जाते हैं ।

८०. गान्धर्वे ऋषभः कोमलस्वरः

षड्जादृः कोमलः (२/३/६) ।

षड्जात् षड्जस्वरात् श्रुतिग्रहणाद् ऋः ऋषभः कोमलस्वरो भवति । यथा - कोमल-ऋषभः (ऋ) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में ऋषभ स्वर की कोमलता

षड्ज स्वर की श्रुति का ग्रहण करने से ऋषभ स्वर कोमल होता है । कोमल ऋषभ-ऋ ।

८१. गान्धर्वे गान्धारः कोमलस्वरः

ऋषभाद् गः (२/३/७) ।

ऋषभाद् ऋषभस्वरात् श्रुतिग्रहणाद् गः गान्धारः कोमलस्वरो भवति । यथा– कोमलगान्धारः (ग) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में गान्धार की कोमलता

ऋषभस्वर से श्रुतिग्रहण करने पर गान्धार स्वर कोमल होता है । जैसे–कोमल गान्धार–ग ।

८२. गान्धर्वे तीव्रमध्यमस्वरः

पञ्चमात्तीव्रमध्यमः (२/३/८) ।

पञ्चमात् पञ्चमस्वरात् श्रुतिग्रहणान्मध्यमस्तीव्रमध्यमस्वरो भवति । यथा–तीव्रमध्यमः (म) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में तीव्र मध्यमस्वर

पञ्चमस्वर से श्रुतियों का ग्रहण करने पर मध्यम स्वर तीव्र होता है । जैसे तीव्र-मध्यम म ।

८३. गान्धर्वे धैवतः कोमलस्वरः

पञ्चमाद् धः (२/३/९) ।

पञ्चमात् पञ्चमस्वरात् श्रुतिग्रहणाद् धो धैवतः कोमलस्वरो भवति । यथा–कोमलधैवतः (ध) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में धैवतस्वर की कोमलता

पञ्चम स्वर से श्रुति का ग्रहण करने पर धैवत स्वर कोमल होता है । जैसे–कोमल धैवत-ध ।

८४. गान्धर्वे निषादः कोमलस्वरः

धैवतान्निः (२/३/१०) ।

धैवताद् धैवतस्वरात् श्रुतिग्रहणात् निर्निषादः कोमलस्वरो भवति । यथा–कोमलनिषादः (नि) ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में निषाद स्वर की कोमलता

धैवत स्वर से श्रुतियों का ग्रहण करने पर निषाद स्वर कोमल होता है । जैसे–कोमलनिषाद–नि ।

●

अथ षट् कारकाणि

८५. गान्धर्वे कारकसंज्ञा

गन्यौ त्यक्त्वा श्रुतिभिरन्येऽप्यपादानादिभेदेन षट् कारकाणि (२/३/११)।

गान्धारनिषादौ त्यक्त्वा श्रुतिभिः सह अन्येऽपि स्वरा अपादानादिभेदेन षट् कारकसंज्ञा भवन्ति । यथा–अपादानं सम्प्रदानम् अधिकरणं करणं कर्तृ कर्म च ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में छह कारक

गान्धार-निषाद स्वरों को छोड़कर श्रुतियों के साथ अन्य स्वरों की कारक संज्ञा होती है । ये कारक अपादान आदि के भेद से छह होते हैं । जैसे–अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण, करण, कर्ता और कर्म ।

टिप्पणी-६१

संस्कृतव्याकरण में कारक एक ऐसा विषय है, जो किसी भी प्रकार हटाया नहीं जा सकता । कुछ पूर्वाचार्य कारकप्रकरण के लिये 'विभक्त्यर्थ' शब्द का प्रयोग करते रहे हैं । परन्तु अपादान आदि भेदों की व्याख्या के समय कारक का उल्लेख करना अपरिहार्य होता है । दूसरा कारण यह है कि संस्कृतभाषा का प्रयोग करने के लिये जिन विषयों का परिज्ञान करना अपरिहार्य होता है, उनमें कारक सबसे पहले गिना जाता है—**'प्रयोगमिच्छता ज्ञातुं ज्ञेयं कारकमादितः'** । ६ प्रकार का कारक २३ भेदों वाला भी होता है । कारक की अपरिहार्यता के कारण ही सूत्रपठित 'तत्' शब्द से व्याख्याकार कारक का ही ग्रहण करते हैं । जैसे—"यतोऽपैति भयमादत्ते वा तदपादानम्" (कलाप० २/४/८) । दुर्गवृत्ति में व्याख्या की गई है—'यस्मादपैति, यस्माद् भयं भवति, यस्मादादत्ते वा, तत् कारकम् अपादानसंज्ञम्भवति' । यह ज्ञातव्य है कि कातन्त्रकार ने साक्षात् कारकशब्द का पाठ सूत्र में नहीं किया है ।

सङ्गीतशास्त्र में होने वाली स्वरों की कारक संज्ञा व्याकरणशास्त्रीय मान्यता से सादृश्य सूचित करती है ।

८६. कलापेऽपादानसंज्ञा

(दुर्गवृत्तिः)

यतोऽपैति भयमादत्ते वा तदपादानम् (२/४/८) ।

यस्मादपैति, यस्माद् भयं भवति, यस्मादादत्ते वा, तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति । 'वृक्षात् पर्णं पतति, व्याघ्राद् बिभेति' इत्यादि [**पाठा०**-चौरादुद्विजते, उपाध्यायादधीते, उपाध्यायादागमयति । यत इत्यवधिमात्रार्थम् । तेन धावतोऽश्वात् पतितः । तथा अधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् विरमति, धर्मात् प्रमाद्यति । अध्ययनात्

पराजयते, उपाध्यायादन्तर्धत्ते, शृङ्गाच्छरो जायते, हिमवतो गङ्गा प्रभवति । आसनात् प्रेक्षते, प्रासादात् प्रेक्षते । कुतो भवान् ? पाटलिपुत्रात्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अपादानसंज्ञा

जिससे कोई वस्तु पृथक् होती है, जिससे भय होता है और जिससे ग्रहण करता है, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है । जैसे–'वृक्षात् पर्णं पतति, व्याघ्राद् बिभेति' इत्यादि ।

८६. गान्धर्वेऽपादानसंज्ञा

यस्मात् श्रुतिं विश्लेषयति यदर्थेन तदपादानम् (२/३/१२) ।

यस्मात् स्वराद् यदर्थेन श्रुतिं विश्लेषयति तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति । यथा–'षड्जात् श्रुतिं विश्लेषयति ऋषभार्थेन' इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अपादानसंज्ञा

जिस स्वर से दूसरे स्वर के लिये श्रुति को पृथक् किया जाता है, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है । जैसे–'षड्जात् श्रुतिं विश्लेषयति ऋषभार्थेन' इत्यादि । ऋषभ स्वर के लिये षड्ज स्वर से श्रुति को पृथक् करता है ।

टिप्पणी-६२

'अपाय, भयहेतु, आख्याता, प्रभव' आदि की अपादानसंज्ञा पाणिनि ने आठ सूत्रों द्वारा की है–"**ध्रुवमपायेऽपादानम्, भीत्रार्थानां भयहेतुः, पराजेरसोढः, वारणार्थानामीप्सितः, अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति, आख्यातोपयोगे, जनिकर्तुः प्रकृतिः, भुवः प्रभवः**" (अ० १/४/२४-३१) । कातन्त्रकार ने दो ही सूत्र बनाये हैं । ज्ञातव्य है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि ने पाणिनीय प्रथम सूत्र के अतिरिक्त ७ सूत्रों को प्रपञ्चार्थ माना है । वस्तुतः अपाय को बाह्य और बौद्ध मान लेने पर अन्य सूत्र अनावश्यक ही कहे जा सकते हैं । कातन्त्र के व्याख्याकारों ने भी उन्हें आवश्यक नहीं माना है । कातन्त्रविस्तरकार का यह अभिमत ध्यातव्य है–

प्रत्याख्यातुमिहाख्यातमिति तन्त्रान्तरोदितम् ।
स्वीकर्तुमथवाऽस्माकं पक्षपातो न विद्यते ।।
किञ्च, **तन्त्रान्तरप्रणीतानां सूत्राणां परमाग्रहात् ।**
प्रत्याख्यानेन यत्नस्य द्वैगुण्यमुपजायते ।।

(द्र०-मञ्जूषापत्रिका-व० १२, अं० ९)।

अपादान के तीन भेद किये जाते हैं–

१. निर्दिष्टविषय-ग्रामाद् आगच्छति ।

२. उपात्तविषय-बलाहकाद् विद्योतते विद्युत् ।

३. अपेक्षितक्रिय-पाटलिपुत्रात् ।

इसे महासंज्ञा होने के कारण अन्वर्थ माना जाता है–'**अपकृष्य बुद्ध्या पृथक्कृत्य वस्तु आदीयते बुद्ध्या गृह्यते**' । नाट्यशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होने से इसका पूर्वाचार्यसंमत होना सिद्ध होता है–

तत् प्राहुः सप्तविधं पदकारकसंयुतं प्रथितसाध्यम् ।
निर्देशः सम्प्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभिः ।।

(ना० शा० १४/२३)।

चान्द्र आदि अर्वाचीन व्याकरणों में एतदर्थ प्राप्त वचन इस प्रकार हैं–

चान्द्रव्याकरण–अवधेः पञ्चमी (२/१/८१) ।

जैनेन्द्रव्याकरण–ध्यपाये ध्रुवमपादानम् (१/२/११०) ।

हैमव्याकरण–अपायेऽवधिरपादानम् (२/२/२९) ।

मुग्धबोधव्याकरण–यतोऽपायभीजुगुप्सापराजयप्रमादादानभूत्राणविरामान्तर्द्धिवारणं जंपी (सूत्र २९९) ।

अग्निपुराण– अपादानं यतोऽपैति आदत्ते च भयं तथा ।
अपादाने पञ्चमी स्यात् ।
अपादानं द्विधा प्रोक्तम् । (३५०/२७; ३५३/११) ।

नारदपुराण– **पञ्चमी स्याद् ङसिभ्यांभ्यो ह्यपादाने च कारके ।**
यतोऽपैति समादत्ते अपदत्ते च यं यतः ।।
.........................रक्षार्थानां प्रयोगतः ।
ईप्सितं चानीप्सितं यत् तदपादानकं स्मृतम् ।। (५२/७,९) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका–

क्रियाधर्मिणि यः स्वार्थः पञ्चम्या विग्रहस्थया ।
अनुभाव्यः कारकं तदपादानत्वसंज्ञकम् ।। (का० ६९) ।

'अपादान-सम्प्रदान' शब्दों में 'कृ' धातु का प्रयोग न होने के कारण तथा दूसरे से अपाय होने-दूसरे को दान किये जाने के कारण भी इनके कारक होने में सन्देह किया जाता है, परन्तु महाभाष्यकारादि ने विस्तार से विचार करते हुये इनका कारकत्व होना अक्षुण्ण रूप में स्वीकार किया है (द्र०, म० भा० तथा म० भा० प्र० १/४/२३) । पाणिनि ने जिसकी अपादानसंज्ञा करने के लिये "**भीत्रार्थानां भयहेतुः, वारणार्थानामीप्सितः**" (अ० १/४/२५, २७) ये दो सूत्र बनाए हैं, उनके लिए कातन्त्र में एक ही प्रकृत सूत्र प्राप्त है । दोनों के उदाहरणों में भिन्नता द्रष्टव्य है ।

जैसे–पाणिनि=चौरेभ्यो रक्षति, चौरेभ्यस्त्रायते । यवेभ्यो गां वारयति । शर्ववर्मा- अहिभ्य आत्मानं रक्षति, यवेभ्यो गां रक्षति । शालिभ्यः शुकान् वारयति, कूपादन्धं वारयति ।

सङ्गीतशास्त्र में जिस स्वर से श्रुति को पृथक् किया जाता है, उसकी अपादान संज्ञा करके व्याकरणशास्त्र से पूर्ण साम्य दिखाया गया है ।

८७. कलापे सम्प्रदानसंज्ञा

यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम् (२/४/१०) ।

(दुर्गवृत्तिः)

यस्मै दातुमिच्छा, यस्मै रोचते, यस्मै धारयते वा, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञम्भवति । यथा-'ब्राह्मणाय गां ददाति, देवदत्ताय रोचते मोदकः' इत्यादि । [**पाठा०** –यज्ञदत्ताय स्वदते, विष्णुमित्राय गां धारयते । कथं छात्राय श्लाघते, छात्राय ह्नुते, छात्राय तिष्ठते कुमारी, छात्राय शपते, पुष्पेभ्यः स्पृहयति, छात्राय राध्यति, छात्रायेक्षते, छात्राय प्रतिशृणोति, छात्राय आशृणोतीति ? **तादर्थ्यचतुर्थ्या सिद्धम्** । छात्राय क्रुध्यति, मित्राय द्रुह्यति, मित्रायेर्ष्यते, मित्रायासूयति । **यस्मै कुप्यतीति वक्तव्यम्** । दातुमिच्छेति किम् ? राज्ञो दण्डं ददाति । सम्प्रदानप्रदेशाः–"सम्प्रदाने चतुर्थी" (२/४/१९) इत्येवमादयः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में सम्प्रदानसंज्ञा

जिसको कुछ देने की इच्छा होती है, जिसको रुचिकर होता है या जिसके लिये कुछ धारण किया जाता है, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है । जैसे– ब्राह्मणाय गां ददाति (ब्राह्मण को गाय देता है), देवदत्ताय रोचते मोदकः (देवदत्त को मोदक अच्छा लगता है) इत्यादि ।

८७. गान्धर्वे सम्प्रदानसंज्ञा

यस्मै श्रुतिं ददाति यदर्थेन तत् सम्प्रदानम् (२/३/१३) ।

यस्मै स्वराय यदर्थेन श्रुतिं ददाति तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञम्भवति । यथा– 'ऋषभो गान्धाराय श्रुतिं ददाति' इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में सम्प्रदानसंज्ञा

जिस स्वर को किसी प्रयोजन से श्रुति दी जाती है, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है । जैसे ऋषभ स्वर गान्धार स्वर को श्रुति देता है इत्यादि ।

टिप्पणी- ६३

जिसे देने की इच्छा होती है, जिसे कोई वस्तु रुचिकर लगती है तथा जिसकी वस्तु (स्वत्व) अपने पास ऋण के रूप में रखी जाती है, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा

पाणिनि तथा शर्ववर्मा दोनों ने ही की है । पाणिनि ने इसके लिये **"कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्, रुच्यर्थानां प्रीयमाणः, श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः, धारेरुत्तमर्णः, स्पृहेरीप्सितः, क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः, राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः, प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता, अनुप्रतिगृणश्च"** (अ० १/४/३२-३७, ३९-४१) ९ सूत्र बनाये हैं और विविध अर्थों का स्पष्टरूप में तथा विस्तार से निर्देश किया है । कातन्त्रकार शेष अर्थों का ग्रहण व्याख्याबल से कर लेते हैं । पाणिनि के प्रथम सूत्र में लोकव्यवहारप्रसिद्ध संप्रदान व्याख्यात है, शेष सूत्रों में प्रायः शास्त्रीय सम्प्रदान । सम्प्रदान तीन प्रकार का होता है । जैसे–

१. **अनिराकरण**-सूर्यायार्घ्यं ददाति ।

२. **प्रेरणा**-विप्राय गां ददाति ।

३. **अनुमति**-उपाध्यायाय गां ददाति ।

"निर्देशः सम्प्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभिः" (ना०शा० १४/२३) इस वचन में 'सम्प्रदान' शब्द का उल्लेख होने के कारण इसकी प्राचीनता तथा प्रामाणिकता सिद्ध है । इस संज्ञा की लोकाभिधानपरता तथा अन्वर्थता के विषय में कातन्त्रपरिशिष्टकार का यह वचन द्रष्टव्य है–

सम्प्रदानादयः संज्ञा रुचिधारिविवर्जिताः ।
लोकोपचारात् संसिद्धाः सुखबोधाय दर्शिताः ।।

(कात० वृ० टी० २/४/१६) ।

अर्वाचीन शाब्दिकाचार्यों ने भी इस संज्ञा का प्रयोग किया है–

जैनेन्द्रव्याकरण–कर्मणोपेयः सम्प्रदानम्, धारेरुत्तमर्णः, परिक्रयणम् (१/२/१११-१३) ।

शाकटायनव्याकरण–कर्मणोऽभिप्रेयः सम्प्रदानम् (१/२/१२६) ।

मुग्धबोधव्याकरण–यस्मै दित्सासूयाक्रोधेर्ष्यारुचिद्रोहस्थाह्नुङ्स्पृहिशपाधीक्षाप्रति-श्रुप्रत्यनुगृधार्यर्था भं ची तादर्थ्ये च (सूत्र २९४) ।

हैमव्याकरण–कर्माभिप्रेयः सम्प्रदानम् (२/२/२५) ।

अग्निपुराण–सम्प्रदाने चतुर्थ्यपि, यस्मै दित्सा धारयते सम्प्रदानं तदीरितम् । सम्प्रदानं त्रिधा प्रोक्तम् (३५०/२६, ३५३/९) ।

नारदपुराण– **ङेभ्यांभ्यसश्चतुर्थी स्यात् सम्प्रदाने च कारके ।**
यस्मै दित्सा धारयेद् वै रोचते सम्प्रदानकम् ।। (५२/६)।

शब्दशक्तिप्रकाशिका– **गत्यादिभिन्ने धात्वर्थे चतुर्थ्या विग्रहस्थया ।**
यः स्वार्थो बोधनीयस्तत् संप्रदानत्वमीरितम् ।।

(का०७०)।

सङ्गीतशास्त्र में जिस स्वर को श्रुति दी जाती है, उसकी सम्प्रदानसंज्ञा व्याकरणशास्त्र से पर्याप्त समानता को सूचित करती है ।

८८. कलापेऽधिकरणसंज्ञा

य आधारस्तदधिकरणम् (२/४/११) ।

(दुर्गवृत्तिः)

आध्रियन्ते क्रिया यस्मिन्नित्याधारः । आधारो यस्तदधिकरणसंज्ञम्भवति । यथा 'कटे आस्ते, तिलेषु तैलम्' इत्यादि । [**पाठा०**–दिवि देवाः तथा गङ्गायां घोषः । अङ्गुल्यग्रे करिशतम् । अधिकरणप्रदेशाः–"अधिकरणे सप्तमी" (२/४/१९) इत्येवमादयः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अधिकरणसंज्ञा

जिसमें क्रियाएँ आश्रित होती हैं = रहती हैं, उसे आधार कहते हैं । आधार की अधिकरणसंज्ञा होती है । जैसे–'कटे आस्ते, तिलेषु तैलम्' (चटाई पर बैठा है, तिलों में तेल रहता है) इत्यादि ।

८८. गान्धर्वेऽधिकरणसंज्ञा

यस्मिन्नस्ति तदधिकरणम् (२/३/१४) ।

यस्मिन् यस्मिन् श्रुतिरस्ति तत् कारकमधिकरणसंज्ञम्भवति । यथा षड्जे श्रुतिरस्ति, ऋषभे श्रुतिरस्ति इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अधिकरणसंज्ञा

जिस जिस स्वर में श्रुति रहती है, उस उस कारक की अधिकरण संज्ञा होती है । जैसे–'षड्ज स्वर में श्रुति है, ऋषभस्वर में श्रुति है' इत्यादि ।

टिप्पणी-६४

आधार की अधिकरण संज्ञा पाणिनि तथा शर्ववर्मा दोनों ही शाब्दिकाचार्यों ने की है । पाणिनि का सूत्र है–"**आधारोऽधिकरणम्**" (अ० १/४/४५) । व्याख्याकारों ने आधार उसे कहा है, जिसमें क्रिया रहती हो । क्रिया साक्षात् सम्बन्ध से कहीं कर्ता में और कहीं कर्म में रहती है । अतः कर्तृ-कर्मसंज्ञा की बाधिका यह अधिकरणसंज्ञा सिद्ध न हो, इसलिये व्याख्याकारों का अभिमत है कि कर्ता और कर्म साक्षात् सम्बन्ध से जिसके आश्रय होंगे, वहाँ आधार माना जायेगा और इसी आधार की अधिकरणसंज्ञा प्रवृत्त होगी । इस प्रकार परम्परा से क्रिया के आधार को अधिकरण कहेंगे–"**परम्परया क्रियाधारभूतत्वम् अधिकरणत्वम्**" । सामान्यतया

आधार तीन माने जाते हैं–औपश्लेषिक, वैषयिक तथा अभिव्यापक । परन्तु इनके अतिरिक्त सामीपिक, औपचारिक एवं नैमित्तिक आधारों को भी व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है । एक श्लोक में इन सभी के उदाहरण मिल जाते हैं–

कटे शेते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते ।
तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम् ।।
युद्धे संनह्यते धीरोऽङ्गुल्यग्रे करिणां शतम् ।।

(द्र०, सि० च०-पृ० २४८, आधारे सप्तमी) ।

यह ज्ञातव्य है कि पाणिनीय व्याख्याकार अभिव्यापक आधार का उदाहरण प्रायः 'तिलेषु तैलम्' प्रस्तुत करते हैं, परन्तु तिलसर्वांश में तैल की अभिव्याप्ति न देखे जाने के कारण (कल्कांश के भी रहने से) कातन्त्रव्याख्याकार 'दिवि देवाः' उदाहरण समीचीन मानते हैं । किसी ने इसे वैषयिक आधार का भी उदाहरण माना है । **'निर्देशः सम्प्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभिः'** (ना० शा० १४/२३) इस वचन में प्रभृतिशब्द से अधिकरण का भी बोध होने के कारण इसे पूर्वाचार्यप्रयुक्त ही कहा जा सकता है । इस विषय में भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार द्वारा प्रस्तुत भागुरिमत भी द्रष्टव्य है (पृ० १२९) ।

अर्वाचीन शाब्दिकाचार्यों ने भी इस संज्ञा का प्रयोग किया है–

जैनेन्द्रव्याकरण–आधारोऽधिकरणः (१/२/११६) ।
हैमशब्दानुशासनम्–क्रियाश्रयस्याधारोऽधिकरणम् (२/२/३०) ।
मुग्धबोधव्याकरण–कालभावाधारं डं प्ती (सू० ३०९) ।
अग्निपुराण–आधारो योऽधिकरणं विभक्तिस्तत्र सप्तमी (३५०/२८) ।
नारदपुराण–ङ्योस्सुपः सप्तमी तु स्यात् सा चाधिकरणे भवेत् ।।
आधारे चापि ।। (५२/८-९) ।
शब्दशक्तिप्रकाशिका–यत् क्रियायां यादृशार्थः सप्तम्या विग्रहस्थया ।
बोधस्तस्यां तदेवाधिकरणं नाम कारकम् ।। (कारिका ७२) ।

सङ्गीतशास्त्र में श्रुति के आधारभूत स्वर की अधिकरणसंज्ञा करके व्याकरणशास्त्रीय मान्यता से पर्याप्त सादृश्य दिखाया गया है ।

८९. कलापे करणसंज्ञा

येन क्रियते तत् करणम् (२/४/१२) ।

(दुर्गवृत्तिः)

कर्त्रा येन क्रियते तत् कारकं करणसंज्ञम्भवति । यथा 'दात्रेण धान्यं लुनाति, मनसा मेरुं गच्छति' इत्यादि । [**पाठा०**—तथा पशुना रुद्रं यजते । प्रकृत्या

अभिरूप: । प्रायेण याज्ञिक: । गोत्रेण गार्ग्य: । समेन धावति । विषमेण धावति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । पञ्चकेन पशून् क्रीणाति । शतेन परिक्रीत: । 'त्वं मासं कर्म करिष्यसि' इति । प्रधानक्रियापेक्षं तादर्थ्यम् । करणप्रदेशा:—"करणे तृतीया" (२/४/१९) इत्येवमादय:] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में करणसंज्ञा

जिससे साक्षात् कोई क्रिया की जाती है, उस कारक की करण संज्ञा होती है । जैसे—दात्रेण धान्यं लुनाति, मनसा मेरुं गच्छति । हँसिया से धान्य काटता है, मन से सुमेरु पर्वत जाता है—इत्यादि ।

८९. गान्धर्वे करणसंज्ञा

येन दीप्यते तत् करणम् (२/३/१५) ।

येन स्वरो दीप्यते तत् कारकं करणसंज्ञम्भवति । यथा—'श्रुत्या स्वर: प्रकाशते' दीप्यते इत्यर्थ: ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में करणसंज्ञा

जिससे स्वर प्रकाशित होता है, उस कारक की करण संज्ञा होती है । जैसे—श्रुति से स्वर प्रकाशित होता है ।

टिप्पणी-६५

क्रिया की सिद्धि में अपेक्षित अनेक साधनों में से कर्ता जिस साधन को अन्तरङ्ग समझकर उससे कार्य करने का निश्चय करता है, उसकी करण संज्ञा दोनों व्याकरणों में की गई है । पाणिनि का सूत्र है—"साधकतमं करणम्" (अ० १/४/४२)। करण दो प्रकार का होता है—

१. बाह्य-दात्रेण धान्यं लुनाति ।

२. आभ्यन्तर—मनसा मेरुं गच्छति ।

"निर्देश: सम्प्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभि:" (ना० शा० १४/२३) इस नाट्यशास्त्रीय वचन में 'प्रभृति' शब्द से करण का भी उपादान होने के कारण इसकी प्राचीनता तथा प्रामाणिकता सिद्ध होती है । 'अव्यवधानेन क्रियते येन तत्' इस व्युत्पत्ति के बल पर करण को अन्वर्थ माना जाता है । अर्वाचीन व्याकरणों में भी यह संज्ञा उपलब्ध होती है । जैसे—

जैनेन्द्रव्याकरण—साधकतमं करणम् (१/२/११४) ।

हैमशब्दानुशासन—साधकतमं करणम् (२/२/२४) ।

मुग्धबोधव्याकरण—साधनहेतुविशेषणभेदकं घं कतघिस्त्री (सू० २८८) ।

अग्निपुराण—क्रियते येन करणम् । अनुक्ते तिङ्कृत्तद्धितैस्तृतीया करणे भवेत् (३५०/२५) ।

नारदपुराण—येन क्रियते तत् करणम् (५२/५) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका—योऽर्थो विकरणात्तस्य धातोरर्थे तृतीयया ।
बोध्यते करणं नाम कारकं तदिहोच्यते ॥
(कारिका ७१) ।

सङ्गीतशास्त्र में जिससे स्वर प्रकाशित होता है, उस कारक की की गई करणसंज्ञा व्याकरणशास्त्रीय करणसंज्ञा से अर्थतः समानता रखती है ।

९०. कलापे कर्मसंज्ञा

यत् क्रियते तत् कर्म (२/४/१३) ।

कर्त्रा यत् क्रियते तत् कारकं कर्मसंज्ञम्भवति । यथा–'कटं करोति, ओदनं पचति' इत्यादि । [**पाठा०**–आदित्यं पश्यति । तथा अहिं लङ्घयति । ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति । तथा स्तोकं पचति । गां दोग्धि पयः, पौरवं गां याचते । गामवरुणद्धि व्रजम् । छात्रं पन्थानं पृच्छति । पौरवं गां भिक्षते । वृक्षमवचिनोति फलानि । शिष्यं धर्मं ब्रूते । शिष्यं धर्ममनुशास्ति । अजां नयति ग्रामम् । ग्रामं वहति भारम् । हरते कुम्भं भारम् । ग्रामं छात्रशतं जयति । गर्गान् शतं दण्डयति । ग्राममधिशेते । ग्राममधितिष्ठति । वृक्षमध्यास्ते । धर्ममभिनिविशते । त्रिरात्रमुपवसति । पर्वतम् अधिवसति । आवसथमावसति । अक्षान् दीव्यति । "अक्षैर्दीव्यति' (दु०वृ० २/४/१३) इति करणविवक्षा । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला नदी । भवतेर्गम्यमानत्वात् । कर्मप्रदेशाः–"कर्मणि द्वितीया" (२/४/१९) इत्येवमादयः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में कर्मसंज्ञा

कर्ता के द्वारा जो किया जाता है, उसकी कर्म संज्ञा होती है । जैसे–कटं करोति, ओदनं पचति । 'चटाई बनाता है, भात पकाता है' इत्यादि ।

९०. गान्धर्वे कर्मसंज्ञा

यद्विभागरूपं क्रियते तत् कर्म (२/३/१६) ।

श्रुतिविभागरूपं यत् क्रियते तत् कारकं कर्मसंज्ञम्भवति । यथा–स्वरकर्ता श्रुतिविभागं करोति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में कर्मसंज्ञा

श्रुतिविभागरूप जो भी कार्य किया जाता है, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है । जैसे–स्वरों का उच्चारण करने वाला श्रुतियों = ध्वनियों का विभाग करता है ।

टिप्पणी- ६६

क्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम् । अर्थात् कर्ता के द्वारा विहित क्रिया से जन्य फल के आश्रय को कर्म कहते हैं । इसी अर्थ को प्रकृत सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है । पाणिनि ने इसके लिये न्यूनत: ५ सूत्र बनाये हैं–

१. **कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।**

२. **तथायुक्तं चानीप्सितम्** ।

३. **अकथितं च ।**

४. **गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ।**

५. **अधिशीङ्स्थासां कर्म** (अ० १/४/४९, ५०, ५१, ५२, ४६) ।

इनके अतिरिक्त "आदिखाद्यो: प्रतिषेधो वक्तव्य:" इत्यादि अनेक वार्त्तिक-वचन उपलब्ध होते हैं । कातन्त्र के व्याख्याकारों ने इन सभी को अनावश्यक बताया है । सामान्यतया कर्म तीन प्रकार के होते हैं–१. निर्वर्त्य, २. विकार्य तथा ३. प्राप्य ।

१. निर्वर्त्यते निष्पाद्यते यत् तत् निर्वर्त्यम् । विस्तृत लक्षण इस प्रकार है–**प्रकृतिभूतपदासमभिव्याहृतपदोपस्थाप्यत्वे सति क्रियाजन्योत्पत्तिरूपफलवत्त्वं निर्वर्त्यत्त्वम् ।** जैसे-कटं करोति ।

२. विकार्यते यत् तद् विकार्यम् । अर्थात् विकृति को प्राप्त होने वाली वस्तु विकार्य कर्म कही जाती है । जैसे–काष्ठं भस्म करोति, ओदनं पचति, सुवर्णं कुण्डलं करोति । विकार्य कर्म का विस्तृत लक्षण इस प्रकार है–**प्रतीयमानविकृतिभावत्त्वे सति क्रियाजन्यफलवत्त्वं विकार्यत्वम् ।**

३.यत्र तु निर्वर्त्यविकार्यसम्बन्धिनो विशेषा: पूर्वोक्ता: प्रत्यक्षेणानुमानेन वा कर्त्रा न प्रतीयन्ते केवलं प्राप्तिमात्रमेव प्रतीयते तत् प्राप्यं कर्म । अर्थात् निर्वर्त्य तथा विकार्य से भिन्न एवं क्रियाजन्य फल के आश्रय को प्राप्य कर्म कहते हैं–**निर्वर्त्यविकार्यभिन्नत्वे सति क्रियाजन्यफलशालित्त्वं प्राप्यत्वम् ।**

जैसे-आदित्यं पश्यति ।

कुछ आचार्य कर्म के सात भेद मानते हैं–१. निर्वर्त्य । २. विकार्य । ३. प्राप्य । ४. उदासीन । ५. अनीप्सित । ६. संज्ञान्तरानाख्यात तथा ७. अन्यपूर्व । जैसे–

१. निर्वर्त्य - कटं करोति ।

२. विकार्य - ओदनं पचति ।

३. प्राप्य - आदित्यं पश्यति ।

४. उदासीन - ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति ।

५. अनीप्सित - अहिं लङ्घयति ।

६. संज्ञान्तरानाख्यात - गां दोग्धि पयः ।

७. अन्यपूर्व - ग्राममधिशेते ।

पूर्वाचार्यों द्वारा कर्मसंज्ञा का प्रयोग

नाट्यशास्त्र-निर्देशः संप्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभिः (१४/२३) में प्रभृति शब्द से ग्राह्य ।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान– भूते भव्ये वर्तमाने भावे कर्तरि कर्मणि ।
प्रयोजके गुणे योग्ये धातुभ्यः स्युः क्विबादयः ।।
अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्मणि यङ् स्मृतः ।।
धातौ साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम् ।
लिङ्गे किमि चिति विभक्तावेतन्नाम ।
(सू० ४५, १३०, १-२)।

अर्वाचीन आचार्यों द्वारा कर्मसंज्ञा का प्रयोग–

चान्द्रव्याकरण–क्रियाप्ये द्वितीया (२/१/४३) ।

जैनेन्द्रव्याकरण–दिवः कर्म, कर्मैवाधिशीङ्स्थासः (३/२/११५, १७-२३) ।

हैमशब्दानुशासन - कर्तुर्व्याप्यं कर्म (२/२/३) ।

मुग्धबोधव्याकरण- कर्मक्रियाविशेषणाभिनिवेशाधिशीङ्स्थासन्वध्युपावस ड ढं द्वी, देशाध्वकालभावं वाढैः (सू० २८१-८२) ।

अग्निपुराण- संबोधने च प्रथमा उक्ते कर्तरि कर्मणि ।
कर्म यत् क्रियते तत् स्याद् द्वितीया कर्मणि स्मृता ।।
(३५०/२४-२५) ।

नारदपुराण– ---------तत् कर्म क्रियते च यत् ।
द्वितीया कर्मणि प्रोक्ताऽन्तरान्तरेण संयुते ।। (५२/४) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका–यङन्तधातोरर्थो यस्तिङा स्वार्थेऽनुभाव्यते ।
यश्चासौ कर्मता नाम कारकं कर्तृतेतरः ।। (का०७३) ।

सङ्गीतशास्त्र में कर्ता के द्वारा किए जाने वाले श्रुतिविभागादिरूप कार्यों की कर्मसंज्ञा का उक्त से साम्य ही सिद्ध होता है ।

११. कलापे कर्तृसंज्ञा

यः करोति स कर्ता (२/४/१४) ।

यः क्रियां करोति स कर्तृसंज्ञो भवति । यथा–'छात्रो गच्छति, चैत्रेण कृतम्' इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में कर्ता संज्ञा

जो क्रिया को करता है, उसकी कर्ता संज्ञा होती है । जैसे–'छात्र जाता है, चैत्र के द्वारा किया गया है' इत्यादि ।

९१. गान्धर्वे कर्तृसंज्ञा

यः करोति स कर्ता (२/३/१७) ।

यः श्रुतिविभागरूपां क्रियां करोति स कर्तृसंज्ञो भवति । यथा–श्रुतिः शुद्धस्वरं विभजति, श्रुत्या कोमलस्वरो विभज्यते च ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में कर्ता संज्ञा

जो श्रुति विभागरूप क्रिया को करती है, उसकी कर्ता संज्ञा होती है । जैसे–श्रुति शुद्धस्वर का विभाग करती है, श्रुति के द्वारा कोमल स्वर का विभाग किया जाता है ।

टिप्पणी-६७

कातन्त्रकार तथा पाणिनि की कर्तृसंज्ञाविषयक परिभाषा प्रायः समान ही है । पाणिनि का सूत्र है–"**स्वतन्त्रः कर्ता**" (अ० १/४/५४) । स्वतन्त्र का अर्थ है–प्रधानभूत । यही अर्थ कलापचन्द्र के व्याख्याकार सुषेण विद्याभूषण ने स्वीकार किया है–'करोतीति आख्यातप्रत्ययेन स्वतन्त्र उच्यते, शब्दानां नित्यत्वान्नेतरेतराश्रयदोषः । क्रियायां यः स्वतन्त्रः स कर्तेत्यर्थः' । इसके अनेक लक्षण व्याख्याकारों ने इस प्रकार किये हैं–'क्रियाश्रयत्वं कर्तृत्वम् । प्राधान्येन धातुवाच्यव्यापारवत्त्वं कर्तृत्वम्' । यह स्वतन्त्र कर्ता भी 'अभिहित, अनभिहित' तथा 'कर्मकर्ता' के भेद से तीन प्रकार का होता है । जैसे–

१. अभिहितकर्ता–देवदत्तः पचति ।

२. अनभिहितकर्ता–देवदत्तेन पच्यते ।

३. कर्मकर्ता–पच्यते ओदनः स्वयमेव ।

नामभेद से भी यह तीन प्रकार का माना गया है–केवलकर्ता, हेतुकर्ता तथा कर्मकर्ता । पूर्वाचार्यों द्वारा कर्ता का प्रयोग–

काशकृत्स्नव्याकरण–भूते भव्ये वर्तमाने भावे कर्मणि कर्तरि ।
प्रयोजके गुणे योग्ये धातुभ्यः स्युः क्विबादयः ॥
प्रयोज्यकर्तरि णिच् ॥ (सू० ४५, १२७) ।

नाट्यशास्त्रं–संप्रदानापादानप्रभृतिसंज्ञाभिः (१४/२३)।

अर्वाचीन आचार्यों द्वारा कर्ता का प्रयोग

जैनेन्द्रव्याकरण–स्वतन्त्रः कर्ता (१/२/१२५)।

हैमशब्दानुशासन–स्वतन्त्रः कर्ता (२/२/२)।

मुग्धबोधव्याकरण–साधनहेतुविशेषणभेदकं धं कर्ता घस्त्री (सू० २८८)।

अग्निपुराण– कर्ता यश्च करोति सः।
संबोधने च प्रथमा उक्ते कर्मणि कर्तरि।
कर्ता पञ्चविधः प्रोक्तः॥ (२५०/२५, २४; ३५३/४)।

नारदपुराण–स कर्ता स्यात् करोति यः। टाभ्यांभिसस्तृतीया स्यात् करणे कर्तरीरिता॥
स्वौजसः प्रथमा प्रोक्ता सा प्रातिपदिकात्मिका।
संबोधने च लिङ्गादावुक्ते कर्मणि कर्तरि॥ (५२/२-३)।

शब्दशक्तिप्रकाशिका– तिङा विकरणाक्तस्य धातोरर्थस्तु यादृशः।
स्वार्थे यादृशि बोध्यस्तत् कर्तृत्वं तदिहोच्यते॥
(कारिका- ७५)।

सङ्गीतशास्त्र में स्वरों का विभाग करने वाली श्रुति की कर्ता संज्ञा का उक्त से कुछ साम्य तो अवश्य ही कहा जा सकता है।

९२. गान्धर्वे विशेष्यसंज्ञा

स्वराश्च विशेष्याः (२/३/१८)।

षड्जादयः सप्त स्वराः सङ्गीते विशेष्यसंज्ञा भवन्ति। उदाहरणं यथाक्रमेण ज्ञातव्यमिति।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में विशेष्यसंज्ञा

सङ्गीतशास्त्र में षड्ज आदि सात स्वरों की विशेष्य संज्ञा होती है। उदाहरण के रूप में षड्ज आदि सात स्वर क्रम से जानने चाहिये।

९३. गान्धर्वे विशेषणसंज्ञा

भूषणानि विशेषणानि (२/३/१९)।

भूषणानि तान-गमक-कृन्तन-मूर्च्छनाप्रभृत्यलङ्कारादीनि विशेषणसंज्ञकानि भवन्ति। तद्विशेषो यथा–

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में विशेषणसंज्ञा

'तान - गमक - कृन्तन - मूर्च्छना' इत्यादि अलङ्कारों की विशेषण संज्ञा होती है।

१४. गान्धर्वेऽलंकारसञ्ज्ञा

अलङ्क्रियते येन सोऽलङ्कारः (२/३/२०) ।

विशिष्टस्वरसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते । तथाहि-केऽपि विलक्षणविशिष्टस्वरसन्दर्भं स्वरसमुदायमलङ्कारं प्रचक्षते । तथा चाह **मतङ्गः**—"अलङ्कारशब्देन मण्डनमुच्यते, यथा किरीटकेयूरादिना अलङ्कारेण नारी पुरुषो वा मण्डितः सन् शोभामावहति, तथैवालङ्कारैः प्रसन्नादिभिरलङ्कृताः स्वराः श्रोतुः श्रोत्रे सुखावहा भवन्तीति भावः । प्रसन्नादिभिः प्रसन्नतारमन्द्रादिभिरित्यर्थः" । एतत् प्रपञ्चितं **सुधाकरे** ।

।। इति वेदान्तदर्शन - व्याकरण - सङ्गीतादि - नानाशास्त्रविशारद-
ठाकुरोपाधिक - श्रीमद्धरकुमारज - सङ्गीतनायक-
श्रीमच्छौरीन्द्र - कृत-गान्धर्ववृत्तौ नाम्नि
गान्धर्वचतुष्टये कारकपादः
समाप्तः ।।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अलङ्कारसंज्ञा

विशिष्ट स्वरसन्दर्भ को अलङ्कार कहते हैं । अर्थात् कुछ विद्वान् विलक्षण स्वरसमुदाय की अलङ्कारसंज्ञा करते हैं । आचार्य मतङ्ग ने अलङ्कार का अर्थ किया है—मण्डन । जैसे मुकुट-बाजूबन्द इत्यादि अलङ्कारों से सुसज्जित होकर कोई भी स्त्री या पुरुष सुशोभित होता है, उसी प्रकार प्रसन्नता आदि अलङ्कारों से अलङ्कृत स्वर किसी भी श्रोता के कानों को सुख पहुँचाते हैं । प्रसन्नादि = प्रसन्न-तार-मन्द्र आदि । इसका विस्तार 'सुधाकर' ग्रन्थ में किया गया है ।

नामचतुष्टयप्रकरण-तृतीय कारकपाद समाप्त ।

अथ चतुष्टयवृत्तिः

चतुर्थः समासपादः

१५. गान्धर्वे शब्दविधिः

एकमात्रात्मकस्वरः शब्दम् (२/४/१) ।

I	I	I
स	म	प

एवमन्येऽपि ज्ञेया इति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में शब्दसंज्ञा

एकमात्रात्मक एक स्वर की शब्दसंज्ञा होती है । इसी को शब्द कहते हैं । जैसे–

I	I	I
स	म	प

इसी प्रकार से अन्य शब्द भी जानने चाहिये ।

१६. गान्धर्वे पदविधिः

द्वौ बहवश्च पदम् (२/४/२) ।

मात्रायुक्तौ द्वौ स्वरौ मात्रायुक्ता बहवः स्वराश्च सर्वे पदमापद्यन्ते । यथा–

II	III	III	II
स ग	म प ध	नि स स	ऋ ध

एवं सप्तकान्तरेऽपि ज्ञेयमिति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में पदसंज्ञा

मात्रायुक्त दो स्वरों और बहुत से स्वरों की पदसंज्ञा होती है । जैसे–

I I	I I I	I I I	I I
स ग	म प ध	नि स स	ऋ ध

इसी प्रकार से अन्य सात स्वरों में भी जानना चाहिये ।

अथ समासप्रकरणम्

९७. कलापे समाससंज्ञा

नाम्नां समासो युक्तार्थः (२/५/१) ।

(दुर्गवृत्तिः)

वस्त्वादीनि नामानि मिलितं युक्तमुच्यते ।

नाम्नां युक्तार्थः समाससंज्ञो भवति । [पाठा०–ततोऽन्यद् वाक्यमिति रूढम्, संज्ञयैव वा विधिरन्वाख्यातः । स पुनरभिधानात् क्वचिन्नित्यः, क्वचिद् विकल्पः, क्वचिन्न स्यात् । तथा च वक्ष्यति **]** ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में समाससंज्ञा

वस्तु आदि को नाम तथा मिलित रूप को युक्त कहते हैं । नामों के युक्तार्थ की समाससंज्ञा होती है ।

९७. गान्धर्वे समाससञ्ज्ञा

मात्रादीनां समासो युक्तार्थः (२/४/३) ।

मात्रा - लय - स्वरालङ्कार - यति - प्रस्तारकादीनाम् मिलितं युक्तमुच्यते । मात्रादीनां युक्तार्थः समाससंज्ञो भवति ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में समाससंज्ञा

मात्रा-लय-स्वर-अलङ्कार-यति-प्रस्तारक आदि के मिलित रूप को युक्त कहते हैं । मात्रा इत्यादि के युक्तार्थ की समाससंज्ञा होती है ।

टिप्पणी- ६८

सामान्यजन हो या विद्वान्, कभी वह किसी विषय को विस्तार से कहता है तो कभी संक्षेप में, क्योंकि यह सभी की प्रवृत्ति होती है । कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने कहा है—

विस्तीर्य हि महज्ज्ञानमृषिः संक्षेपतोऽब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ।।

(निरुक्त-दु० भा० ४/१/१; मभार० १/५/१) ।

इसीलिए व्याकरणशास्त्र में समास और वाक्य समादृत हैं । समास में संक्षेप और वाक्य में विस्तार स्पष्टरूप में देखा जाता है । जैसे—'राजन् + ङस् + पुरुष + सु' में समास होने पर 'राजपुरुष' रूप निष्पन्न होता है । यहाँ 'ङस् सु' या 'सि' का लुक् (**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः-अ० २/४/७१**) हो जाने से संक्षेप हो जाता है ।

आचार्य शर्ववर्मा ने समास की परिभाषा की है। तदनुसार दो या उनसे अधिक स्याद्यन्त पदों के मिलकर एक हो जाने को समास कहते हैं –**"नाम्नां समासो युक्तार्थः"** (२/५/१), परन्तु पाणिनि ने समास का कोई अर्थ नहीं दिया है, केवल अधिकार के रूप में ही समास को प्रस्तुत किया है—**"प्राक् कडारात् समासः"** (अ० २/१/३)।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने वाक्य-समास की प्रक्रिया को मन्दमति व्यक्तियों के अवबोधार्थ एक उपायमात्र बताया है—

अबुधं प्रत्युपायाश्च विचित्राः प्रतिपत्तये।
शब्दान्तरत्वादत्यन्तं भेदो वाक्यसमासयोः ॥

(वा० प० ३/१४/४९)।

समास को एकार्थीभाव भी कहते हैं। वाक्य में प्रयुक्त अनेक पदों के अर्थ इसमें एकरूप हो जाते हैं। यह प्रक्रिया विविध वृत्तिधर्मों के प्रयोग से होने वाले गौरव को दूर करने के उद्देश्य से व्यवहार में लाई जाती है—

बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने।
स्यान्महद् गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आस्थितः ॥

(वै० भू० सा०, का० ३३)।

यह ज्ञातव्य है कि संक्षेप करने के लिये कम से कम दो शब्दों की आवश्यकता होती है और जब इनमें समास उपपन्न होता है, तब यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि उन दो शब्दों में से कौन प्रधान है तथा कौन अप्रधान ? इस प्रकार सामान्यतया पूर्वपदार्थप्रधान समास को अव्ययीभाव, उत्तरपदार्थप्रधान को तत्पुरुष, उभयपदार्थप्रधान को द्वन्द्व तथा अन्यपदार्थप्रधान को बहुव्रीहि नाम दिया गया है। तत्पुरुष समास में प्रथमान्त विशेष्य-विशेषण आदि शब्दों का समास 'कर्मधारय' नाम से तथा उसमें भी संख्यापूर्वक शब्दों का समास 'द्विगु' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार छह समास व्याकरणशास्त्र में मान्य हैं। जैसे कहा गया है—

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं गेहे मे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ॥

(द्र०, व्या० द० इति०, पृ० १९६)।

दूसरे प्रकार से भी समास छह प्रकार का परिगणित है। जैसे—१. सुबन्त का सुबन्त के साथ। २. सुबन्त का तिङन्त के साथ। ३. सुबन्त का नाम (प्रातिपदिक) के साथ। ४. सुबन्त का धातु के साथ। ५. तिङन्त का तिङन्त के साथ तथा ६. तिङन्त का सुबन्त के साथ—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा ।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ।।
(वै० भू० सा०, समास-प्र०, का० १) ।

पूर्वाचार्यों ने भी इस संज्ञा का प्रयोग किया है—

निरुक्त—अथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् ।------एवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयात् (२/१) ।

बृहद्देवता—विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते ।
द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च ।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः ।। (२/१०६, १०५) ।

ऋक्प्रातिशाख्य—सहेतिकाराणि समासमन्तभाक् (११/२५) ।
पुनर्ब्रुवंस्तत्र समासमिङ्गयेत् (११/३१) ।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य—तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम् (१/२७) ।

अथर्ववेदप्रातिशाख्य—गतिपूर्वो यदा धातुः क्वचित् स्यात् तद्धितोदयः ।
समस्यते गतिस्तत्र, आ गमिष्ठा इति निदर्शनम् ।
(१/१/११,१२,१३) ।

ऋक्तन्त्र—मासे यथादृष्टः । समासे इति । समास ऋक्षु चान्द्रे ।
(२/१/१; ३/१/५; ४/९, ५/३, ७/५, ४/७/३; ११) ।

नाट्यशास्त्र— नामाख्यातनिपातैरुपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः ।
सन्धिविभक्तिषु युक्तो विज्ञेयो वाचकाभिनयः ।। (१४/४, ३२) ।

अर्वाचीन व्याकरणों में समास का प्रयोग

जैनेन्द्रव्याकरण—सः (१/३/२) ।

शाकटायनव्याकरण—सुप् सुपा (२/१/१) ।

हैमशब्दानुशासन—नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम् (३/१/१८) ।

मुग्धबोधव्याकरण—दैक्यं सोऽन्वये (सू० ३१७) ।

अग्निपुराण—षोढा समासं वक्ष्यामि अष्टाविंशतिधा पुनः (३५४/१) ।

नारदपुराण—अधिस्त्रीत्यव्ययीभावे यथाशक्ति च कीर्तितम् (५२/९१-९६) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका—यादृशस्य महावाक्यान्तस्त्वादिर्निजार्थके ।
यादृशार्थस्य धीहेतुः स समासस्तदर्थकः ।। (का० ३१-३३) ।

सङ्गीतशास्त्र में मात्रा-लय आदि के युक्तार्थ की समास संज्ञा इससे अर्थतः साम्य रखती है ।

९८. कलापे विभक्तिलोपः

तत्स्था लोप्या विभक्तयः (२/५/२) ।

(दुर्गवृत्तिः)

तत्स्था युक्तार्थमात्रस्था विभक्तयो लोप्या भवन्ति । यथा नीलोत्पलम्, राजपुरुषः । [**पाठा०** –राजता, पुत्रीयति ।क्वचिन्न लुप्यते, अभिधानात्– 'कण्ठेकालः, उरसिलोमा' इत्येवमादयः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में विभक्तियों का लोप

युक्तार्थमात्र = समासमात्र में वर्तमान विभक्तियों का लोप होता है । जैसे– नीलोत्पलम्, राजपुरुषः । लोकव्यवहार के बल से कहीं पर लोप नहीं भी होता है ।

९८. गान्धर्वे विभक्तिलोपः

समासे लोप्या विभक्तयः (२/४/४) ।

समासे कृते मात्रादीनां युक्ते कृते विभक्तयो लोप्या भवन्ति । यथा–

स ऋ ग म प

क्वचिन्न लुप्यते तालविशेषात्-

II II II II II II

स ऋ ग म प स इत्यादि ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में विभक्तियों का लोप

समास करने पर अर्थात् मात्रा इत्यादि की युक्तार्थता होने पर विभक्तियों का लोप होता है । जैसे–

स ऋ ग म प

तालविशेष की स्थिति में कहीं पर विभक्तियों का लोप नहीं भी होता है । जैसे–

II II II II II II

स ऋ ग म प स इत्यादि ।

टिप्पणी-६९

'नील + सि + उत्पल + सि, राजन् + ङस् + पुरुष + सि' आदि स्थिति में समास हो जाने पर 'सि, ङस्' आदि विभक्तियों का कातन्त्रकार के अनुसार लोप हो जाता है । पाणिनि समास हो जाने पर "**कृत्तद्धितसमासाश्च**" (अ० १/२/४५) से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा करते हैं, उसके फलस्वरूप "**सुपो धातुप्रातिपदिकयोः**"

(अ० २/४/७१) से सुप्-विभक्ति का लुक् उपपन्न होता है। पाणिनि ने "**हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्, षष्ठ्या आक्रोशे**" (अ० ६/३/९, २१) इत्यादि २४ सूत्रों द्वारा सप्तमी-षष्ठी आदि विभक्तियों का अलुक् दिखाया है, परन्तु शर्ववर्मा ने लोकव्यवहार के आधार पर इसे स्वीकार करके तदर्थ सूत्र नहीं बनाये । वृत्तिकार दुर्गसिंह ने स्पष्ट करते हुये कहा है—**'क्वचिन्न लुप्यतेऽभिधानात् कण्ठेकालः, उरसिलोमा इत्येवमादयः'** । टीकाकार ने इसका विस्तार दिखाया है ।

मात्रा इत्यादि की युक्तार्थता होने पर सङ्गीतशास्त्र में जो विभक्तियों का लोप दिखाया गया है, वह व्याकरण से अर्थतः साम्य अवश्य रखता है ।

१९. कलापे कर्मधारयसञ्ज्ञा

पदे तुल्याधिकरणे विज्ञेयः कर्मधारयः (२/५/५) ।

(दुर्गवृत्तिः)

यत्र समासे द्वे पदे तुल्याधिकरणे भवतः स कर्मधारयो विज्ञेयः । यथा-नीलञ्च तदुत्पलञ्चेति नीलोत्पलम् इत्यादि । [**पाठा०**–क्वचिन्नित्यसमासः–कृष्णसर्पः, लोहितशालिः । क्वचिदसमासः–दीर्घश्चारायणः, रामो जामदग्न्यः, व्यासः पाराशर्यः, अर्जुनः कार्तवीर्यः । तथैकाधिकरणत्वात्-कृष्णमदीकृतः, छिन्नप्ररूढः, एकपुरुषः, सर्वान्नम्, जरद्धस्ती, पुराणधान्यम्, नवोदकम्, केवलान्नम् । तथा पूर्वेषुकामशमी । संज्ञेयम् ।

संख्यापूर्वपदेऽपि–सप्तर्षयः, पञ्चाम्राः, तथा याज्ञिककितवः एवं पापकुलालः, अणकनापितः । क्वचिदुपमानभूतं विशेषणम्–शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा । क्वचिदुपमानभूतं विशेषणं परं स्यात्-पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । एवं पुरुषसिंहः । तथा पूर्वपुरुषः, अपरपुरुषः, प्रथमपुरुषः, चरमपुरुषः, जघन्यपुरुषः, समानपुरुषः, मध्यपुरुषः, मध्यमपुरुषः, वीरपुरुषः ।

एवम् अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः । तथा कृताकृतम्, भुक्तापभुक्तम्, गतप्रत्यागतम्, यातानुयातम्, अशितानशितम्, क्लिष्टाक्लिशितम् । क्रयाक्रयिका, फलाफलिका, पुटापुटिका, मानोन्मानिका । तथा सत्पुरुषः, महापुरुषः, परमपुरुषः, उत्तमपुरुषः, पुरुषोत्तम इति विशेषणं वा परं स्यात् । उत्कृष्टपुरुषः । तथा गोवृन्दारकः, गोनागः, अश्वकुञ्जरः, कतरकठः, कतमकठः, किंराजा । इभ्यपोटा, इभ्ययुवतिः । अग्निस्तोक इति विशेषणं परं स्यात् । एवं दधिकतिपयानि, गोगृष्टिः, गोधेनुः, गोवशा, गोवेहत्, गोवष्कयणी, कठप्रवक्ता, कठश्रोत्रियः, कठाध्यापकः, कठधूर्तः । तथा गोप्रकाण्डम्, अश्वमतल्लिका, युवखलतिः, युवखलती, युवपलितः, युवपलिता,

युववलिनः, युववलिना, युवजरम्, युवजरती। तथा भोज्योष्णम्, तुल्यश्वेतः, सदृशश्वेतः, शुक्लकृष्णः, शुक्लशुक्लः। कुमारी च सा श्रमणा चेति कुमारश्रमणा। कुमारप्रव्रजिता। कुमारपण्डितः, कुमारपण्डिता।

तथा गोगर्भिणी, अजगर्भिणी। तथा मयूर इव व्यंसको मयूरव्यंसकः। मयूरस्येव विगतावंसावस्येति वा विग्रहः। एवं छात्रव्यंसकः, कम्बोज इव मुण्डः कम्बोजमुण्डः। उच्चं च तदवचं चेति उच्चावचम्। एवम् उच्चनीचम्। न किञ्चन अकिञ्चनम्। अस्य वा किञ्चिन्नास्तीत्यकिञ्चनः। पूर्वश्चासौ कायश्चेति पूर्वकायः। कायैकदेशे कायः। एवम् अपरकायः, अधरकायः, उत्तरकायः, मध्यकायः, मध्यमकायः, मध्याह्नः। अर्धं च तत् पिप्पली चेति अर्धपिप्पली। पिप्पल्यर्धमिति षष्ठीसमासोऽपि दृश्यते हि।

चेद्यर्धं दक्षिणं मेरोः। शरार्धम्, चापार्धम्, चुल्लिकार्धमिति। असमप्रविभागेऽपि। न हीदम् अर्धजरतीयं लभ्यमिति। एवं द्वितीयभिक्षा, भिक्षाद्वितीयः। तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयः। चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थः। तुर्यभिक्षा, भिक्षातुर्यः। तुरीयभिक्षा, भिक्षातुरीयः। मासजातः, संवत्सरजातः इति बहुव्रीहिणा सिद्धम्। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः इति कर्मधारयः। कर्मधारयप्रदेशाः –"कर्मधारयसञ्ज्ञे तु पुंवद्भावो विधीयते" (२/५/२०) इत्येवमादयः]।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में कर्मधारय संज्ञा

जिस समास में दो पद तुल्य अधिकरण वाले होते हैं, उसकी कर्मधारयसंज्ञा होती है। जैसे–नील और उत्पल = नीलोत्पल इत्यादि।

९९. गान्धर्वे कर्मधारयसञ्ज्ञा

यन्त्रकण्ठादौ मात्राविशेषणयोर्योगे कतीनां व्यक्तो विज्ञेयः कर्मधारयः (२/४/५)।

यन्त्रकण्ठादौ मात्राविशेषणयोर्योगे कतीनां स्वराणां व्यक्तो यः सः कर्मधारयो विज्ञेयः।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में कर्मधारय संज्ञा

यन्त्र-कण्ठ इत्यादि में मात्रा-विशेषण का योग होने पर कुछ स्वरों में से अधिक स्पष्ट स्वर की कर्मधारय संज्ञा होती है।

टिप्पणी-७०

'नीलं च तद् उत्पलं च' इस लौकिक विग्रह में वर्तमान 'नीलम्' तथा 'उत्पलम्' पदों का अधिकरण एक ही है, अतः इन पदों में होने वाले समास की कर्मधारयसंज्ञा दोनों ही व्याकरणों में की गई है। पाणिनि का सूत्र है-"**तत्पुरुषः**

समानाधिकरणः कर्मधारयः'' (अ० १/२/४२) । यह कहीं पर नित्यरूप में प्रवृत्त होता है, तो कहीं उसकी प्रवृत्ति होती ही नहीं है । कहीं उपमानभूत विशेषण पूर्व पद में होता है तो कहीं पर उत्तर पद में-आदि । कुछ आचार्य कर्मधारय-घटित 'कर्म' शब्द को धर्मार्थपरक मानते हैं ।

पूर्वाचार्यों द्वारा भी इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है । जैसे—

बृहद्देवता–द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च (२/१०६,१०५) ।

नाट्यशास्त्र–तत्पुरुषादिकसंज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधः सोऽपि (१४/३२) ।

अर्वाचीन व्याकरणों में प्रयोग–

जैनेन्द्रव्याकरण—पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये (१/३/४४) ।

शाकटायनव्याकरण–विशेषणं व्यभिचार्येकार्थे कर्मधारयश्च (२/१/५८) ।

हैमशब्दानुशासन–विशेषणं विशेष्येणैकार्थे कर्मधारयश्च (३/१/९६) ।

मुग्धबोधव्याकरण–भिन्नान्येकार्थद्वयापि संख्याव्ययादीनां च - ह - य - ष - ग - वाः (सू० ३१८) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका– क्रमिकं यन्नामयुगमेकार्थेऽन्यार्थबोधकम् ।
तादात्म्येन भवेदेष समासः कर्मधारयः ।। (कारिका ३४) ।

अग्निपुराण– कर्मधारयः सप्तधा नीलोत्पलमुखः स्मृतः ।
विशेषणपूर्वपदो विशेष्योत्तरतस्तथा ।।
वैयाकरणखसूचिः शीतोष्णं द्विपदं शुभम् ।
उपमानपूर्वपदः शङ्खपाण्डुर इत्यपि ।।
उपमानोत्तरपदः पुरुषव्याघ्र इत्यपि ।
संभावनापूर्वपदो गुणवृद्धिरितीदृशम् ।।
गुण इति वृद्धिर्वाच्या सुहृदेव सुबन्धुकः ।
अवधारणपूर्वपदः-------------।।

(३५५/८-११) ।

नारदपुराण–नीलोत्पलं महाषष्ठी तुल्यार्थे कर्मधारयः (५२/९३) ।

सङ्गीतशास्त्र में मात्राविशेषण का योग होने पर कुछ स्वरों में से अधिक स्पष्ट स्वर की जो कर्मधारय संज्ञा होती है, उसका व्याकरणशास्त्रीय संज्ञा से आंशिक सादृश्य अवश्य है ।

१००. कलापे द्विगुसंज्ञा

संख्यापूर्वो द्विगुरिति ज्ञेयः (२/५/६) ।

(दुर्गवृत्तिः)

कर्मधारय इति सम्बन्धः । यथा-पञ्चसु कपालेषु संस्कृत ओदनः पञ्चकपाल ओदनः । पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः इत्यादि । [**पाठा०**–पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली । तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारेषु संज्ञेयम्] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में द्विगु संज्ञा

यहाँ कर्मधारय का सम्बन्ध है । अर्थात् सङ्ख्यापूर्वक कर्मधारय की द्विगु संज्ञा होती है । जैसे–पाँच कपालों में पकाया गया ओदन-पञ्चकपाल ओदनः, पाँच गाएँ ही जिसका धन है–पञ्चगवधनः इत्यादि ।

१००. गान्धर्वे द्विगुसंज्ञा

संख्या कतिपदे स्थित्वा नानातालरागाणां यो व्यक्तः स द्विगुरिति ज्ञेयः (२/४/६) ।

मात्रायुक्ताः संख्याः संख्यावाचकाः कतिपयस्वराः पदे स्थित्वा अर्थात् पदरूपे न्यस्ता नानातालरागमानानां यो व्यक्तः स द्विगुरिति ज्ञेयः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में द्विगु संज्ञा

मात्रा से युक्त सङ्ख्यावाचक पद के रूप में स्थित होने पर कुछ स्वरों में जो विविध ताल-राग आदि से व्यक्त होता है, उसकी द्विगु संज्ञा होती है ।

टिप्पणी-७१

'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः' इत्यादि तद्धितार्थ में, 'पञ्च गावो धनमस्य' इत्यादि उत्तरपद में, 'पञ्चानां पूलानां समाहारः' इत्यादि समाहार में पाणिनि तथा शर्ववर्मा दोनों ही द्विगु समास मानते हैं । पाणिनि का सूत्र है–"**संख्यापूर्वो द्विगुः**" (अ० २/१/५२) । रचनाशैली की दृष्टि से उभयत्र समानता ही कही जा सकती है, क्योंकि पाणिनि पहले कर्मधारय, तदनन्तर तत्पुरुष तथा इसके बाद द्विगुसंज्ञा का विधान करते हैं, जबकि कातन्त्रकार 'कर्मधारय-द्विगु' संज्ञाएँ पहले प्रस्तुत करके उन दोनों की तत्पुरुष संज्ञा का निर्देश बाद में करते हैं ।

पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत द्विगु संज्ञा

बृहद्देवता— द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च ।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः ।। (२/१०५) ।

नाट्यशास्त्र— तत्पुरुषादिकसंज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधः सोऽपि ।। (१४/३२) ।

काशकृत्स्नधातुव्याख्यान—प्रत्ययोत्तरपदयोः (सू० ३) ।
(यु० मी० व्या०-स च द्विगुसंज्ञो भवति)

अर्वाचीन व्याकरणों में द्विगुसंज्ञा का व्यवहार

जैनेन्द्रव्याकरण—संख्यादी रश्च (१/३/४७)।

शाकटायनव्याकरण—विशेषणं व्यभिचार्येकार्थे कर्मधारयश्च (२/१/५८)।

हैमशब्दानुशासन—संख्यासमाहारे च द्विगुश्चानाम्न्ययम्।

मुग्धबोधव्याकरण—भिन्नान्येकार्थद्वयापि संख्याव्ययादीनां च - ह - य - ष - ग - वाः (सू० ३१८)।

शब्दशक्तिप्रकाशिका—संख्याशब्दयुतं नाम तदलक्ष्यार्थबोधकम्।
अभेदेनैव यत् स्वार्थे स द्विगुस्त्रिविधो मतः ॥ (कारिका ३५)।

अग्निपुराण— द्विगुराभाषितो द्विधा (३५४/१५)।

नारदपुराण— पञ्चगवं दशग्रामी त्रिफलेति तु रूढितः (५२/९२)।

सङ्गीतशास्त्रीय द्विगुसंज्ञा में सङ्ख्यावाचक के उल्लेख से व्याकरणशास्त्रीय संज्ञा के साथ कुछ सादृश्य सिद्ध होता है।

१०१. कलापे तत्पुरुषसञ्ज्ञा

विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु।
समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च ॥ (२/५/८)।

(दुर्गवृत्तिः)

यत्र समासे इति सम्बन्धः। यथा–'कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। एवं 'नरकपतितः, ग्रामगतः' इत्यादि [**पाठा० –द्वितीया**-एवं कान्तारातीतः, तरङ्गात्यस्तः, सुखप्राप्तः, दुःखापन्नः, ग्रामगमी, ग्रामागामी, ओदनबुभुक्षुः, खट्वारूढो जाल्मः। अह रतिसृता मुहूर्ताः, अहःसंक्रान्ताः, रात्र्यारूढाः। मासप्रमितश्चन्द्रमाः, मुहूर्तसुखम्, सर्वरात्रकल्याणी। क्वचिद् वाक्यमेव–ओदनं भुक्तवान्।

तृतीया

गिरिणा काणः गिरिकाणः। एवं धान्यार्थः, मासपूर्वः, पितृसदृशः, पितृसमः, मासोनः, मासविकलः, असिकलहः। वाङ्निपुणः, गुडमिश्रः, वाक्श्लक्ष्णः, तथा राजहतः, नखनिर्भिन्नः, काकपेया नदी, बाष्पच्छेद्यानि तृणानि। क्वचिन्न स्यात्। काकेन पातव्या। क्वचित् स्यात्–बुषोपेन्ध्यम्, घनघात्यम्, दध्ना उपसिक्त ओदनः, गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः।

चतुर्थी

गोभ्यो हितं गोहितम्। एवं गोसुखम्, कुबेरबलिः, गोरक्षितः। यूपाय दारु यूपदारु, देवदेयं पुष्पम्, ब्राह्मणदेयं धनम्, वरप्रदेया कन्या। क्वचिन्न स्यात्–

ब्राह्मणाय दातव्यम्, ब्राह्मणार्थः पूपः, ब्राह्मणार्था प्रपा, ब्राह्मणार्थं पयः। नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च।

पञ्चमी

वृकाद् भयं वृकभयम्। एवं वृकभीतः, वृकभीतिः, वृकभीः, ग्रामनिर्गतः, सुखापेतः, कल्पनापोढः, चक्रमुक्तः, मञ्चपतितः, तरङ्गापत्रस्तः।

षष्ठी

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः। एवम् आत्मषष्ठः, भिक्षाद्वितीयः, वर्तमानसामीप्यम्, चन्दनगन्धः, नदीघोषः, कन्यारूपम्, स्तनस्पर्शः, फलरसः, ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्। वृत्तिरपीष्यते। ब्राह्मणस्य कुर्वन्, ब्राह्मणस्य कुर्वाणो वाक्यमेव, तथा फलानां तृप्तः, छात्रस्योच्चैर्गृहमिति सापेक्षत्वात्। 'पलाशशातनम्, मातृस्मरणम्, सुरेश्वरः, राजपूजितः' इत्यादिषु सम्बन्धषष्ठ्या समास एव।

सप्तमी

अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः। एवम् अक्षधूर्तः, अक्षकितवः। वनेऽन्तर्वसतिर्वनान्तर्वसतिः। तथा काम्पिल्लसिद्धः, छायाशुष्कः, कुम्भीपक्वः, चारकबन्धः, तीर्थध्वाङ्क्षः, तीर्थकाकः। तथा पूर्वाह्णेगेयं साम, मासदेयम् ऋणम्, पूर्वाह्णकृतम्, अपराह्णकृतम्, पूर्वरात्रकृतम्, अपररात्रकृतम्। एवमन्येऽपि।

परपदेनेति किम्? गतो ग्रामम्। कथं प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः? एवम् आपन्नजीविकः? अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया–अतिक्रान्तः खट्वाम् अतिखट्वः? अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया-अवक्रुष्टं कोकिलया अवकोकिलं वनम्? एवम् अवमयूरम्। पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या–परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः? निरादयो गताद्यर्थे पञ्चम्या–निर्गतः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः? सत्यम्। कृते समासे पूर्वनिपातः, अभिधानात्। यथा दन्तानां राजा राजदन्तः इति। 'कुब्राह्मणः' इत्यादीनां कर्मधारयः]।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में तत्पुरुष संज्ञा

जिस समास में नाम पद के साथ द्वितीया आदि विभक्तियों का समास होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। जैसे–कष्ट के आश्रित रहने वाला पुरुष-कष्टश्रितः। इसी प्रकार से नरक में पतित-'नरकपतितः' तथा ग्राम में गया हुआ पुरुष-ग्रामगतः इत्यादि।

१०१. गान्धर्वे तत्पुरुषसञ्ज्ञा

प्राग् द्वितीयादिमात्रा-युक्तानि परपदैनैकस्थेन समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च

(२/४/७)।

प्राक् पूर्वपदानि द्वितीयादिमात्रायुक्तानि चेदेकस्थेन एकमात्रायुक्तेन परपदेन सह समासो हि तत्पुरुषो ज्ञेयः ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में तत्पुरुष संज्ञा

द्वितीयादिमात्रा से युक्त पूर्वपद का एकमात्रा से युक्त दूसरे पद के साथ जो समास होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं ।

टिप्पणी-७२

पाणिनि ने तत्पुरुषसंज्ञा तथा विधि-सूत्रों के लिये पर्याप्त विस्तार का आश्रय लिया है । सूत्र "तत्पुरुषः" (२/१/२२) से लेकर सूत्र "क्त्वा च" (२/२/२२) तक ७३ सूत्रों में यह विस्तार द्रष्टव्य है । कातन्त्रकार शर्ववर्मा ने लोकाभिधान के आश्रय से एक ही सूत्र बनाकर संक्षिप्त मार्ग का आश्रय लिया है । उनके अभिप्राय को व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है और पाणिनि के सूत्रों की अनावश्यकता सिद्ध की है ।

पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवहृत तत्पुरुषसंज्ञाविषयक वचन

बृहद्देवता—द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च ।

पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः **षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः** ।। (२/१०५) ।

नाट्यशास्त्र—तत्पुरुषादिकसंज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधः सोऽपि (१४/३२) ।

निरुक्त—तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् (२/१) ।

अर्वाचीन आचार्यों के वचन

जैनेन्द्रव्याकरण—षम् (१/३/१९) ।

शाकटायनव्याकरण—ति-दुस-स्वत्याङ्क्वन्यस्तत्पुरुषः (२/१/२०) ।

हैमशब्दानुशासन—गतिक्वन्यस्तत्पुरुषः (३/१/४२) ।

मुग्धबोधव्याकरण—भिन्नान्येकार्थद्वयापि संख्याव्ययादीनां च - ह - य - ष - ग - वाः (सू० ३१८) ।

अग्निपुराण—स्यादष्टधा तत्पुरुषः, उत्तरपदार्थमुख्यः (३५४ /३, १८) ।

नारदपुराण—रामाश्रितस्तत्पुरुषे धान्यार्थो यूपदारु च ।

व्याघ्रभी राजपुरुषोऽक्षशौण्डः ।। (५२/९१-९२) ।

शब्दशक्तिप्रकाशिका—यदीयेन सुबर्थेन युतयद्बोधनक्षमः ।

यः समासस्तस्य तत्र स तत्पुरुष उच्यते ।। (कारिका-३९) ।

सङ्गीतशास्त्र में द्वितीयादि मात्रा से युक्त पूर्वपद का एकमात्रा वाले दूसरे पद के साथ तत्पुरुषसमास का निर्देश करके व्याकरणशास्त्र से साम्य दिखाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है ।

१०२. कलापे द्वन्द्वसञ्ज्ञा

द्वन्द्वः समुच्चयो नाम्नोर्बहूनां वापि यो भवेत् (२/५/११) ।

(दुर्गवृत्तिः)

यत्र समासे द्वयोर्नाम्नोर्बहूनां वापि नाम्नां यः समुच्चयः स द्वन्द्वो भवेत् । यथा- देवदत्तश्च यज्ञदत्तश्च देवदत्तयज्ञदत्तौ, धवखदिरपलाशाः इत्यादि [**पाठा०**–वाग्दृशदम् । पीठच्छत्रोपानहम् । इतरेतरयोगः समाहारश्च समुच्चयस्यैव भेद इति] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में द्वन्द्व संज्ञा

जिस समास में दो नामपदों का या बहुत से नामपदों का जो समुच्चय होता है, उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है । जैसे–देवदत्त और यज्ञदत्त-देवदत्तयज्ञदत्तौ, धव- खदिर तथा पलाश = धवखदिरपलाशा इत्यादि ।

१०२. गान्धर्वे द्वन्द्वसञ्ज्ञा

द्वन्द्वः समुच्चयः प्रथमैकवचनयुक्तयोः स्वप्रधानयोश्च द्वयोर्बहूनां वापि यो भवेत् (२/४/८) ।

यत्र समासे प्रथमैकवचनयुक्तयोरर्थादेकमात्रात्मकयोः स्वस्वप्रधानयोश्च द्वयोः पदयोर्बहूनां वापि प्रथमैकवचनयुक्तानां स्वस्वप्रधानानाञ्च पदानां समुच्चयः समायोगो यः स द्वन्द्वो भवेत् ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में द्वन्द्व संज्ञा

जिस समास में स्वतन्त्ररूप से प्रधान एकमात्रा वाले दो या बहुत पदों का स्वतन्त्र रूप से प्रधान प्रथमा-एकवचन वाले पदों के साथ जो समुच्चय होता है, उसे द्वन्द्व कहते हैं ।

टिप्पणी-७३

'धव + सि + खदिर + सि + पलाश + सि, वाच् + सि + दृषद् + सि, छत्र + सि + उपानह् + सि' इस स्थिति में द्वन्द्व समास होकर 'धवखदिरपलाशाः, वाग्दृषदम्, छत्रोपानहम्' आदि शब्दरूप सिद्ध होते हैं । पाणिनि 'चार्थ' शब्द से तथा शर्ववर्मा 'समुच्चय' शब्द से समाहार आदि अभिप्रेत अर्थों को अभिव्यक्त करते हैं । कलापव्याकरण में वृत्तिकार दुर्गसिंह ने 'समुच्चय' शब्द के ही इतरेतरयोग एवं

समाहार अर्थ माने हैं । सामान्यतया यह दो प्रकार का होता है । श्रीमद्भगवद्गीता (१०/३३) में इसे ईश्वर की विभूति के रूप में स्वीकार किया गया है— "द्वन्द्वः सामासिकस्य च" ।

सङ्गीतशास्त्र के अनुसार समुच्चय की द्वन्द्व संज्ञा किये जाने से व्याकरणशास्त्रीय मान्यता के साथ आंशिक साम्य सिद्ध होता है ।

१०३. कलापेऽव्ययीभावसंज्ञा

पूर्वं वाच्यं भवेद् यस्य सोऽव्ययीभाव इष्यते (२/५/१४) ।

(दुर्गवृत्तिः)

समासस्येति सम्बन्धः, कारके-स्त्रीष्वधिकृत्य कथा प्रवृत्ता-अधिस्त्रि । समीपे-उपकुम्भम् । ऋद्धौ-सुमद्रम् इत्यादि । [**पाठा०**–अभावे-निर्मक्षिकम् । तथा गवधिकानामृद्धेर्विगमः–दुर्गवधिकम् । शीतानामतिक्रमः अतिशीतम् । अतितैसृकम् । तैसृकाणामाच्छादनानां न सम्प्रत्युपभोगकालः । शब्दप्रादुर्भावे–इतिपाणिनि, तत्पाणिनि । पश्चादर्थे–अनुरथम् । यथार्थे-अनुरूपम् । रूपस्य योग्यत्वम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । यथाशक्ति, अनुज्येष्ठम् । शक्त्यनतिक्रमेण, ज्येष्ठानुक्रमेणेत्यर्थः । सादृश्ये–किख्याः सदृशं सकिखि । साकल्ये सतृणमभ्यवहरति । साग्न्यधीते । एवमन्येऽपि । अव्ययीभावप्रदेशाः–"**अव्ययीभावादकारान्ताद् विभक्तीनाममपञ्चम्याः**" (२/४/१) इत्येवमादयः] ।

[हिन्दी-अनुवाद] कलापव्याकरण में अव्ययीभाव संज्ञा

जिस समास में पूर्वपद वाच्य=प्रधान होता है, उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है । जैसे कारक में-स्त्रियों को अधिकृत करके जो कथा प्रचलित हुई हो वह 'अधिस्त्रि' । समीप अर्थ में कुम्भ के समीप-'उपकुम्भ' । ऋद्धि अर्थ में मद्रदेश की समृद्धि-'सुमद्रम्' इत्यादि ।

१०३. गान्धर्वेऽव्ययीभावसंज्ञा

तालमात्राहीनाः कतिपयस्वराः श्यामपक्ष्यादेर्ध्वनिना युक्ता
यद्गीतध्वनिर्व्यक्तः सोऽव्ययीभाव इष्यते ।। (२/४/९) ।

यस्मिन् समासे इति सम्बन्धः । श्यामपक्ष्यादेः श्याम-दोहल-चातकादेः । अस्योदाहरणं विशेषविवरणञ्च निम्नोक्त-गार्डिनरकृते 'मिउजिक-आफ-नेचर' नाम्नि ग्रन्थे द्रष्टव्यम् ।

[हिन्दी-अनुवाद] सङ्गीतशास्त्र में अव्ययीभाव संज्ञा

ताल-मात्रा आदि के कुछ स्वर जब श्याम पक्षी आदि की ध्वनि से युक्त होते हैं, तो उस समय जो ध्वनि स्पष्टरूप में मालूम पड़ती है, उसे अव्ययीभाव कहते हैं। इसके उदाहरण और विशेष विवरण विलियम गार्डिनर-लिखित पुस्तक The Music Of Nature में द्रष्टव्य है ।

टिप्पणी-७४

किसी भी समास में सामान्यतया दो शब्दों के रहने से जो प्रधानाप्रधान का विचार किया जाता है, तदनुसार अव्ययीभाव को पूर्वपदार्थप्रधान, तत्पुरुष को उत्तरपदार्थप्रधान, द्वन्द्व को उभयपदार्थप्रधान तथा बहुव्रीहि को अन्यपदार्थप्रधान माना जाता है, परन्तु कुछ अपवाद-स्वरूप शब्दों में इन लक्षणों के संगत न होने से **'अव्ययीभावाधिकारपठितत्वमव्ययीभावत्वम्, तत्पुरुषाधिकारपठितत्वं तत्पुरुषत्वम्, द्वन्द्वाधिकारपठितत्वं द्वन्द्वत्वम्, बहुव्रीह्यधिकारपठितत्वं बहुव्रीहित्वम्'** इस प्रकार के लक्षण स्थिर किए जाते हैं । पाणिनीय व्याकरण में इनकी संगति इसलिये बन जाती है, क्योंकि वहाँ इस प्रकार अधिकारसूत्र उपलब्ध होते हैं । कातन्त्रव्याकरण में प्रत्येक समास के लिये अधिकारसूत्र की व्यवस्था नहीं की गई है । अत: वहाँ तो **''पूर्वं वाच्यं भवेद् यस्य सोऽव्ययीभाव इष्यते''** इसी प्रकार के लक्षण की संगति हो सकती है । अपवादों के विषय में व्याख्याकारों के वचन द्रष्टव्य हैं । 'विभक्ति-समास' आदि के अर्थ वृत्तिकार दुर्गसिंह ने प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें पाणिनीय व्याकरण के सूत्र में कहा गया है ।

सङ्गीतशास्त्र में कुछ स्वरों के श्याम पक्षी आदि की ध्वनि से युक्त होने पर स्पष्टरूप में उच्चरित ध्वनि की जो अव्ययीभाव संज्ञा की गई है, उससे व्याकरणशास्त्रीय अव्ययीभाव के साथ किसी प्रकार की समानता तो सङ्गीतशास्त्र में परम निपुण अनुभवी विद्वान् ही बता सकते हैं । ग्रन्थकार ने इस प्रसङ्ग में Mr. William Gardiner द्वारा लिखित The Music of Nature ग्रन्थ की चर्चा करके अवश्य ही अपने सङ्गीतशास्त्रीय अनुभव को इसके साथ जोड़ने का प्रयास किया है ।

१०४. पक्षिकृतकलरव-सङ्गीतस्य वैशिष्ट्यम्

Unquestionably we derive many hints for musical composition from the '*song of earliest birds*'–from the sweet warble of their wood-notes wild. In the summer time, the inquisitive and restless robin is early up to wake the morn–and the 'blackbird, with his *chink, chink,* mounts the

towering ash, to wake the day.'

The lark is in the air, and at 'Heaven's gate sings' while the throstle on the tree,

With warbling tune
welcomes in sweet rosy June.

THE MUSIC OF NATURE (Pages 221 and 222).
BY WILLIAM GARDINER.

The sounds which in insects produce are numerous and curious. It is, probably, not generally known, that the noises which are supposed to proceed from their vocal organs are actually made by rubbing their legs together, or by the motion of their wings.

If we reflect for a moment upon that humming sound, which we hear from a cloud of insects overhead, in a summer's evening, we cannot suppose it proceeds from the combined voices of beings, scarcely perceptible, but that the buzz is the result of a motion, given to the air by the dances of these diminutive creatures.

That keen observer, Mr. White of Selborne, says, 'I have often heard a sound like the humming of bees, though not an insect to be seen. You may hear it the whole common through. from the mossy dells to my avenue gate.'

Not undelightful is the ceaseless hum.

To him who musing walks at noon.

It was on a hot summer's day that Beethoven sat upon a stile the environs of Vienna, and caught from nature those **imitative** sounds in the Pastoral Sinfony. How admirably do the violins, in that extraordinary composition, represent the soft fluttoring stir of the insects–the hum in the noon-tide warmth of a summer's day !

If we watch the house-fly, we shall soon be convinced that he is destitute of voice, and that the noise proceeds from his wings; hence, when at rest, he is always silent. This sound is invariably upon the note F. in the first space :–

To produce this sound, the wings must make three hundred and twenty vibrations in a second of time, or nearly twenty thousand if he continues on the wing for one minute. The hum of the honey-bee is the same; and the large humble-bee, the **contrabasso** of the tribe, performs the same note just an octave lower.

THE MUSIC OF NATURE
(Pages 241, 242, 243 and 244)
By **W. GARDINER.**

[संक्षिप्त हिन्दी-अनुवाद]

निश्चित रूप से हम सङ्गीतमय रचनाओं के लिये सङ्केत प्राप्त करते हैं– सबसे पहले पक्षियों के गीतों से–जङ्गली पक्षियों के मधुर चहचहाते शब्दों से। गर्मियों में प्रात:काल उत्कण्ठायुक्त और चञ्चल लाल छाती की एक प्रकार की छोटी गाने वाली चिड़ियाँ आ जाती हैं। प्रात: जगाने के लिये और श्यामा चिड़ियाँ चिं-चिं करते हुये और बहुत ऊँची अखरोट की तरह की चिड़ियाँ वृक्ष पर चढ़ती हैं, प्रात:काल जगाने के लिये। भारद्वाज पक्षी हवा में है और स्वर्ग के द्वार पर है, जबकि एक प्रकार का पक्षी पेड़ पर बैठा है। कूकती हुई धुन के साथ...जून के महीने में आपका स्वागत करते हुये घूमती है।

जो आवाजें जन्तु निकालते हैं, वे असंख्य और जिज्ञासा-उत्सुकता को पैदा करने वाली होती हैं। यह शायद आमतौर पर जाना नहीं जाता। ऐसा माना जाता है कि जो आवाजें उन कीड़ों की वाणी से सम्बन्धित अंशों से आती हैं, वे दरअसल या तो उनके पाँवों को एक साथ रगड़ने से या फिर उनके पंखों को हिलाने से आती हैं। अगर हम थोड़ी देर के लिये उस भिनभिनाती आवाज पर ध्यान दें, जो कि हम एक गर्मी की शाम कीड़ों के झुण्ड से सुनते हैं, हम यों ही नहीं जान सकते कि ये उनकी सामूहिक आवाज से आती है। बहुत कम जानने योग्य है, मगर ये भनभनाहट उनके द्वारा किये जाने वाले नृत्य से हवा को दी गई गति से आती है। 'इस सूक्ष्म विश्लेषण के सम्बन्ध में मि० White Of Selborne कहते हैं कि मैंने कई बार मक्खी की भिनभिनाहट की आवाज सुनी है, पर आसपास कोई कीड़ा नहीं दिखता। वह गर्मी का एक गर्म दिन था।

नामचतुष्टयप्रकरण–चतुर्थ समासपाद समाप्त।

।। इति श्रीशौरीन्द्रमोहनठाकुरप्रणीतं गान्धर्वकलापव्याकरणं समाप्तम् ।।



प्रथमं परिशिष्टम् = कलापसूत्रसूची

२३.	डढणपरस्तु णकारम्	१/४/१२	४७
२४.	तत्र चतुर्दशादौ स्वरा:	१/१/२	०४
२५.	तत्स्था लोप्या विभक्तय:	२/५/२	९८
२६.	तथयो: सकारम्	१/४/९	४४
२७.	तस्मात् परा विभक्तय:	२/१/२	५१
२८.	तेभ्य एव हकार: पूर्वचतुर्थं नवा	१/४/४	३९
२९.	ते वर्गा: पञ्च पञ्च पञ्च	१/१/१०	१३
३०.	तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ	१/१/४	६
३१.	दश समाना:	१/१/३	५
३२.	द्वन्द्व: समुच्चयो नाम्नोर्बहूनां वापि यो भवेत्	२/५/११	१०२
३३.	द्विवचनमनौ	१/३/२	३३
३४.	धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्	२/१/१	५०
३५.	न व्यञ्जने स्वरा: सन्धेया:	१/२/५	३१
३६.	नान्यत् सार्वनामिकम्	२/१/३३	५७
३७.	नाम्नां समासो युक्तार्थ:	२/५/१	९७
३८.	नोऽन्तश्चछयो: शकारमनुस्वारपूर्वम्	१/४/७	४२
३९.	ᳵ प इत्युपध्मानीय:	१/१/१९	२२
४०.	पञ्चमे पञ्चमांस्तृतीयान्नवा	१/४/२	३७
४१.	पञ्चादौ घुट्	२/१/३	५२
४२.	पदे तुल्याधिकरणे विज्ञेय: कर्मधारय:	२/५/५	९९
४३.	पररूपं तकारो लचटवर्गेषु	१/४/५	४०
४४.	परो दीर्घ:	१/१/६	८
४५.	पूर्वं वाच्यं भवेद् यस्य सोऽव्ययीभाव इष्यते	२/५/१४	१०३
४६.	पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्	१/१/२०	२३

४७.	पूर्वो ह्रस्वः	१/१/५	७
४८.	प्रपरापसमन्ववनिर्दुरभिव्यधिसूदतिनिप्रतिपर्यपयः। उप आङिति विंशतिरेष सखे उपसर्गविधिः कथितः कविना ॥	२/४/४	७६
४९.	बहुवचनममी	१/३/३	३४
५०.	मोऽनुस्वारं व्यञ्जने	१/४/१३	४८
५१.	यः करोति स कर्ता	२/४/१४	९१
५२.	य आधारस्तदधिकरणम्	२/४/११	८८
५३.	यतोऽपैति भयमादत्ते वा तदपादानम्	२/४/८	८६
५४.	यत् क्रियते तत् कर्म	२/४/१३	९०
५५.	यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम्	२/४/९	८७
५६.	येन क्रियते तत् करणम्	२/४/१२	८९
५७.	ले लम्	१/४/१०	४५
५८.	लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः	१/१/२३	२६
५९.	वर्गप्रथमाः पदान्ताः स्वरघोषवत्सु तृतीयान्	१/४/१	३६
६०.	वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरश्छकारं नवा	१/४/३	३८
६१.	वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषाः	१/१/११	१४
६२.	वर्गे तद्वर्गपञ्चमं वा	१/४/१४	४९
६३.	विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु । समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च ॥	२/५/८	१०१
६४.	व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्	१/१/२१	२४
६५.	संख्यापूर्वो द्विगुरिति ज्ञेयः	२/५/६	१००
६६.	समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्	१/२/१	२७
६७.	सिद्धो वर्णसमाम्नायः	१/१/१	३
६८.	स्मै सर्वनाम्नः	२/१/२५	५६
६९.	स्वरोऽवर्णवर्जो नामी	१/१/७	१०

द्वितीयं परिशिष्टम् = गान्धर्वव्याकरणसूत्रसूची

क्र.सं.	सूत्रम्	सन्दर्भः	विषयसंख्या
१.	अनुलोमविलोमक्रमेणैकविंशतिर्मूर्च्छना ग्रामत्रये सप्तसप्तविभागे च	२/२/९	७२
२.	अर्धचन्द्राकृतिरर्धमात्रा	१/१/१७	२०
३.	अलंक्रियते येन सोऽलंकारः	२/३/२०	९४
४.	आमन्त्रिते प्लुतः सम्बुद्धिः	२/१/५	५४
५.	उदात्तसप्तकः पररूपं वर्गान्तरम्	१/४/५	४०
६.	ऋगौ धैवतेन त्रिस्रम्	१/४/९	४४
७.	ऋधौ च सामान्यौ	१/१/१५	१८
८.	ऋमधऋषभाश्चतुरस्रयोगम्	१/४/१२	४७
९.	ऋषभः पञ्चमो यत्र स ग्रामो मध्यमः स्मृतः	२/२/७	७०
१०.	ऋषभाद् गः	२/३/७	८१
११.	एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घौ	२/१/४	५३
१२.	एकमात्रात्मकः स्वरः शब्दः	२/४/१	९५
१३.	एवमव्ययाच्च विभक्तेर्लुक्	२/३/१	७४
१४.	गतीव्रमाभ्यां निषादः	१/४/१०	४५
१५.	गन्यौ चातिसामान्यौ	१/१/१५	१८
१६.	गन्यौ त्यक्त्वा श्रुतिभिरन्येऽप्यपादानादिभेदेन षट् कारकाणि	२/३/११	८५
१७.	ტ गमकं गजकुम्भः	१/१/१९	२२
१८.	गीतमस्वरं परं नयेत्	१/१/२१	२४

८७.	सप्तग्रहणे सप्तकान्तग्रहणम्	१/२/४	३०
८८.	समपाश्चोत्तमा:	१/१/१४	१७
८९.	समान: सवर्णेन द्विस्त्रयोगे पूर्वो व्यक्त: परश्चाप्रकाशम्	१/२/१	२७
९०.	समानश्रुतय: सवर्णा:	१/१/४	६
९१.	समासे लोप्या विभक्तय:	२/४/४	९८
९२.	स हृत्कण्ठशिरोभ्यश्चोत्पन्न:	२/१/९	५८
९३.	सुव्यवस्थासमूहो ग्राम:	२/२/३	६६
९४.	स्थूलवर्जं श्रुति:	१/१/७	१०
९५.	स्वरमात्राभ्यां विभज्यार्थबोधे पदम्	१/१/२०	२३
९६.	स्वरश्चादौ न गीतं सन्धेयम्	१/२/५	३१
९७.	स्वरा: श्रुतीनां परिणामा:	२/१/१४	६३
९८.	स्वराणां सूक्ष्मभावसंयोगी ग्राम:	२/२/२	६५
९९.	स्वराश्च विशेष्या:	२/३/१८	९२
१००.	स्वश्रुति: सप्तको भिन्न: सप्तकान्तर्गतं न कोऽपि लोप: प्रकृति:	१/२/३	२९
१०१.	स्वरोपरिस्थिता विभक्तय:	२/१/२	५१

तृतीयं परिशिष्टम् = तुलनात्मकसूत्रसूची

क्र.सं.	व्याकरणम्	सूत्रम्	सन्दर्भः	कार्यम्	विषयसंख्या
१.	कलापे	तत्र चतुर्दशादौ स्वराः	१/१/२	स्वरसंज्ञा	४
	गान्धर्वे	तत्र च सप्त स्वराः	१/१/२	स्वरसंज्ञा	४
२.	कलापे	दश समानाः	१/१/३	समानसंज्ञा	५
	गान्धर्वे	शुद्धाः समानाः	१/१/३	समानसंज्ञा	५
३.	कलापे	तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ	१/१/४	सवर्णसंज्ञा	६
	गान्धर्वे	समानश्रुतयः सवर्णाः	१/१/४	सवर्णसंज्ञा	६
४.	कलापे	पूर्वो ह्रस्वः	१/१/५	ह्रस्वसंज्ञा	७
	गान्धर्वे	स एकमात्रो ह्रस्वः	१/१/५	ह्रस्वसंज्ञा	७
५.	कलापे	परो दीर्घः	१/१/६	दीर्घसंज्ञा	८
	गान्धर्वे	द्विमात्रो दीर्घः	१/१/६	दीर्घसंज्ञा	८
६.	कलापे	स्वरोऽवर्णवर्जो नामी	१/१/७	नामीसंज्ञा	१०
	गान्धर्वे	स्थूलवर्जं श्रुतिः	१/१/७	श्रुतिसंज्ञा	१०
७.	कलापे	एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि	१/१/८	सन्ध्यक्षरसंज्ञा	११
	गान्धर्वे	विकृता द्वादश स्वराः	१/१/८	विकृतस्वरसंज्ञा	११
८.	कलापे	कादीनि व्यञ्जनानि	१/१/९	व्यञ्जनसंज्ञा	१२
	गान्धर्वे	व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्	१/१/९	व्यञ्जनसंज्ञा	१२
९.	कलापे	ते वर्गाः पञ्च पञ्च पञ्च	१/१/१०	वर्गसंज्ञा	१३
	गान्धर्वे	ते वर्गा उदात्तादिषु सप्त सप्त सप्त	१/१/१०	वर्गसंज्ञा	१३
१०.	कलापे	वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसाश्चाघोषाः	१/१/११	अघोषसंज्ञा	१४

	गान्धर्वे	वर्गाणां प्रथमतृतीयचतुर्था ग्रामाः	१/१/११	ग्रामसंज्ञा	१४
११.	कलापे	घोषवन्तोऽन्ये	१/१/१२	घोषवत्संज्ञा	१५
	गान्धर्वे	ग्रामादन्ये साधारणाः	१/१/१२	साधारणसंज्ञा	१५
१२.	कलापे	अनुनासिका ङञणनमाः	१/१/१३	अनुनासिकसंज्ञा	१६
	गान्धर्वे	प्रचितश्चानुनासिकः	१/१/१३	अनुनासिकसंज्ञा	१६
१३.	कलापे	अन्तस्था यरलवाः	१/१/१४	अन्तस्थासंज्ञा	१७
	गान्धर्वे	समपाश्चोत्तमाः	१/१/१४	उत्तमसंज्ञा	१७
१४.	कलापे	ऊष्माणः शषसहाः	१/१/१५	ऊष्मसंज्ञा	१८
	गान्धर्वे	ऋधौ च सामान्यौ गन्यौ चातिसामान्यौ	१/१/१५ १/१/१५	सामान्यसंज्ञा अतिसामान्यसंज्ञा	१८ १८
१५.	कलापे	अः इति विसर्जनीयः	१/१/१६	विसर्जनीयसंज्ञा	१९
	गान्धर्वे	मात्राज्ञापको दण्डः	१/१/१६	दण्डसंज्ञा	१९
१६.	कलापे	अं इत्यनुस्वारः	१/१/१७	अनुस्वारसंज्ञा	२०
	गान्धर्वे	अर्धचन्द्राकृतिरर्धमात्रा	१/१/१७	अर्धमात्रासंज्ञा	२०
१७.	कलापे	× क इति जिह्वामूलीयः	१/१/१८	जिह्वामूलीयसंज्ञा	२१
	गान्धर्वे	पादमात्रात्मको डमरुः	१/१/१८	डमरुसंज्ञा	२१
१८.	कलापे	० प इत्युपध्मानीयः	१/१/१९	उपध्मानीयसंज्ञा	२२
	गान्धर्वे	० गमकं गजकुम्भः	१/१/१९	गमकसंज्ञा	२२
१९.	कलापे	पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम्	१/१/२०	पदसंज्ञा	२३
	गान्धर्वे	१. स्वरमात्राभ्यां विभज्यार्थबोधे पदम् २. एकमात्रात्मकस्वरः शब्दम् ३. द्वौ बहवश्च पदम्	१/१/२० २/४/१ २/४/२	पदसंज्ञा शब्दसंज्ञा पदसंज्ञा	२३ ९५ ९६

२०.	कलापे	व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्	१/१/२१	परवर्णनयनपरिभाषा	२४
	गान्धर्वे	गीतमस्वरं पर वर्णं नयेत्	१/१/२१	परनयन परिभाषा	२४
२१.	कलापे	अनतिक्रमयन् विश्लेषयेत्	१/१/२२	परिभाषा	२५
	गान्धर्वे	प्रयोजनाद् युक्ताक्षरं मोक्षयेत्	१/१/२२	परिभाषा	२५
२२.	कलापे	लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः	१/१/२३	शब्दसिद्धि-परिभाषा	२६
	गान्धर्वे	यस्मिन् देशे यथा शिष्टैर्गीतं विज्ञस्तथाचरेत्	१/१/२३	गीतविषयकपरिभाषा	२६
२३.	कलापे	समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्	१/२/१	दीर्घविधिः	२७
	गान्धर्वे	समानः सवर्णेन द्विस्त्रयोगे पूर्वो व्यक्तः परश्चाप्रकाशम्	१/२/१	व्यक्तविधिः	२७
२४.	कलापे	इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः	१/२/२	यकारादेशः	२८
	गान्धर्वे	भिन्नश्रुतिरसवर्णेन पूर्वोऽव्यक्तो न च परलोप्यः	१/२/२	अव्यक्तविधिः	२८
२५	कलापे	अयादीनां यवलोपः पदान्ते नवा लोपे तु प्रकृतिः	१/२/३	यकार-वकारलोपः	२९
	गान्धर्वे	स्वश्रुतिः सप्तको भिन्नः सप्तकान्तर्गतं न कोऽपि लोपः प्रकृतिः	१/२/३	प्रकृतिभावः	२९
२६.	कलापे	एदोत्परः पदान्तो लोपमकारः	१/२/४	अकारलोपः	३०
	गान्धर्वे	सप्तग्रहणे सप्तकान्तग्रहणम्	१/२/४	सप्तकान्त-ग्रहणविधिः	३०
२७.	कलापे	न व्यञ्जने स्वराः सन्धेयाः	१/२/५	स्वरसन्ध्यभावः	३१
	गान्धर्वे	स्वरश्चादौ न गीतं सन्धेयम्	१/२/५	स्वरसन्ध्यभावः	३१
२८.	कलापे	ओदन्ता अ इ उ आ निपाताः स्वरे प्रकृत्या	१/३/१	प्रकृतिभावः	३२
	गान्धर्वे	तीव्रमध्यमो निपातश्चासम्मिलितः प्रकृत्या	१/३/१	प्रकृतिभावः	३२
२९.	कलापे	द्विवचनमनौ	१/३/२	प्रकृतिभावः	३३
	गान्धर्वे	सं द्वाभ्यामुच्चारितौ	१/३/२	,,	३३
३०.	कलापे	बहुवचनममी	१/३/३	प्रकृतिभावः	३४

	गान्धर्वे	सं बहुभिस्तथा	१/३/३	प्रकृतिभाव:	३४
३१.	कलापे	अनुपदिष्टाश्च (प्लुता:)	१/३/४	प्रकृतिभाव:	३५
	गान्धर्वे	त्रिमात्र: प्लुत:	१/१/९	प्लुतसंज्ञा	९
		त्रिमात्रायां दूराह्वाने गाने च प्लुता ज्ञेया:	१/३/४	प्रकृतिभाव:	३५
३२.	कलापे	वर्गप्रथमा: पदान्ता: स्वरघोषवत्सु तृतीयान्	१/४/१	तृतीयवर्णादेश:	३६
	गान्धर्वे	वर्गप्रथमस्तृतीयेन	१/४/१	सन्धिभाव:	३६
३३.	कलापे	पञ्चमे पञ्चमांस्तृतीयान् नवा	१/४/२	पञ्चमवर्णादेश:	३७
	गान्धर्वे	प्रथमस्तृतीयपञ्चमाभ्यां त्रिस्त्रयोगे	१/४/२	सन्धिभाव:	३७
३४.	कलापे	वर्गप्रथमेभ्य: शकार: स्वरयव-रपरश्छकारं नवा	१/४/३	छकारादेश:	३८
	गान्धर्वे	वर्गद्वितीयपञ्चमसप्तमा:	१/४/३	सन्धिभाव:	३८
३५.	कलापे	तेभ्य एव हकार: पूर्वचतुर्थं न वा	१/४/४	पूर्वचतुर्थवर्णादेश:	३९
	गान्धर्वे	वर्गप्रथमो मध्यमधैवताभ्याम्	१/४/४	सन्धिभाव:	३९
३६.	कलापे	पररूपं तकारो लचटवर्गेषु	१/४/५	पररूपादेश:	४०
	गान्धर्वे	उदात्तसप्तक: पररूपं वर्गान्तरम्	१/४/५	पररूपादेश:	४०
३७.	कलापे	ङणना ह्रस्वोपधा: स्वरे द्वि:	१/४/६	द्वित्वविधि:	४१
	गान्धर्वे	मध्यमे सप्तैकस्थास्त्रिस्त्रा: सप्तकान्तरेण द्वि:	१/४/६	द्वित्वविधि:	४१
३८.	कलापे	नोऽन्तश्चछयो: शकारमनुस्वारपूर्वम्	१/४/७	शकारादेश:	४२
	गान्धर्वे	म नि ऋश्च मग्रामपूर्वम्	१/४/७	सन्धिभाव:	४२
३९.	कलापे	टठयो: षकारम्	१/४/८	षकारादेश:	४३
	गान्धर्वे	गे गधाभ्यां निषादस्त्रिस्त्रयोगम्	१/४/८	त्रिस्त्रयोग:	४३
४०.	कलापे	तथयो: सकारम्	१/४/९	सकारादेश:	४४
	गान्धर्वे	△ △ △ ऋ गौ धैवतेन त्रिस्त्रम्	१/४/९	त्रिस्त्रयोग:	४४
४१.	कलापे	ले लम्	१/४/१०	लकारादेश:	४५
	गान्धर्वे	गतीव्रमाभ्यां निषाद:	१/४/१०	सन्धिभाव:	४५
४२.	कलापे	जझञशकारेषु ञकारम्	१/४/११	ञकारादेश:	४६
	गान्धर्वे	षगपषड्जाश्चतुरस्त्रयोगम्	१/४/११	चतुरस्त्रयोग:	४६
४३.	कलापे	डढणपरस्तु णकारम्	१/४/१२	णकारादेश:	४७
	गान्धर्वे	ऋमधऋषभाश्चतुरस्त्रयोगम्	१/४/१२	चतुरस्त्रयोग:	४७

४४.	कलापे	मोऽनुस्वारं व्यञ्जने	१/४/१३	अनुस्वारादेशः	४८
	गान्धर्वे	प्रयोजनमेषां यन्त्रे	१/४/१३	यन्त्रसाधनम्	४८
४५.	कलापे	वर्गे तद्वर्गपञ्चमं वा	१/४/१४	वर्गपञ्चमादेशः	४९
	गान्धर्वे	श्रुत्यादेरभेदं नित्यवर्गौ वर्गान्तरेण	१/४/१४	नित्यसंयोगः	४९
४६.	कलापे	धातुविभक्तिवर्जमर्थवल्लिङ्गम्	२/१/१	लिङ्गसञ्ज्ञा	५०
	गान्धर्वे	मात्रावर्जस्वरो नाम	२/१/१	नामसञ्ज्ञा	५०
४७.	कलापे	तस्मात् परा विभक्तयः	२/१/२	विभक्तिविधानम्	५१
	गान्धर्वे	स्वरोपरिस्थिता विभक्तयः	२/१/२	विभक्तिसंज्ञा	५१
४८.	कलापे	पञ्चादौ घुट्	२/१/३	घुट्सञ्ज्ञा	५२
	गान्धर्वे	त्रीण्यादीनि मुख्यानि	२/१/३	मुख्यमात्रासंज्ञा	५२
४९.	कलापे	जश्शसौ नपुंसके	२/१/४	घुट्सञ्ज्ञा	५३
	गान्धर्वे	एकद्वयोर्ह्रस्वदीर्घे	२/१/४	ह्रस्वदीर्घसंज्ञे	५३
५०.	कलापे	आमन्त्रिते सिः सम्बुद्धिः	२/१/५	सम्बुद्धिसञ्ज्ञा	५४
	गान्धर्वे	आमन्त्रिते प्लुतः सम्बुद्धिः	२/१/५	,, ,,	५४
५१.	कलापे	आगम उदनुबन्धः स्वरादन्त्यात् परः	२/१/६	आगमव्यवस्था	५५
	गान्धर्वे	श्रुतिस्वरयोरनुपघात्यलंकार-श्चागमः	२/१/६	आगमसंज्ञा	५५
५२.	कलापे	स्मै सर्वनाम्नः	२/१/२५	स्मै-आदेशः	५६
	गान्धर्वे	ग्रामाश्रिताः सर्वनामानः	२/१/७	सर्वनामसंज्ञा	५६
५३.	कलापे	नान्यत् सार्वनामिकम्	२/१/३३	सर्वनामकार्यनिषेधः	५७
	गान्धर्वे	तेषु भ्रष्टेषु न सार्वनामिकम्	२/१/८	सर्वनामकार्यनिषेधः	५७
५४.	कलापे	अव्ययाच्च	२/४/४	विभक्तिलुक्	७४
	गान्धर्वे	एवमव्ययाच्च विभक्तेर्लुक्	२/३/१	विभक्तिलुक्	७४
५५.	कलापे	शश्वत् ----कृतोऽव्ययाः	—	अव्ययाः	७५
	गान्धर्वे	मनुष्यादिभिस्सङ्गीताः साधारणाश्चाव्ययाः	२/३/१	अव्ययसंज्ञा	७५
५६.	कलापे	प्रपरापसमन्ववनिर्दुरभिव्यधि-सूदतिनिप्रतिपर्यपयः। उप आङिति विंशतिरेष सखे उपसर्गविधिः कथितः कविना ॥	२/४/४	उपसर्गगणना	७६
	गान्धर्वे	सङ्गीते द्वाविंशतिरुपसर्गाः	२/३/२	उपसर्गगणना	७६

५७.	कलापे	यतोऽपैति भयमादत्ते वा तदपादानम्	२/४/८	अपादानसंज्ञा	८६
	गान्धर्वे	यस्मात् श्रुतिं विश्लेषयति यदर्थेन तदपादानम्	२/३/१२	अपादानसंज्ञा	८६
५८.	कलापे	यस्मै दित्सा रोचते धारयते वा तत् सम्प्रदानम्	२/४/१०	सम्प्रदानसंज्ञा	८७
	गान्धर्वे	यस्मै श्रुतिं ददाति यदर्थेन तत् सम्प्रदानम्	२/३/१३	सम्प्रदानसंज्ञा	८७
५९.	कलापे	य आधारस्तदधिकरणम्	२/४/११	अधिकरणसंज्ञा	८८
	गान्धर्वे	यस्मिन्नस्ति तदधिकरणम्	२/३/१४	अधिकरणसंज्ञा	८८
६०.	कलापे	येन क्रियते तत् करणम्	२/४/१२	करणसंज्ञा	८९
	गान्धर्वे	येन दीप्यते तत् करणम्	२/३/१५	करणसंज्ञा	८९
६१.	कलापे	यत् क्रियते तत् कर्म	२/४/१३	कर्मसंज्ञा	९०
	गान्धर्वे	यद् विभागरूपं क्रियते तत् कर्म	२/३/१६	कर्मसंज्ञा	९०
६२.	कलापे	य: करोति स कर्ता	२/४/१४	कर्तृसंज्ञा	९१
	गान्धर्वे	य: करोति स कर्ता	२/३/१७	कर्तृसंज्ञा	९१
६३.	कलापे	नाम्नां समासो युक्तार्थ:	२/५/१	समाससंज्ञा	९७
	गान्धर्वे	मात्रादीनां समासो युक्तार्थ:	२/४/३	समाससंज्ञा	९७
६४.	कलापे	तत्स्था लोप्या विभक्तय:	२/५/२	विभक्तिलोप:	९८
	गान्धर्वे	समासे लोप्या विभक्तय:	२/४/४	विभक्तिलोप:	९८
६५.	कलापे	पदे तुल्याधिकरणे विज्ञेय: कर्मधारय:	२/५/५	कर्मधारयसंज्ञा	९९
	गान्धर्वे	यन्त्रकण्ठादौ मात्राविशेषणयोर्योगे कतीनां व्यक्तो विज्ञेय: कर्मधारय:	२/४/५	कर्मधारयसंज्ञा	९९
६६.	कलापे	संख्यापूर्वो द्विगुरिति ज्ञेय:	२/५/६	द्विगुसंज्ञा	१००
	गान्धर्वे	संख्या कतिपदे स्थित्वा नाना-तालरागाणां यो व्यक्त: स द्विगुरिति ज्ञेय:	२/४/६	द्विगुसंज्ञा	१००

६७.	कलापे	विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु । समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च ॥	२/५/८	तत्पुरुषसंज्ञा	१०१
	गान्धर्वे	प्राग् द्वितीयादिमात्रायुक्तानि परपदेनैकस्थेन समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च	२/४/७	तत्पुरुषसंज्ञा	१०१
६८.	कलापे	द्वन्द्वः समुच्चयो नाम्नोर्बहूनां वापि यो भवेत्	२/५/११	द्वन्द्वसंज्ञा	१०२
	गान्धर्वे	द्वन्द्वः समुच्चयः प्रथमैकवचन-युक्तयोः स्वप्रधानयोश्च द्वयो-र्बहूनां वापि यो भवेत् ।	२/४/८	द्वन्द्वसंज्ञा	१०२
६९.	कलापे	पूर्वं वाच्यं भवेद् यस्य सोऽव्ययी-भाव इष्यते	२/५/१४	अव्ययीभावसंज्ञा	१०३
	गान्धर्वे	तालमात्राहीनाः कतिपयस्वराः श्यामपक्ष्यादेर्ध्वनिना युक्ता यद्गीतध्वनिर्व्यक्तः सोऽव्ययीभाव इष्यते	२/४/९	अव्ययीभावसंज्ञा	१०३

●

चतुर्थं परिशिष्टम् = कलापगान्धर्वव्याकरणयोरतिरिक्तवचनानि

क्र.सं.	वचनानि	विषयसंख्या
	कलापव्याकरणस्य वचनानि	
१.	अकाराहिदकारान्ता वर्णमाला प्रकीर्तिता ।	३
२.	दूराह्वाने गाने रोदने च प्लुतास्ते लोकतः सिद्धाः ।	३५
३.	देवदेवं प्रणम्यादौ सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् । कातन्त्रस्य प्रवक्ष्यामि व्याख्यानं शार्ववार्मिकम् ॥	१
४.	शङ्करस्य मुखाद् वाक्यं श्रुत्वा चैव षडाननः । लिलेख शिखिनः पुच्छे कलापमिति कथ्यते ॥	१
५.	सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥	७४
	सिद्धो वर्णसमाम्नायः (१/१/१) ।	३
	गान्धर्वव्याकरणस्य वचनानि	
१.	अथोच्यते ज्ञापनार्थं मध्यमग्राममूर्च्छना । माद् गान्तं गाच्चर्षभान्तम् ऋषभात् सान्तमिष्यते । सान्नयन्तं नेर्धैवतान्तं धात् पान्तं पान्मान्तं तथेति ॥	७०
२.	अनुलोमविलोमक्रमेणैकविंशतिर्मूर्च्छनाः ग्रामत्रये सप्तसप्तविभागे च (२/२/९) ।	७२
३.	अर्धकोमलधो गश्च कोमलो निश्च मध्यमः । एवं ग्रामो भवेद् यत्र स ग्रामो मध्यमः स्मृतः ॥	७०
४.	अलंक्रियते येन सोऽलङ्कारः (२/३/२०) ।	९४
५.	आकाशाज्जायते शब्दो वायुः शब्दप्रकाशकः ।	३
६.	आदिद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्तस्वपि ता मताः । षड्जान्निषादपर्यन्तं निषादाद् धैवतान्तकम् ॥	६९
७.	ऋषभः पञ्चमो यत्र स ग्रामो मध्यमः स्मृतः (२/२/७) ।	७०
८.	ऋषभाद् गः (२/३/७) ।	८१
९.	ऋमयोः श्रुतिमेकैकां गान्धारश्चेत् समाश्रितः । पश्रुतिं धो निषादस्तु श्रुतिं सश्रुतिमाश्रितः । गान्धारग्राममाचष्टे तदा तं नारदो मुनिः ॥	७१
१०.	क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । मूर्च्छनाऽप्युच्यते ग्रामत्रये ताः सप्त सप्त च ।	

	स्थानत्रयसमायोगे मूर्च्छनारम्भसम्भवः ॥	७२
११.	क्षिती रक्ता च सन्दीपन्यालापन्यपि पञ्चमे । मदन्ती रोहिणी रम्येत्येतास्तिस्रस्तु धैवते । उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे कथिताः बुधैः ॥	७६
१२.	गन्यौ त्यक्त्वा श्रुतिभिरन्येऽप्यपादानादिभेदेन षट् कारकाणि (२/३/११) ।	८५
१३.	गान्धाराद् ऋषभान्तं तु ऋषभात् सान्तमिष्यते । सान्यन्तं नेर्धैवतान्तं धैवतात् पान्तमेव च ॥	७१
१४.	गीते वाद्ये तथा नृत्ये त्रैविध्ये सङ्गतेऽपि च । साधारणं नरादीनां यत्र युक्तं तदव्ययम् ॥	७५
१५.	ग्रामः स्वरसमूहानां मूर्च्छनादेः समाश्रयः ।	६७
१६.	चतस्रः पञ्चमे षड्जे मध्यमे च तथा मताः । ऋषभे धैवते तिस्रो द्वे गान्धारनिषादयोः ॥	६९
१७.	तारवीणाधरैश्चैव सुव्यक्तो जायते किल । कफादिदुष्टकण्ठे च श्रुतिव्यक्तो न जायते ॥	६१
१८.	तीव्रा कुमुद्वती मन्दाच्छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः । दयावती व्यञ्जली च रतिका चर्षभे स्थिताः ॥	७६
१९.	त्रयो ग्रामा निगदिता घोरो मन्द्रश्च तारकः । षड्जमध्यमगान्धारग्रामास्त्रितयसंज्ञिताः ॥	६८
२०.	धैवतात् पञ्चमान्तं तु पञ्चमान्मध्यमान्तकम् । गान्धारान्तं मध्यमात् स्याद् गान्धाराद् ऋषभान्तकम् ॥	६९
२१.	धैवतान्निः (२/३/१०) ।	८४
२२.	न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वरः । न नादेन विना रागस्तस्मान्नादात्मकं जगत् ॥	५८
२३.	नराणां तु मुखं यद्वद् दर्पणेन विकासितम् । प्रतिभान्ति स्वरास्तद्वद् श्रुतिभिः सह योगतः ॥	६२
२४.	नादद्वाविंशतिभेदाः श्रुतयः (२/१/१२) ।	६१
२५.	नादद्वाविंशतिर्भेदा श्रुतयः परिकीर्तिताः । क्रमादुच्चोच्चतायुक्ता वीणया च सुलक्षिताः ॥	६१
२६.	नादाच्च श्रुतयः (२/१/१०) ।	५९
२७.	नादाच्च श्रुतयो जातास्ताभ्यः षड्जादयः स्वराः । तेभ्यः स्युर्मूर्च्छनास्ताभ्यस्तानाख्याः ग्रामसम्भवाः ॥	५९
२८.	नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद् वचः । वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥	१

२९.	नाभिमध्ये स्थितो घोरो मन्द्रको हृदयस्थितः ।	
	शिरोगतस्तथा तारस्त्रयो ग्रामा इमे स्मृताः ।।	६८
३०.	नियताः श्रुतयः सर्वाः स्वरगुणप्रकाशिकाः ।	
	तस्मात् स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतयः श्रुतिवेदिभिः ।।	६०
३१.	पञ्चमात् तीव्रमध्यमः (२/३/८) ।	८२
३२.	पञ्चमाद् धः (२/३/९) ।	८३
३३.	पञ्चमान्मध्यमान्तं तु मध्यमाद् गान्तकं तथा ।	
	एवं क्रमेण जानीयाद् गान्धारग्राममूर्च्छनाम् ।।	७१
३४.	प निर्विकारी यद्ग्रामे तद्ग्रामः षड्जः स्मृतः (२/२/६) ।	६९
३५.	भूषणानि विशेषणानि (२/३/१९) ।	९३
३६.	यः पञ्चमो भवेद् यत्र स ग्रामस्तृतीयः स्मृतः (२/२/८) ।	७१
३७.	यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूता वसन्ति हि ।	
	सर्वलोकेषु स ग्रामस्तथा नित्यं व्यस्थितः ।।	६६
३८.	यमाश्रित्य षट् स्वरा व्यक्ताः स ग्रामः (२/२/१) ।	६४
३९.	यस्मिन् स्वरे ये चोक्तास्ते शुद्धाः (२/३/३) ।	७७
४०.	रौद्री क्रोधी च गान्धारे वज्रिकाथ प्रसारिणी ।	
	प्रीतिश्च मार्जनी चैव श्रुतयो मध्यमे स्थिताः ।।	७६
४१.	लिङ्गान्यत्वे विसन्धौ च संयुक्ताक्षरमोक्षणे ।	
	ह्रस्वदीर्घव्यतिक्रमे गीते दोषो न विद्यते ।।	२५
४२.	विभागेन दातृगृहीत्रोः प्रकृतिनाशात् तदुभौ (२/३/५) ।	७९
४३.	शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ।	
	कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ।।	३
४४.	शुद्धानां विभागे विकृता द्वादश (२/३/४) ।	७८
४५.	श्रवणग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिः (२/१/१) ।	६०
४६.	श्रवणग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।	
	सैव द्वाविंशतिर्ज्ञेया स्वरक्रमविभागतः ।।	६०
४७.	श्रुतिभिः स्वराः प्रतिभान्ति (२/१/१३) ।	६२
४८.	श्रुतिस्वरमूर्च्छनानामाश्रयो ग्रामः (२/२/४) ।	६७
४९.	श्रुतीनां च स्वराः सर्वे परिणामगताः स्मृताः ।	
	परिणामे यथा क्षीरं दधिरूपेण सर्वदा ।।	६३

५०.	षड्जर्षभगान्धारा मध्यमः पञ्चमस्तथा । धैवतश्च निषादश्च स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ॥	४
५१.	षड्जश्च गान्धारश्च मध्यमश्चैव ते क्रमात् । त्रयो ग्रामा निरूप्यन्ते भरतादिमहर्षिभिः ॥	१४
५२.	षड्जादयः स्वराः सर्वे दीप्यन्ते श्रुतिभिः सह । अन्धकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादयः ॥	६२
५३.	षड्जादिनिषादान्ता स्वरमाला प्रकीर्तिता ।	४
५४.	षड्जाद् ऋः कोमलः (२/३/६) ।	८०
५५.	षमगाश्च त्रयो ग्रामाः (२/२/५) ।	६८
५६.	सञ्ज्ञाभिः श्रुतिभिश्च स्वरो ग्रामं प्रतिग्रामं सप्त सप्त मूर्च्छनाः (२/२/१०) ।	७३
५७.	सञ्ज्ञाभिः श्रुतिभिश्चैव स्वरो ग्रामत्वमागतः । सप्तैव मूर्च्छनाश्चात्र प्रतिग्रामं प्रकीर्तिताः ॥	७३
५८.	स हृत्कण्ठशिरोभ्यश्चोत्पन्नः (२/१/९) ।	५८
५९.	सुव्यवस्थासमूहो ग्रामः (२/२/३) ।	६६
६०.	सृष्ट्यादौ सूयते या स्मरहरविबुधान् सार्धमेतैर्जगद्भि- र्यस्यामन्ते प्रलीना विगतकलुषकैर्योगिभिर्या प्रराध्या । सत्तेति ब्रह्म नित्यं निरतिशयसुखं स्वप्रकाशस्वरूपं तामाद्यां नादशक्तिं सकलविभवदां मुक्तये सम्भजामि ॥	१
६१.	स्वराः श्रुतीनां परिणामाः (२/१/१४)	६३
६२.	स्वराणां मूर्च्छनानां च श्रुतीनां च विशेषतः । एतेषामाश्रयो ग्रामो विद्वद्भिः परिकीर्तितः ॥	६७
६३.	स्वराणां सूक्ष्मभावसंयोगी ग्रामः (२/२/२) ।	६५
६४.	स्वराश्च विशेष्याः (२/३/१८) ।	९२
६५.	स्वरूपमात्रश्रवणान्नादोऽनुरणनात्मकः । श्रुतिरित्युच्यते भेदास्तस्य द्वाविंशतिर्मताः ॥	१०
६६.	स्वोपान्ते श्रुतिसंस्थेऽस्मिन् मध्यमग्राम इष्यते । यद् वा धस्त्रिश्रुतिः षड्जे मध्यमे तु चतुःश्रुतिः । तदा तु मध्यमग्रामो विज्ञेयो मुनिसम्मतः ॥	७०

	ग्रन्थकारादिभिष्टिप्पणीषु प्रस्तुतानि वचनानि	
१.	तथा च रत्नाकरे—पञ्चमश्चेन्निर्विकारी षड्जग्रामः स उच्यते ।	६९
२.	तथा च दर्पणे— षड्जग्रामः पञ्चमे तु चतुर्थश्रुतिसंस्थिते ।	६९
३.	विद्वत्कुलपङ्कजसवित्रा मत्पूर्वपुरुषमहामहोपाध्यायश्रीश्रीमत्पुरुषोत्तम-विद्यावागीशभट्टाचार्येण विरचितप्रयोगरत्नमालाभिधेयव्याकरणस्था-व्ययप्रकरणादुद्धृतमेतत् ।	७५
४.	ग्रन्थकार ने यह विषय अपने पूर्वज महामहोपाध्याय पुरुषोत्तम-विद्यावागीश द्वारा रचित प्रयोगरत्नमाला व्याकरण के अव्यय-प्रकरण से लिया है ।	७५
५.	नृत्येऽपि नरादीनां साधारणध्वनेरसंयोगो भवतीति यदनेन प्रतिपादितं तत् स्पष्टार्थमिति भावः ।	७४
६.	नृत्य में भी मनुष्य आदि की साधारणध्वनि के संयोग का जो अभाव यहाँ बताया गया है, वह स्पष्टता के उद्देश्य से समझना चाहिए ।	७४
७.	कलापोक्तविंशत्युपसर्गैः सह गान्धर्वोक्तद्वाविंशत्युपसर्गसमन्वये संख्यागतविरोधापत्तिमाशङ्क्याह—अत्र तु द्वाविंशतिरुपसर्गा इति । यथा च पाणिनिमते 'निस्-दुस्' इत्येतावेवोपसर्गौ । महाभाष्यवामनवृत्तिमनोरमाहरदत्तादिटीकामते तु 'निर्-दुर्' इत्येतावपि रेफान्तौ पृथग् उपसर्गौ स्तः—"निरः कुषः" (अ० ६/२/४६) इति पाणिनिसूत्रात् ' सुदुरोरधिकरणे" इति भाष्यलिखनाच्च ।	७६
	ग्रन्थकारद्वारा ग्रन्थान्ते प्रस्तुतोऽतिरिक्तविषयः	
१.	W. GARDINER कृत MUSIC OF NATURE ग्रन्थ की चर्चा	१०४

पञ्चमं परिशिष्टम् =महत्त्वपूर्णविषयेषूपयोगिनीनां टिप्पणीनां योजना

क्र.सं.	टिप्पणीविषयाः	पृ.सं.
१.	कलापगान्धर्वनामादिपरिचयः ।	२७-२८
२.	व्याकरणशास्त्रीय-नादपरिचयः ।	२९-३०
३.	अष्टादश विद्याः, गान्धर्ववेदोऽन्यतमा विद्या ।	३१
४.	वर्णसमाम्नायपरिचयः ।	३२-३९
५.	स्वरपदार्थादिविवेचना ।	४०-४१
६.	समानसञ्ज्ञापरिचयः ऋग्वेदप्रातिशाख्यादौ ।	४३
७.	सवर्णसंज्ञापरिचयो हैमादिव्याकरणेषु ।	४४-४५
८.	ह्रस्वसंज्ञापरिचयो लोकव्यवहाराद्यपेक्षया ।	४६-४७
९.	दीर्घसंज्ञापरिचयः पूर्वाचार्यानुसारेण ।	४८-५०
१०.	प्लुतसञ्ज्ञापरिचयो द्वित्रिमात्रापेक्षया ।	५०-५१
११.	नामिश्रुतिसंज्ञापरिचयो ध्वन्यपेक्षया ।	५२-५३
१२.	सन्ध्यक्षर–विकृतस्वरसंज्ञापरिचयः ।	५४
१३.	व्यञ्जनसञ्ज्ञापरिचय आदिक्षान्तवर्णापेक्षया ।	५५-५६
१४.	वर्गसंज्ञापरिचयो वर्णस्वरापेक्षया ।	५७-५८
१५.	अघोष—ग्रामसंज्ञापरिचयः ।	५९-६०
१६.	घोष–साधारणस्वरसंज्ञापरिचयः ।	६०-६१
१७.	अनुनासिकसंज्ञापरिचयः पूर्वाचार्यप्रयोगापेक्षया ।	६१-६२
१८.	अन्तस्था—उत्तमस्वरसंज्ञापरिचयः ।	६३
१९.	ऊष्मसंज्ञापरिचयः प्रातिशाख्यापेक्षया ।	६४-६५
२०.	विसर्जनीय—दण्डसंज्ञापरिचयो लिपिज्ञानापेक्षया ।	६६
२१.	अनुस्वार—अर्धमात्रासंज्ञापरिचयः ।	६७
२२.	जिह्वामूलीय—डमरुसंज्ञापरिचयः शिक्षाद्यपेक्षया ।	६८-६९
२३.	उपध्मानीय—गमकसंज्ञापरिचयो लिपिज्ञानापेक्षया ।	६९-७०
२४.	पदसंज्ञापरिचयो वाक्यपदीयाद्यपेक्षया ।	७१-७३
२५.	परवर्णनयनम्, परस्वरनयनम् ।	७४
२६.	संघटितवर्णानां पृथक्करणम् ।	७५
२७.	व्याकरणे लोकव्यवहारस्य प्रामाण्यम् ।	७६-७८
२८.	दीर्घसन्धि–स्वराभिव्यक्तिपरिचयः ।	८०-८१
२९.	यकारादेश – पूर्वस्वरानभिव्यक्तिः ।	८१-८२
३०.	यववर्णलोपः, स्वरलोपाभावश्च ।	८३

षष्ठं परिशिष्टम् = (१) कातन्त्रपरिचयविषयकं गीतम्

शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।
सिद्धिसोपानरूपा सदा सेव्यताम् ।।

१. ब्रह्मणाऽऽविष्कृता संस्कृतेन्द्रादिभिः,
सूत्रिता या शुभा शर्ववर्मादिभिः ।
दाक्षिपुत्रेण चन्द्रामरस्वामिभिः,
प्रापिता या समृद्धिं सदाऽधीयताम् ।।१।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

२. बोधिता वर्णसूत्रैः स्वयं शम्भुना,
दाक्षिपुत्राय ढक्कानिनादेन या ।
वर्धिताऽज्झल्खरिक्शर्यणिण्णादिभिः,
शब्दसारस्य संग्राहकैर्गृह्यताम् ।।२।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।

३. सूत्रभाष्यानुवादैश्च खिलवार्त्तिकैः,
कौमुदीफक्किकान्यासटीकादिभिः ।
देशदेशान्तरे भाति या वृत्तिभि-
स्तत्र सद्भिः स्वतः श्रेयसे स्थीयताम् ।।३।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

४. वाङ्मलस्यौषधिः सम्मता सा बुधै-
र्मोक्षमाणस्य स्यात् सत्कृता पद्धतिः ।
धारिता देवदेवारिभिर्मानवै-
रङ्गनाबालबालादिभिर्धार्यताम् ।।४।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

५. आदिमाहेशमाहेन्द्रधारार्चिता,
पञ्चधा शब्दविद्याऽष्टधा विश्रुता ।
पाणिनेः पूर्वपरवर्तिभिः शाब्दिकै-
र्दर्शितस्तत्र पन्थास्ततः प्रीयताम् ।।५।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

६. आपिशलिशब्दराशिं मुनिः पाणिनिः,
सङ्गतं मन्यते शिष्टयोगप्रियः ।
शर्ववर्मा त्रिकं काशकृत्स्नीयकं
स्वोपजीव्यं सिषेवे समाश्रीयताम् ।।६।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

७. पाणिनेः प्रक्रिया दृश्यते दुष्करा,
शब्दसिद्ध्यर्थमाश्रीयते याऽधुना ।
सूत्रकार्यादिवैचित्र्यनिर्बन्धतः,
शिष्टबोधाय धीमद्भिराधीयताम् ।।७।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

८. शर्ववर्मप्रणीता कलापाभिधा,
या च कातन्त्रनाम्नाऽप्यलं विश्रुता ।
शम्भुना कार्त्तिकेयेन सम्मानिता
शब्दरूपाऽऽशुबोधाय साऽऽराध्यताम् ।।८।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

९. श्रूयते आन्ध्रदेशीयशासनरतः,
सातवाहननृपो भूतले विश्रुतः ।
एकदाऽऽक्रीडमानो यदासीज्जले
तावदेका प्रिया भाषते श्रूयताम् ।।९।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१०. या बभूवातिश्रान्ताऽम्बुप्रक्षेपतः,
शब्दविद्याऽवबोधे बुधैर्वन्दिता ।
सम्मता या सतां श्रेयसा संस्कृता,
मोदकं देहि मह्यम् प्रभो ! प्रीयताम् ।।१०।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

११. तत्र सन्धिप्रभेदं न जानन् नृपः,
मोदके गुणकृतं मा-उदकशब्दयोः ।
मोदकानर्पयन् प्रीतिमादर्शयन्,
संबभूवोपहासार्हं आध्यायताम् ।।११।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१२. मूर्खतामाक्षिपन्ती तु राज्ञी तदा,
मन्दहासेन चक्रे नृपं चिन्तितम् ।
नैव विद्धः स लेभे क्वचिन्निर्वृतिं
शब्दविद्यारहस्यं यतो ज्ञायताम् ।।१२।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१३. शाब्दिकः शर्ववर्मा प्रतिज्ञातवान्,
षट्सु मासेषु विद्यां प्रदास्यामि ते ।
इष्टदेवो रजन्यां समाराधित-
स्तेन सूत्रं तदीयं मया प्राप्यताम् ।।१३।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१४. कार्त्तिकेयेन सूत्रं प्रदत्तं प्रियं
शर्ववर्माभिधाचार्यवर्याय वै ।
वाक्समाम्नायतत्त्वस्य संबोधकं
लोकसिद्धस्य सर्वं बुधैर्बुध्यताम् ।।१४।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१५. मोदमासाद्य सूत्रस्य संप्राप्तितो
मोदकं देहि-वाक्यं तदा संस्मरन् ।
पञ्चपादेषु सन्धिं विधायादितः
षट्सु नाम्नां चतुष्कं च संधार्यताम् ।।१५।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१६. उत्तरार्धत्रिके कारकं षड्विधं
षड्विधो वै समासस्ततो दृश्यते ।
वर्णितस्तद्धितो दाक्षिणात्यादृतः
सन्धिनामान्तगो मोदके स्तूयताम् ।।१६।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१७. देहि—त्याद्यन्तरूपं पदं भाषितं
मोदकानन्तरं तन्निबद्धं ततः ।
अष्टपादेषु गुणवृद्ध्यनिट्लोपतः
शर्ववर्मप्रणीतं त्रिकं कीर्त्यताम् ।।१७।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१८. शब्दराशिस्तु रूढः कृदन्ताभिधः
शर्ववर्मा न जग्रन्थ तं सूत्रतः ।
निर्ममेऽभेदबुद्ध्या तु कात्यायनो
वन्दनीयं कलापं बुधैर्वन्द्यताम् ।।१८।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

१९. लौकिकं देवनन्दिप्रणीतं पुरा,
जैनवन्द्यं तु जैनेन्द्रसंज्ञं शुभम् ।
एकशेषव्यवस्थाविहीनं हि तत्
सारसर्वस्वसंबोधकं मन्यताम् ।।१९।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

२०. हेमवद् हेमचन्द्रो बुधैः सम्मतः,
जैनशासनरताचार्यवृन्दार्चितः ।
सिद्धशब्दश्रिया मण्डिता तत्कृति-
गौरवग्रन्थरूपेण सा गीयताम् ।।२०।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

२१. चन्द्रवच्चन्द्रगोमी सदा राजते,
बौद्धविद्वन्महाव्योम्नि परशाब्दिकः ।
भाष्यभूगन्धमाघ्राय चान्द्रं कृतं
तेन तत् साम्प्रतं सत्पथे नीयताम् ।।२१।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

२२. राजते राजधान्यां तु न्यासः शुभः
कुन्दकुन्दाश्रितो भारतीभासितः ।
तत्र दिग्वस्त्रजैनीयशासनरतो
विद्ययानन्दमाप्तो मुनिर्नन्द्यताम् ।।२२।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।।

२३. शब्दविद्यानुरागः समुज्जृम्भते,
यस्य कातन्त्रसूत्रीयसंक्षेपतः ।
दानमानादिना तस्य संप्रीतये,
साधुभिस्तत्समृद्धिः सदा चिन्त्यताम् ।।२३।
शब्दविद्याऽनुशासनपरा सेव्यताम् ।
सिद्धिसोपानरूपा सदा सेव्यताम् ।।

(२) कातन्त्र–सङ्गीतविद्याविषयकं गीतम्

श्रेयसे शब्दविद्येव सौम्यश्रिये ।
सेवनीयेह सङ्गीतविद्या सखे ! ।।

पङ्कजं भाति लीनद्विरेफं जले, राजहंसो यथा राजते पञ्जरे ।
सिंहशोभाऽधिका जायते कन्दरे, शोभते शूरश्रीर्गर्विते कुञ्जरे ।।

मञ्जु गीतं तथा वाद्यनृत्यादिके ।
सेवनीयेह सङ्गीतविद्या सखे ! ।।१।

रञ्जकं श्रोतृचित्तस्य स्वरसप्तकं पञ्चधा नादशक्तिः समाश्रीयते ।
मूर्च्छना-ग्राम-रागावरोहादिकं वन्द्यतां यत्र वाद्यादिभिर्नीयते ।।

तानतालै रसैः सिक्तगीत्यादिके ।
सेवनीयेह सङ्गीतविद्या सखे ! ।।२।

'मोदकं देहि' वाक्येन संप्रेरितं शब्दविद्याविदुष्या गुणाधिष्ठितम् ।
सन्धि-नाम-क्रियाशब्दसंशोभितं शर्ववर्मप्रणीतं तु कातन्त्रकम् ।।

संश्रिते तत्र गीतादिसूत्रात्मके ।
सेवनीयेह सङ्गीतविद्या सखे ! ।।३।

ठाकुरश्रीलशौरीन्द्रमोहनकृतं यत् कलापेन गान्धर्वमुद्भासितम् ।
सत्समीक्षापरं सूत्रसाम्यात्मकं तद्धि शिष्टैः सदा मोदितं वन्दितम् ।।

विस्मयानन्दके शब्दविद्याद्विके ।
सेवनीयेह सङ्गीतविद्या सखे ! ।।४।

श्रेयसे शब्दविद्येव सौम्यश्रिये ।
सेवनीयेह सङ्गीतविद्या सखे ।।

●

सप्तमं परिशिष्टम् = ग्रन्थसूची

१. अग्निपुराण
२. अथर्ववेदप्रातिशाख्य
३. अन्नपूर्णास्तोत्र
४. आपिशलिशिक्षा
५. ऋक्तन्त्र
६. ऋग्वेदप्रातिशाख्य
७. ऋग्वेदभाष्यभूमिका
८. कथासरित्सागर
९. कलापचन्द्रटीका
१०. कलापव्याकरण
११. कलापव्याकरणवङ्गभाष्य
१२. कातन्त्र तथा कच्चायन व्याकरण का समीक्षात्मक अध्ययन
१३. कातन्त्रदुर्गटीका
१४. कातन्त्रदुर्गवृत्ति
१५. कातन्त्रपरिभाषासूत्र
१६. कातन्त्रपरिशिष्ट
१७. कातन्त्ररूपमाला
१८. कातन्त्रविवरणपञ्जिका
१९. कातन्त्रविस्तर
२०. कातन्त्रव्याकरण
२१. कातन्त्रव्याकरण का बृहद् इतिहास
२२. कातन्त्रव्याकरण-विमर्श·
२३. काशकृत्स्नधातुव्याख्यान
२४. काशकृत्स्नव्याकरण
२५. काशिकावृत्ति
२६. गणरत्नमहोदधि
२७. गीतनारायण
२८. गोपथब्राह्मण
२९. चान्द्रव्याकरण
३०. चैत्रकूटी वृत्ति
३१. जैनेन्द्रव्याकरण
३२. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
३३. तैत्तिरीयप्रातिशाख्यत्रिभाष्यरत्न
३४. तैत्तिरीयसंहिता
३५. दर्पणटीका
३६. नन्दिकेश्वरकाशिका
३७. नाट्यशास्त्र
३८. नारदपुराण
३९. नारदशिक्षा
४०. नारदसंहिता
४१. नित्याषोडशिकार्णव
४२. निरुक्त
४३. निरुक्तभाष्य
४४. नीतिशतक
४५. पाणिनीयव्याकरणे शास्त्रीयसंज्ञानां तात्पर्यविमर्शः (अप्रकाशित शो०प्र०)
४६. पाणिनीयशिक्षा
४७. पाणिनीयाष्टाध्यायी
४८. प्रपञ्चसारतन्त्र
४९. प्रयोगरत्नमालाव्याकरण
५०. प्राकृतविद्या पत्रिका
५१. बालमनोरमा
५२. बृहद्देवता
५३. बृहद्देशी
५४. भारतीयसंगीतकोश
५५. मञ्जूषापत्रिका
५६. महाभारत
५७. महाभाष्य
५८. महाभाष्यप्रदीप
५९. मालविकाग्निमित्र
६०. मुग्धबोधव्याकरण

६१. यजुःप्रातिशाख्य	७६. शब्दशक्तिप्रकाशिका
६२. यन्त्रकोश	७७. शाकटायनव्याकरण
६३. याज्ञवल्क्यशिक्षा	७८. श्रीमद्भगवद्गीता
६४. रत्नावली	७९. सङ्गीतनारायण
६५. वशिष्ठशिक्षा	८०. सङ्गीतरत्नाकर
६६. वाक्यपदीय	८१. सङ्गीतरत्नाकर-कलानिधिटीका
६७. वाजसनेयिप्रातिशाख्यउव्वटभाष्य	८२. सङ्गीतशती
६८. वाररुचसंग्रह	८३. सङ्गीतसुधाकर
६९. वृत्तित्रयवार्त्तिक	८४. सङ्गीतार्णव
७०. वैदिकाभरण	८५. सारस्वतव्याकरण
७१. वैयाकरणभूषणसार	८६. सिद्धहेमशब्दानुशासन
७२. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा	८७. सिद्धान्तचन्द्रिका
७३. व्याकरणदर्शनेर इतिहास	८८. सुधाकरटीका
७४. व्याख्यानप्रक्रिया	८९. Technical terms and technique of Sanskrit Grammar.
७५. शतपथब्राह्मण	90. The music of nature

अष्टमं परिशिष्टम्—साङ्केतिकशब्दपरिचयः

अ०	—	अध्याय	क्र०सं०	—	क्रमसंख्या
अ०	—	अष्टाध्यायी	ग	—	गान्धार
उ०भा०	—	उव्वटभाष्य	गण०	—	गणरत्नमहोदधि
ऋ	—	ऋषभ	टि०	—	टिप्पणी
ऋ०त०	—	ऋक्तन्त्र	टे०ट०टे०	—	टेक्निकल टर्म्स एण्ड टेक्नीक ऑफ संस्कृत ग्रामर
क०स०सा०	—	कथासरित्सागर	तै०सं०	—	तैत्तिरीयसंहिता
का०	—	कारिका	दु०टी०	—	दुर्गटीका
कात०	—	कातन्त्र	दु०भा०	—	दुर्गभाष्य
कात०वृ०टी०	—	कातन्त्रवृत्तिटीका	दु०वृ०	—	दुर्गवृत्ति
का०परि०सू०	—	कालापपरिभाषासूत्र	ध	—	धैवत
का०रू०मा०	—	कातन्त्ररूपमाला	ना०शा०	—	नाट्यशास्त्र
का०वृ०	—	काशिकावृत्ति			
काश०धा०व्या०	—	काशकृत्स्नधातुव्याख्यान			

ना०शि०	—	नारदशिक्षा	वाज०प्रा०	—	वाजसनेयिप्राति-शाख्य
नि	—	निषाद	वा०प०	—	वाक्यपदीय
नि०	—	निरुक्त	वि०प०	—	विवरणपञ्जिका
नि०भा०	—	निरुक्तभाष्य	वृ०त्र०वा०	—	वृत्तित्रयवार्त्तिक
प	—	पञ्चम	वै०भू०सा०	—	वैयाकरणभूषणसार
प०	—	पटल	वै०सि०ल०म०	—	वैयाकरणसिद्धान्त-लघुमञ्जूषा
पा०	—	पाणिनीयाष्टाध्यायी	व्या०द०इति०	—	व्याकरणदर्शनेर इतिहास
पाठा०	—	पाठान्तर	व्या० प्र०	—	व्याख्यानप्रक्रिया
पृ०सं०	—	पृष्ठसंख्या	शा० ति०	—	शारदातिलक
प्र०	—	प्रकरण	श्लो०	—	श्लोक
प्र०र०मा०	—	प्रयोगरत्नमाला	स	—	षड्ज
प्र०सा०तं०	—	प्रपञ्चसारतन्त्र	सरिगमपधनि	—	षड्जऋषभ गान्धार-मध्यम् पञ्चमधैवतनिषाद
बा०म०	—	बालमनोरमा	सं०	—	संस्करण
भा०	—	भाग	सं० र०	—	सङ्गीतरत्नाकर
भू०	—	भ्वादि	सा	—	षड्ज
म	—	मध्यम	सि० च०	—	सिद्धान्तचन्द्रिका
म०भा०	—	महाभाष्य	सू०	—	सूत्रम्
म०भा०प्र०	—	महाभाष्यप्रदीप	Gr.	—	Gr antha
माल०मि०	—	मालविकाग्निमित्र	No.	—	Number
मा०सू०	—	माहेश्वरसूत्र	P.	—	Page
या०शि०	—	याज्ञवल्क्यशिक्षा	Vol.	—	Volume
यु०मी०व्या०	—	युधिष्ठिरमीमांसक-व्याख्या	W.	—	William
वं०सं०	—	वङ्गसंस्करण			

●

मूल–प्रथम पृष्ठ से उद्धृत

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ।।

[illegible]

প্রথমখণ্ডম্

অর্থাৎ

কলাপব্যাকরণোক্তসূত্রানুরূপ-

[illegible] সূত্রজাতম্

[illegible] ভারত[illegible] সম্মানশ্রেণিসহচরেণ

[illegible] সার্বভৌম-রাজকীয়-সাধারণ-

[illegible] শ্রেণীনাং সেনানায়কেন

[illegible] জানবোপাধিনা,

নাইট-[illegible]-উপাধিধারিণা,

সঙ্গীতনায়কেন

রাজা-শ্রীশৌরীন্দ্রমোহন-ঠাকুরেণ

বিরচিতম্

(32)

কলিকাতা-রাজধান্যাং

[illegible]

[illegible]

[illegible] ভট্টাচার্য্যেণ [illegible]

শ্রীশ্রীদুর্গা

শরণম্।

প্রথমতঃ সংজ্ঞা-প্রকরণম্।

কলাপে—

দেবদেবং প্রণম্যাদৌ সর্ব্বজ্ঞং সর্ব্বদর্শিনম্।
কাতন্ত্রস্য প্রবক্ষ্যামি ব্যাখ্যানং শার্ব্ববর্ম্মিকম্॥

কলাপব্যাকরণম্—তদ্বিবরণঞ্চ যথা—

শঙ্করস্য মুখাদ্বাক্যং শ্রুত্বা চৈব ষড়াননঃ।
লিলেখ শিখিনঃ পুচ্ছে কলাপ ইতি কথ্যতে॥

(ক)

গান্ধর্ব্বে—

সৃষ্ট্যাদৌ সূয়তে যা স্মরহরবিবুধান্ সার্দ্ধমেতৈর্জগন্তি-
র্যস্যামন্তে প্রলীনা বিগতকলুষকৈর্যোগিভির্যা প্ররাধ্যা।
সত্তেতি ব্রহ্ম নিত্যং নিরতিশয়সুখং স্বপ্রকাশস্বরূপং
তামাদ্যাং নাদশক্তিং সকলবিভবদাং মুক্তয়ে সম্ভজামি॥

(খ)

নাদেন ব্যজ্যতে বর্ণঃ পদং বর্ণাৎ পদাদ্বচঃ।
বচসো ব্যবহারোঽয়ং নাদাধীনমতো জগৎ॥

গান্ধর্ব্ব-কলাপ-ব্যাকরণম্—

গন্ধর্ব্বসম্বন্ধি যত্তদ্গান্ধর্ব্বম্।—ব্যাক্রিয়ন্তে ব্যুৎপাদ্যন্তে সাধুশব্দা অনেনেতি ব্যাকরণম্—অর্থাৎ শব্দব্যুৎপাদকশাস্ত্রম্।

শব্দস্ত্বাকাশবৃত্তিগুণবিশেষো যথা—

আকাশাজ্জায়তে শব্দো বায়ুঃ শব্দপ্রকাশকঃ।

স তু দ্বিবিধো যথা—

বর্ণাত্মকো ধ্বন্যাত্মকশ্চেতি

বর্ণাত্মকাস্তে কাদয়ো মতাঃ, ধ্বন্যাত্মকাস্তে ষড়্জাদয়ো মতাঃ।

তথাচ ভাষাপরিচ্ছেদে—

শব্দো ধ্বনিশ্চ বর্ণশ্চ মৃদঙ্গাদিভবো ধ্বনিঃ।
কণ্ঠসংযোগাদিজন্যা বর্ণাস্তে কাদয়ো মতাঃ॥ ইত্যাদি।

কলাপে—

বর্ণলক্ষণং যথা—

অকারাদিহকারান্তা বর্ণমালা প্রকীর্ত্তিতা।

(১)

সিদ্ধো বর্ণসমাম্নায়ঃ।

সিদ্ধঃ খলু বর্ণানাং সমাম্নায়ো বেদিতব্যঃ ; ন পুনরন্যথোপদেষ্টব্য ইত্যর্থঃ। সিদ্ধশব্দোঽত্র নিত্যার্থো নিষ্পন্নার্থঃ প্রসিদ্ধার্থো বা। যথা—সিদ্ধমাকাশং, সিদ্ধমন্নং, কাম্পিল্লঃ সিদ্ধ-ইতি। বর্ণা অকারাদয়ঃ, তেষাং সমাম্নায়ঃ পাঠক্রমঃ।

(২)

কলাপে—

স্বরলক্ষণং যথা—

তত্র চতুর্দ্দশাদৌ স্বরাঃ।

তস্মিন্‌ বর্ণসমাম্নায়বিষয়ে আদৌ যে চতুর্দ্দশ বর্ণাস্তে স্বরসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

অ আ ই ঈ উ ঊ ঋ ৠ ঌ ৡ এ ঐ ও ঔ।

স্বরঃ স্বয়ং রাজতে হি।

স্বরপ্রদেশাঃ—স্বরোঽবর্ণবর্জ্জো নামী—ইত্যেবমাদয়ঃ।

গান্ধর্ব্বে—

স্বরলক্ষণং যথা—

ষড়্জাদিনিষাদান্তা স্বরমালা প্রকীর্ত্তিতা

(১)

শারীরং নাদসম্ভূতিঃ স্থানানি শ্রুতয়স্তথা ॥

(২)

গান্ধর্ব্বে—

তত্র চ সপ্ত স্বরাঃ।

তত্র ষড়্জাদয়ঃ সপ্ত স্বরাঃ সম্যক্প্রভেদতঃ।

তত্র স্বরপ্রস্তাববিষয়ে সম্যক্প্রভেদযুক্তাঃ ষড়্জাদয়ো যে সপ্ত তে সঙ্গীতে স্বরসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

ষড়্জঃ ঋষভঃ গান্ধারঃ মধ্যমঃ পঞ্চমঃ ধৈবতঃ নিষাদঃ।

স্বয়ং যো রাজতে নাদঃ স স্বরঃ পরিকীর্ত্তিতঃ।

ষড়্জর্ষভগান্ধারো মধ্যমঃ পঞ্চমস্তথা।

ধৈবতশ্চ নিষাদশ্চ স্বরাঃ সপ্ত প্রকীর্ত্তিতাঃ ॥

যথা—

স ঋ গ ম প ধ নি

স্বরপ্রদেশাঃ—স্বরাশ্চ বিজ্ঞেয়া ইত্যেবমাদুয়ঃ।

(৩)

কলাপে—

দশ সমানাঃ ।

তস্মিন্ বর্ণসমাম্নায়বিষয়ে আদৌ যে দশ বর্ণাস্তে সমান-সংজ্ঞা ভবন্তি । যথা—

অ আ ই ঈ উ ঊ ঋ ৠ ঌ ৡ ।

সমানপ্রদেশাঃ—সমানঃ সবর্ণে দীর্ঘীভবতি পরশ্চ লোপমিত্যেবমাদয়ঃ ।

(৪)

কলাপে—

তেষাং দ্বৌ দ্বাবন্যোন্যস্য সবর্ণৌ ।

তেষামেব-দশানাং যৌ দ্বৌ দ্বৌ বর্ণৌ তাবন্যোন্যস্য সবর্ণ-সংজ্ঞকৌ ভবতঃ । যথা—

অ আ ই ঈ উ ঊ ঋ ৠ ঌ ৡ ।

সবর্ণপ্রদেশাঃ—সমানঃ সবর্ণে দীর্ঘীভবতি পরশ্চ লোপমিত্যেবমাদয়ঃ ।

(৩)

গান্ধর্ব্বে—

শুদ্ধাঃ সমানাঃ।

তস্মিন্ স্বরপ্রস্তাববিষয়ে যে যে শুদ্ধস্বরাস্তে তে সমান-সংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

স০০০০ ঋ০০০ গ০০ ম০০০০ প০০০০ ধ০০০ নি০০

সমানপ্রদেশাঃ—সমানসবর্ণেন দ্বিস্বরযোগে মিলিত্বা পূর্ব্বো ব্যক্তোঽপরশ্চা-প্রকাশমিত্যেবমাদয়ঃ।

(৪)

গান্ধর্ব্বে—

সমানশ্রুতয়ঃ সবর্ণাঃ।

স্বরপ্রস্তাববিষয়ে যে যে সমানশ্রুতিবিশিষ্টাঃ স্বরাস্তে তে সবর্ণসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

স০০০০ ম০০০০ প০০০০	ঋ০০০ ধ০০০	গ০০ নি০০

সবর্ণপ্রদেশাঃ—সমানঃ সবর্ণেন দ্বিস্বরযোগে মিলিত্বা পূর্ব্বো ব্যক্তোঽপরশ্চা-প্রকাশমিত্যেবমাদয়ঃ।

চতস্রঃ ষড়্জমধ্যমপঞ্চমে তিস্রস্তু ঋধয়োর্মধ্যে দ্বে গান্ধারনিষাদে।

(৫)

কলাপে—

পূর্ব্বো হ্রস্বঃ ।

দ্বয়োর্দ্বয়োঃ সবর্ণসংজ্ঞয়োর্যো যঃ পূর্ব্বো বর্ণঃ স স হ্রস্বসংজ্ঞো ভবতি । যথা—

অ ই উ ঋ ঌ ।

হ্রস্বপ্রদেশাঃ—স্বরো হ্রস্বনপুংসক ইত্যেবমাদয়ঃ ।

(৫)

গান্ধর্ব্বে—

একমাত্রো হ্রস্বঃ।

একমাত্রোচ্চারণকালো হ্রস্বসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

স ঋ গ ম প ধ নি

হ্রস্বপ্রদেশাঃ—একদ্বয়োর্হ্রস্বদীর্ঘাবিত্যেবমাদয়ঃ।

একমাত্রো ভবেদ্ধ্রস্বঃ।

(৬)

কলাপে—

পরো দীর্ঘঃ।

দ্বয়োর্দ্বয়োঃ সবর্ণসংজ্ঞয়োর্যো যঃ পরো বর্ণঃ স স দীর্ঘসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

আ ঈ ঊ ঋৄ ৡ

হ্রস্বো লঘুর্দীর্ঘো গুরুরিত্যুচ্চারণবশাদ্গম্যতে। তথা সংযোগে সতি হ্রস্বোঽপি গুরুঃ, গুরুমতোঽনৃচ্ছ ইতি বর্জ্জনাচ্চ।

দীর্ঘপ্রদেশাঃ—রো রে লোপং স্বরশ্চ পূর্ব্বো দীর্ঘ ইত্যেবমাদয়ঃ।

অন্যে তু—

দীর্ঘাদতিরিক্তঃ প্লুতঃ।

দীর্ঘাদতিরিক্তোচ্চারণো যঃ স প্লুতসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

I II III
অ অ অ

প্লুতপ্রদেশাঃ—অনুপদিষ্টাশ্চ প্লুতা ইত্যেবমাদয়ঃ।

গান্ধর্ব্বে—

মাত্রৈকাতিরিক্তো গুরুঃ।

একমাত্রাতিরিক্তোচ্চারণকালঃ সঙ্গীতে গুরুসংজ্ঞো ভবতি।

যথা—

সা সা সা

(৬)

দ্বিমাত্রো দীর্ঘঃ।

দ্বিমাত্রোচ্চারণকালো দীর্ঘসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

স ঋা গ ম প ধ নি

দীর্ঘপ্রদেশাঃ—একদ্ব্যার্দ্ধস্বরীণাভিহোবমানাঃ।

দ্বিমাত্রো দীর্ঘ উচ্যতে।

ত্রিমাত্রঃ প্লুতঃ।

ত্রিমাত্রোচ্চারণকালঃ প্লুতসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

স ঋা গ ম প ধ নি

ত্রিমাত্রং প্লুতং জ্ঞেয়ম্।

প্লুতপ্রদেশাঃ—আমন্ত্রিতে প্লুতঃ সম্বুদ্ধি [illegible]

(৭)

কলাপে—

স্বরোঽবর্ণবর্জ্জো নামী।

অবর্ণবর্জ্জস্বরো নামিসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

ই ঈ উ ঊ ঋ ৠ ঌ ৡ এ ঐ ও ঔ।

নামিপ্রদেশাঃ—নামি পরো রমিত্যেবমাদয়ঃ।

(৮)

একারাদীনি সন্ধ্যক্ষরাণি।

একারাদীনি স্বরনামানি সন্ধ্যক্ষরসংজ্ঞকানি ভবন্তি। যথা—

এ ঐ ও ঔ।

সন্ধ্যক্ষরপ্রদেশাঃ—সন্ধ্যক্ষরে চেত্যেবমাদয়ঃ।

সন্ধাবক্ষরাণি সন্ধ্যক্ষরাণীতি। তথা চৈষাং পূর্ব্বভাগোঽকারঃ, একারৈকারয়োঃ পরো ভাগ ইকারঃ। ওকারৌকারয়োঃ পূর্ব্বভাগঃ অকারঃ, পরশ্চ ভাগ উকার ইতি। অর্থাৎ সন্ধিনিষ্পন্নত্বাৎ এ ঐ ও ঔ এতে চত্বারঃ স্বরাঃ সন্ধ্যক্ষরা বা বিকৃতা জ্ঞেয়া ইতি ভাবঃ।

(৭)

গান্ধর্ব্বে—

স্থূলবর্জ্জং শ্রুতিঃ ।

স্বরস্য স্থূলভাগং পরিত্যজ্য সূক্ষ্মাংশঃ শ্রুতিসংজ্ঞো ভবতি ।

স্বরূপমাত্রশ্রবণান্নাদোঽনুরণনাত্মকঃ ।
শ্রুতিরিত্যুচ্যতে, ভেদাস্তস্যা দ্বাবিংশতির্মতাঃ ॥

শ্রুতিঃ শ্রবণেন্দ্রিয়েণানুভূয়তে, ন ত্বন্যেন ।

শ্রুতিপ্রদেশাঃ—নাদদ্বাবিংশভেদা শ্রুতিরিত্যেবমাদয়ঃ ।

(৮)

বিকৃতাঃ দ্বাদশ স্বরাঃ ।

শুদ্ধকাকলীভেদেন পরম্পরাঃ দ্বাদশ বিকৃতস্বরসংজ্ঞা ভবন্তি ।

যথা—

স ঋ̂ ঋ গ̂ গ ম ম́ প ধ̇ ধ নি̇ নি

বিকৃতপ্রদেশাঃ—শুদ্ধানাং বিভাগে বিকৃতাঃ দ্বাদশ ইত্যেবমাদয়ঃ ।

শুদ্ধাশুদ্ধাদিভেদেন বিকৃতা দ্বাদশোদিতা ইত্যাদি ।

(৯)

কলাপে—

কাদীনি ব্যঞ্জনানি।

ককারাদীনি হকারপর্য্যন্তানি ব্যঞ্জনসংজ্ঞকানি ভবন্তি।

যথা—

ক খ গ ঘ ঙ। চ ছ জ ঝ ঞ। ট ঠ ড ঢ ণ।
ত থ দ ধ ন। প ফ ব ভ মঁ। য র ল ব শ ষ স হ।

ব্যঞ্জনপ্রদেশাঃ—ব্যঞ্জনমস্বরং পরং বর্ণং নয়েদিত্যেবমাদয়ঃ।

(১০)

তে বর্গাঃ পঞ্চ পঞ্চ পঞ্চ।

তে কাদয়ো মাবসানাঃ বর্ণাঃ পঞ্চ পঞ্চ ভূত্বা পঞ্চৈব তে বর্গসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

ক খ গ ঘ ঙ। চ ছ জ ঝ ঞ। ট ঠ ড ঢ ণ।
ত থ দ ধ ন। প ফ ব ভ ম।

বর্গপ্রদেশাঃ—বর্গ[illegible]দ্বিতীয়াঃ শষসাশ্চাঘোষা ইত্যেবমাদয়ঃ।

(৯)

গান্ধর্ব্বে—

ব্যঞ্জনঞ্চার্দ্ধমাত্রকম্।

অর্দ্ধমাত্রোচ্চারণকালং ব্যঞ্জনসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

ঈদৃক্, ইক্ চ।

ব্যঞ্জনপ্রদেশাঃ—গীতমর্ম্মরং পরঃ নয়েদিত্যেবমাদয়ঃ।

(১০)

তে বর্গা উদাত্তাদিষু সপ্ত সপ্ত সপ্ত।

তে ষড়্জাদয়ো নিষাদাবসানাঃ স্বরা উদাত্তাদিষু উদাত্তানুদাত্তস্বরিতত্রিসপ্তকেষু সপ্ত সপ্ত সপ্তক্রমেঽপি প্রত্যেকস্বরে বর্গসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

উদারায়াং ষড়্জাদি সপ্ত, মুদারায়াং ষড়্জাদি সপ্ত, তারায়ামপি ষড়্জাদি সপ্ত।

তদ্বিভাগক্রমো যথা—

উদারায়াং—স় ঋ় গ় ম় প় ধ় নি়। এতে সপ্ত বর্গাঃ।

মুদারায়াং—স ঋ গ ম প ধ নি। এতে সপ্ত বর্গাঃ।

তারায়াং—সং ঋং গং মং পং ধং নিং। এতে সপ্ত বর্গাঃ।*

উদারা মুদারা তারা অর্থাৎ উদাত্তঃ অনুদাত্তঃ স্বরিতশ্চ।

---

* উদারায়াঃ স্বরনিম্নে এবঞ্চ তারায়াঃ স্বরোপরি বিন্দুঃ স্থাপনীয়ঃ।

(১১)

কলাপে—

বর্গাণাং প্রথমদ্বিতীয়াঃ শষসাশ্চাঘোষাঃ।

বর্গাণাং প্রথমদ্বিতীয়া বর্ণাঃ শষসাশ্চ অঘোষসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

ক খ চ ছ ট ঠ ত থ প ফ শ ষ স।

অঘোষপ্রদেশাঃ—অঘোষে প্রথম ইত্যেবমাদয়ঃ।

(১২)

ঘোষবন্তোঽন্যে।

অঘোষেভ্যো যে অন্যে অবশিষ্টা গাদয়স্তে ঘোষবৎসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

গ ঘ ঙ, জ ঝ ঞ, ড ঢ ণ, দ ধ ন, ব ভ ম, য র ল ব হ।

ঘোষবৎপ্রদেশাঃ—ঘোষবতি লোপমিত্যেবমাদয়ঃ।

(১৩)

অনুনাসিকা ঙ ঞ ণ ন মাঃ।

ঙ ঞ ণ ন মা ইত্যেতে বর্ণা অনুনাসিকসংজ্ঞা ভবন্তি।

অনুনাসিকপ্রদেশাঃ—[illegible]নমনস্বরাদনুনাসিকমিত্যেবমাদয়ঃ।

(১১)

গান্ধর্ব্বে—

বর্গাণাং প্রথমতৃতীয়চতুর্থগ্রামাঃ।

বর্গাণাং প্রথমতৃতীয়চতুর্থস্বরাঃ ক্রমেণ গ্রামসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

স গ মাশ্চ ত্রয়গ্রামাঃ।

গ্রামপ্রদেশাঃ—সগমাশ্চ ত্রয়গ্রামা ইত্যেবমাদয়ঃ। তথাচ—

ষড়্জশ্চ গান্ধারশ্চ মধ্যমশ্চৈব তে ক্রমাৎ।
ত্রয়গ্রামা নিরূপ্যন্তে ভরতাদিমহর্ষিভিঃ॥

(১২)

গ্রামাদন্যে সাধারণাঃ।

গ্রামাদন্যে যে অবশিষ্টাঃ স্বরাস্তে সাধারণস্বরসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

ঋ প ধ নি—এতে সাধারণাঃ।

সাধারণপ্রদেশাঃ—সাধারণশ্চোত্তম ইত্যেবমাদয়ঃ।

(১৩)

প্রচিতশ্চানুনাসিকঃ।

অনু পশ্চাৎ নাসাকণ্ঠাভ্যামনুচ্চভাবেন যোঽবহির্নিঃসরতি স প্রচিতস্বরোঽনুনাসিকসংজ্ঞো ভবতি।

অনুনাসিকপ্রদেশাঃ—নাসায়াঃ প্রচিতোঽনুনাসিক ইত্যেবমাদয়ঃ।

(১৪)

কলাপে—

অন্তঃস্থা য র ল বাঃ।

য র ল ব—ইত্যেতে বর্ণা অন্তঃস্থসংজ্ঞা ভবন্তি।

অন্তঃস্থপ্রদেশাঃ—উবর্ণস্য যান্তঃস্থাঃ পবর্গপরস্থাবর্ণে ইত্যেবমাদয়ঃ।

(১৫)

ঊষ্মাণঃ শ ষ স হাঃ।

শ ষ স হ—ইত্যেতে বর্ণা ঊষ্মসংজ্ঞা ভবন্তি।

(১৬)

অঃ ইতি বিসর্জ্জনীয়ঃ।

অকার ইহোচ্চারণার্থঃ, (:) ইতি কুমারীস্তনযুগাকৃতির্বর্ণো বিসর্জ্জনীয়সংজ্ঞো ভবতি।

বিসর্জ্জনীয়প্রদেশাঃ—বিসর্[illegible] ছে [illegible] সমিত্যেবমাদয়ঃ।

(১৪)

গান্ধর্ব্বে—

সমপাশ্চোত্তমাঃ।

চতুঃশ্রুতিবিশিষ্টাঃ ষড়্‌জমধ্যমপঞ্চমস্বরা উত্তমস্বরসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

স ম প।

উত্তমপ্রদেশাঃ—উত্তমাদিভিঃ শ্রুতিভিশ্চ স্বরগ্রামঃ প্রতিগ্রামে সপ্ত সপ্ত মূর্চ্ছনেত্যেবমাদয়ঃ।

(১৫)

(ক) ঋধৌ চ সামান্যৌ।

ত্রিশ্রুতিবিশিষ্টৌ ঋষভধৈবতৌ সামান্যসংজ্ঞকৌ ভবতঃ।

সামান্যপ্রদেশাঃ—মঃ সামান্য ইত্যেবমাদয়ঃ।

(খ) গনৌ চাতিসামান্যৌ।

দ্বিশ্রুতিবিশিষ্টৌ গান্ধারনিষাদৌ অতিসামান্যস্বরসংজ্ঞকৌ ভবতঃ।

(১৬)

মাত্রাজ্ঞাপকো দণ্ডঃ।

(।) ইতি দণ্ডাকৃতিচিহ্নং মাত্রাজ্ঞাপকদণ্ডসংজ্ঞং ভবতি।

দণ্ডপ্রদেশাঃ—স্বরস্থায়িকালরূপং মাত্রেত্যেবমাদয়ঃ

(১৭)

কলাপে—

অং ইত্যনুস্বারঃ।

অকার ইহোচ্চারণার্থঃ, (ং) ইতি বিন্দুমাত্রো বর্ণঃ অনুস্বারসংজ্ঞো ভবতি।

অনুস্বারপ্রদেশাঃ—মোঽনুস্বারং ব্যঞ্জনে ইত্যেবমাদয়ঃ।

(১৮)

ক × ইতি জিহ্বামূলীয়ঃ।

ককার ইহোচ্চারণার্থঃ, (×) ইতি বজ্রাকৃতির্বর্ণো জিহ্বামূলীয়সংজ্ঞো ভবতি।

জিহ্বামূলীয়প্রদেশাঃ—কখয়োর্জিহ্বামূলীয়ম্‌ বেত্যেবমাদয়ঃ।

(১৯)

প(৺) ইত্যুপধ্মানীয়ঃ।

পকার ইহোচ্চারণার্থঃ, (৺) ইতি গজকুম্ভাকৃতির্বর্ণঃ উপধ্মানীয়সংজ্ঞো ভবতি।

উপধ্মানীয়প্রদেশাঃ—পফয়োরুপধ্মানীয়ম্‌ বেত্যেবমাদয়ঃ।

(২০)

পূর্ব্বপরয়োরর্থোপলব্ধৌ পদম্‌।

পূর্ব্বপরয়োঃ প্রকৃতিবিভক্ত্যোরর্থোপলব্ধৌ সত্যাং সমুদায়ঃ পদসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

তে-অত্র = তেঽত্র, যজন্তে-অত্র = যজন্তেঽত্র।

পদপ্রদেশাঃ—এদোৎপরঃ পদান্তে লোপমকারঃ ইত্যেবমাদয়ঃ।

(১৭)

গান্ধর্ব্বে—

অর্দ্ধচন্দ্রাকৃতিরর্দ্ধমাত্রা।

(৺) ইত্যর্দ্ধচন্দ্রাকৃতি-চিহ্নম্ অর্দ্ধমাত্রাসংজ্ঞং ভবতি।

অর্দ্ধমাত্রাপ্রদেশাঃ—স্বরস্থায়িকালরূপং মাত্রেত্যেবমাদয়ঃ।

(১৮)

পাদমাত্রাত্মকো ডমরুঃ।

(×) ইতি বজ্রাকৃতি-চিহ্নং পাদমাত্রাত্মকং ডমরুসংজ্ঞং ভবতি।

ডমরুপ্রদেশাঃ—অণুমাত্রো ডমরুরিত্যেবমাদয়ঃ।

(১৯)

(៳) গমকং গজকুম্ভঃ।

(៳) ইতি গজকুম্ভাকৃতি-চিহ্নং গমকসংজ্ঞম্ভবতি।

গমকপ্রদেশাঃ – শ্রোত্রচিত্তয়োঃ সুখাবহঃ স্বরকম্পো গমক ইত্যেবমাদয়ঃ।

(২০)

স্বরমাত্রাভ্যাং বিভজ্যার্থবোধে পদম্।

স্বরমাত্রাভ্যাং বিভজ্য (অর্থাদ্ব্যক্তীভূয়) অর্থবোধে সতি সমুদায়ঃ পদসংজ্ঞো ভবতি।

পদপ্রদেশাঃ—মাত্রাত্মকস্য পদং জ্ঞেয়মিত্যেবমাদয়ঃ।

(২১)

কলাপে—

ব্যঞ্জনমস্বরং পরং বর্ণং নয়েৎ।

ব্যঞ্জনং পরং বর্ণং নয়েৎ ন তু স্বরম্; ব্যঞ্জনমস্বক্ স্বরঃ স্বয়ং রাজতে হি। যথা

তৎ-গচ্ছতি = তদ্গচ্ছতি, ষট্-অত্র = ষড়ত্র, কঃ-খনতি = ক $\times$ খনতি, কঃ-ফলতি = ক ⌒ ফলতি।

(২২)

অনতিক্রময়ন্ বিশ্লেষয়েৎ।

বর্ণান্ সঙ্ঘটিতান্ সম্মিলিতান্ অনতিক্রময়ন্ বিশ্লেষয়েদ্বিঘটয়েদিত্যর্থঃ। যথা—

বৈয়াকরণঃ, উচ্চৈঃ।

(২৩)

লোকোপচারাদ্গ্রহণসিদ্ধিঃ।

লোকানামুপচারঃ ব্যবহারঃ। তস্মাদনুক্তস্যাপি গ্রহণস্য সিদ্ধির্বেদিতব্যেতি।

(২১)

গান্ধর্ব্বে—

গীতমস্বরং পরং নয়েৎ।

অস্বরং স্বরহীনং বর্ণাত্মকং গীতং পরং স্বরং নয়েৎ ন তু স্বরং গীতেন, যতঃ স্বরঃ স্বয়ং রাজতে হি।

(২২)

প্রয়োজনাদ্যুক্তাক্ষরং মোক্ষয়েৎ।

গীতে লিঙ্গাদের্ব্যতিক্রমে বিসন্ধৌ চ প্রয়োজনবশাৎ সংযুক্তাক্ষরং মোক্ষয়েদ্বিশ্লেষয়েদিত্যর্থঃ। তথাচ—

লিঙ্গান্যত্বে বিসন্ধৌ চ সংযুক্তাক্ষরমোক্ষণে।
হ্রস্বদীর্ঘব্যতিক্রমে গীতে দোষো ন বিদ্যতে॥

(২৩)

যস্মিন্দেশে যথা শিষ্টৈর্গীতং বিজ্ঞস্তথাচরেৎ।

ইতি শেষঃ।

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-
ঠাকুরোপাধিক-শ্রীমচ্ছূরকুমারজ-সঙ্গীতনায়ক-
শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-গান্ধর্ব্বে বৃত্তৌ
সংজ্ঞা-প্রকরণং নাম সন্ধৌ
প্রথমপাদঃ সমাপ্তঃ।

অথ সন্ধি-প্রকরণম্ ।

দ্বিতীয়ঃ পাদঃ ।

(১)

কলাপে—

সমানঃ সবর্ণে দীর্ঘীভবতি পরশ্চ লোপম্ ।

সমানসংজ্ঞকো বর্ণঃ সবর্ণে পরে দীর্ঘীভবতি পরশ্চ লোপমাপদ্যতে । যথা—

দণ্ড-অগ্রম্ = দণ্ডাগ্রম্, সা-আগতা = সাগতা, দধি-ইদম্ = দধীদম্, নদী-ঈহতে = নদীহতে, মধু-উদকম্ = মধূদকম্, বধূ-ঊঢ়ম্ = বধূঢ়ম্, পিতৃ-ঋষভঃ = পিতৄষভঃ, কৄ-ৠকারঃ = কৄকারঃ, কৢ-ঌকারঃ = কৢকারঃ, হোতৃ-ঌকারেণেতি বক্তব্যম্ ।

(২)

ইবর্ণো যমসবর্ণে ন চ পরলোপ্যঃ ।

ইবর্ণো যমাপদ্যতে অসবর্ণে ন চ পরলোপ্যঃ । যথা—

দধি-অত্র = দধ্যত্র, নদী-এষা = নদ্যেষা ।

(৩)

অয়াদীনাং যবলোপঃ পদান্তে ন বা লোপে তু প্রকৃতিঃ ।

অয় ইত্যেবমাদীনাং পদান্তে বর্ত্তমানানাং যবয়োর্লোপো ভবতি, ন বা লোপে তু প্রকৃতিঃ স্বভাবো ভবতি । যথা—

তে-আহুঃ = ত আহুঃ, তে-আহুঃ = তয়াহুঃ ; তস্মৈ-আসনম্ = তস্মা আসনম্, তস্মৈ-আসনম্ = তস্মায়াসনম্ ।

(১)

গান্ধর্ব্বে—

সমানঃ সবর্ণেন দ্বিপ্রযোগে পূর্ব্বো ব্যক্তঃ পরশ্চাপ্রকাশম্।

সমানশ্রুতিবিশিষ্টস্বরঃ সবর্ণস্বরেণ সহ দ্বিপ্রযোগে মিলিত্বা পূর্ব্বস্বরঃ ব্যক্তো ভবতি পরশ্চ অপ্রকাশমাপদ্যতে। যথা—

স স স প ঋ ধ গ নি

(২)

ভিন্নশ্রুতিরসবর্ণেন পূর্ব্বোঽব্যক্তো ন চ পরলোপ্যঃ।

ভিন্নশ্রুতিবিশিষ্টস্বরঃ অসবর্ণস্বরেণ সহ দ্বিপ্রযোগে মিলিত্বা পূর্ব্বস্বরঃ অব্যক্তো ভবতি ন চ পরলোপ্যঃ। যথা—

স গ ঋ ম ধ প ইত্যাদি।

(৩)

স্বশ্রুতিঃ সপ্তকো ভিন্নসপ্তকান্তর্গতং ন কোঽপি লোপঃ প্রকৃতিঃ।

স্বকীয়শ্রুতিবিশিষ্ট একসপ্তকান্তর্গতস্বরঃ ভিন্নসপ্তকান্তর্গতং স্বরং প্রাপ্য ন কোঽপি লোপঃ প্রকৃতিঃ স্বভাবো ভবতি, লোপঃ অব্যক্ত ইত্যর্থঃ।

(৪)

কলাপে—

এদোৎপরঃ পদান্তে লোপমকারঃ।

এদোদ্ভ্যাম্পরোঽকারঃ পদান্তে ~~বর্ত্তমানো~~ লোপমা-পদ্যতে। যথা—

তে-অত্র=তেঽত্র, পটো-অত্র=পটোঽত্র ইত্যাদি।

(৫)

ন ব্যঞ্জনে স্বরাঃ সন্ধেয়াঃ।

ন খলু ব্যঞ্জনে পরে স্বরাঃ সন্ধানীয়া ভবন্তি। যথা—

দেবী-গৃহং=দেবীগৃহম্, পটু-হস্তং=পটুহস্তম্; মাতৃ-মণ্ডলম্, জলে-পদ্মম্ ইত্যাদি।

(৪)

গান্ধর্ব্বে—

সপ্তকগ্রহণে সপ্তকান্তগ্রহণম্।

একসপ্তকগ্রহণে সপ্তকান্তর্গতস্বরস্য গ্রহণম্ভবতি। যথা—উদাত্তসপ্তকগ্রহণে অনুদাত্তসপ্তকগ্রহণম্।

(৫)

স্বরশ্চাদৌ ন গীতং সন্ধেয়ম্।

আদৌ স্বরসংযোগে সতি পশ্চাদ্গীতং ন সন্ধানীয়ং ভবতি। অতঃ আদৌ গীতং পশ্চাৎ স্বরঃ।

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-ঠাকুরোপাধিক-শ্রীমদ্ধরকুমারজ-সঙ্গীতনায়ক-শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-গান্ধর্ববৃত্তৌ সন্ধৌ দ্বিতীয়ঃ পাদঃ সমাপ্তঃ।



সন্ধি-প্রকরণম্ ।

তৃতীয়ঃ পাদঃ ।

(১)

কলাপে—

ওদন্তা অইউআ নিপাতাঃ স্বরে প্রকৃত্যা ।

ওদন্তা নিপাতা অইউআশ্চ কেবলাঃ স্বরে পরে প্রকৃত্যা তিষ্ঠন্তি। নো অত্র, অহো আশ্চর্য্যম্, অথো এবম্, অ অপেহি, ই ইন্দ্রং পশ্য, উ উত্তিষ্ঠ ইত্যাদি ।

(২)

দ্বিবচনমনৌ ।

দ্বিবচনং যদনৌভূতং তৎ স্বরে পরে প্রকৃত্যা তিষ্ঠতি, ঔকাররূপং পরিত্যজ্য রূপান্তরং প্রাপ্তমিত্যর্থঃ। অগ্নী-এতৌ, পটূ-ইমৌ, শালে-এতে, মালে-ইমে ইত্যাদি ।

(১)

গান্ধর্ব্বে—

তীব্রমধ্যমো নিপাতশ্চাসম্মিলিতঃ প্রকৃত্যা।

কেনাপি স্বরেণাসম্মিলিতস্তীব্রমধ্যমস্বরঃ নিপাতরূপে প্রকৃত্যা তিষ্ঠতি। যথা—

র্ম্ম

(২)

সং দ্বাভ্যামুচ্চারিতৌ।

সং সম্যক্‌প্রকারেণ দ্বাভ্যাম্ উচ্চারিতৌ স্বরৌ ন কোঽপি ব্যক্তমব্যক্তং দ্বৌ প্রকৃত্যা তিষ্ঠতঃ।

(৩)

কলাপে—

বহুবচনমমী।

বহুবচনং যদমীরূপং তৎ স্বরে পরে প্রকৃত্যা তিষ্ঠতি। অমী-অশ্বাঃ, অমী-এড়কাঃ ইত্যাদি।

(৪)

অনুপদিষ্টাশ্চ।

যে চাক্ষরসমাম্নায়বিষয়ে ব্যক্ত্যা নোপদিষ্টাঃ জাত্যা তু স্বরসঙ্গীতাঃ প্লুতান্তে স্বরে পরে প্রকৃত্যা তিষ্ঠন্তি। যথা—আগচ্ছ ভো দেবদত্ত অত্র, তিষ্ঠ ভো যজ্ঞদত্ত ইহ। দূরাহ্বানে গানে রোদনে চ প্লুতান্তে লোকতঃ সিদ্ধাঃ। *

* দূরাহ্বান ইত্যাদি তে চানিয়তা এব নাটকেষপি দৃশ্যান্তে অত ইহ প্লুতনিয়মো ন কৃত ইতি দুর্গসিংহঃ।

কিন্তু নাটকেষপ্যুপলভ্যন্তে অত ইহ দূরাদ্ধূতৌ চেত্যাদি প্লুতনিয়মো ন কৃত ইতি ত্রিলোচনঃ।

(৩)

গান্ধর্ব্বে—

সং বহুভিস্তথা।

সম্যক্‌প্রকারেণ বহুভিরুচ্চারিতৈঃ স্বরৈস্তথা ন কোঽপি ব্যক্তমব্যক্তং সর্ব্বে প্রকৃত্যা তিষ্ঠন্তি ইত্যাদি।

(৪)

ত্রিমাত্রায়াং দূরাহ্বানে গানে চ প্লুতাঃ।

ত্রিমাত্রোচ্চারণে দূরাহ্বানে গানে চ প্লুতা জ্ঞেয়াঃ।

যথা—

ত্রিমাত্রোচ্চারণে—

স। স॥ স।।।

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-
ঠাকুরোপাধিক-শ্রীমন্নন্দকুমারজ-সঙ্গীতনায়ক-
শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-গান্ধর্ব্ববৃত্তৌ সন্ধৌ
তৃতীয়ঃ পাদঃ সমাপ্তঃ।

সন্ধি-প্রকরণম্।

চতুর্থঃ পাদঃ।

(১)

কলাপে—

বর্গপ্রথমাঃ পদান্তাঃ স্বরঘোষবৎসু তৃতীয়ান্।

বর্গপ্রথমাঃ পদান্তাঃ স্বরঘোষবৎসু তৃতীয়ানাপদ্যন্তে। যথা—

বাক্-অত্র=বাগত্র, ষট্-গচ্ছন্তি=ষড়্গচ্ছন্তি, ইত্যাদি।

(২)

পঞ্চমে পঞ্চমাংস্তৃতীয়ান্ন বা।

বর্গপ্রথমাঃ পদান্তাঃ পঞ্চমে পরে পঞ্চমানাপদ্যন্তে তৃতীয়ান্ন বা। যথা—

বাক্-মতী=বাঙ্মতী, বাগ্মতী; ষট্-মুখানি=ষণ্মুখানি, ষড়্মুখানি; তৎ-নয়নং=তন্নয়নং, ত্রিষ্টুম্মিনোতি।

(৩)

বর্গপ্রথমেভ্যঃ শকারঃ স্বরযবরপরশ্ছকারং ন বা।

বর্গপ্রথমেভ্যঃ পদান্তেভ্যঃ পরঃ শকারঃ স্বরযবরপরশ্ছকারমাপদ্যতে ন বা। যথা—

বাক্-শূরঃ=বাক্ছূরঃ, বাক্শূরঃ; ষট্-শ্যামাঃ=ষট্ছ্যামাঃ, ষট্শ্যামাঃ ইত্যাদি।

গান্ধর্ব্বে—

(১)

বর্গপ্রথমস্তৃতীয়েন।

বর্গপ্রথমষড়্জস্বরস্তদ্বর্গতৃতীয়েন সহ মিলিত্বা সন্ধির্ভবতি। যথা—

স গ

(২)

প্রথমস্তৃতীয়পঞ্চমাভ্যাং ত্রিশ্রযোগে।

বর্গপ্রথমষড়্জস্বরস্তদ্বর্গতৃতীয়পঞ্চমাভ্যাং সহ ত্রিশ্রযোগে মিলিত্বা সন্ধির্ভবতি। যথা—

স গ প

(৩)

বর্গদ্বিতীয়পঞ্চমসপ্তমাঃ।

বর্গদ্বিতীয় ঋষভঃ, পঞ্চমঃ পঞ্চমঃ, সপ্তমো নিষাদঃ—এতে ত্রয়ঃ স্বরাঃ ক্রমেণ মিলিত্বা ত্রিশ্রযোগে সন্ধির্ভবন্তি। যথা—

ঋ প নি

কলাপে—

(৪)

তেভ্য এব হকারঃ পূর্ব্বচতুর্থন্ন বা।

তেভ্য এব বর্গপ্রথমেভ্যঃ পদান্তেভ্যঃ পরো হকারঃ পূর্ব্ব-চতুর্থমাপদ্যতে ন বা। যথা—

বাক্-হীনঃ=বাগ্‌ঘীনঃ, বাগ্‌হীনঃ; অজ্-হলৌ=অজ্ঝলৌ, অজ্‌হলৌ ইত্যাদি।

(৫)

পররূপং তকারো লচটবর্গেষু।

তকারঃ পদান্তো লচটবর্গেষু পরতঃ পররূপমাপদ্যতে। যথা—

তৎ-লুনাতি=তল্লুনাতি; তৎ-চরতি=তচ্চরতি, তৎ-ছাদয়তি=তচ্ছাদয়তি, তৎ-জয়তি=তজ্জয়তি; তৎ-টীকা=তট্টীকা।

(৬)

ঙণনা হ্রস্বোপধাঃ স্বরে দ্বিঃ।

ঙণনাঃ পদান্তা হ্রস্বোপধাঃ স্বরে পরে দ্বির্ভবন্তি। যথা—

ক্রুঙ্-অত্র=ক্রুঙ্ঙত্র, সুগণ্-অত্র=সুগণ্ণত্র, পচন্-অত্র=পচন্নত্র।

পঞ্চস্বর্ব্বৈঃ—

(৪)

বর্গপ্রথমো মধ্যমধৈবতাভ্যাম্।

বর্গপ্রথমঃ ষড়্জস্বরঃ মধ্যমধৈবতাভ্যাং সহ মিলিত্বা ত্রিস্বরযোগে সন্ধির্ভবতি। যথা—

স ম ধ

(৫)

উদাত্তসপ্তকঃ পররূপং বর্গান্তরম্।

উদাত্তসপ্তকো বর্গঃ পররূপং বর্গান্তরমাপদ্যতে। যথা—উদাত্তসপ্তকোঽনুদাত্তস্বরিতসপ্তকাভ্যাং সহ মেলনং ভবতি।

(৬)

মধ্যমে সপ্তৈকস্থাস্ত্রিস্রাঃ সপ্তকান্তরেণ দ্বিঃ।

মধ্যমে গ্রামে হৃতে একসপ্তকস্থিতাস্ত্রিস্রাঃ ত্রিস্রযোগ-বিশিষ্টাঃ স্বরাঃ সপ্তকান্তরেণ সহ মিলিত্বা দ্বির্দ্বিগুণা ভবন্তি।

যথা—

স প স ধ্ব ধ ধ্ব গ ধ গ

কলাপে—

(৭)

নোঽন্তশ্চছয়োঃ শকারমনুস্বারপূর্ব্বম্ ।

নকারঃ পদান্তশ্চছয়োঃ পরয়োঃ শকারমাপদ্যতে অনুস্বারপূর্ব্বম্ । যথা—

ভবান্-চরতি = ভবাংশ্চরতি, ভবান্-ছাদয়তি = ভবাংশ্ছাদয়তি ।

(৮)

টঠয়োঃ ষকারম্ ।

নকারঃ পদান্তষ্টঠয়োঃ পরয়োঃ ষকারমাপদ্যতে অনুস্বারপূর্ব্বম্ । যথা—

ভবান্-টীকতে = ভবাংষ্টীকতে, ভবান্-ঠকারেণ = ভবাংষ্ঠকারেণ ।

(৯)

তথয়োঃ সকারম ।

নকারঃ পদান্তস্তথয়োঃ পরয়োঃ সকারমাপদ্যতে অনুস্বারপূর্ব্বম্ । যথা—

ভবান্-তরতি = ভবাংস্তরতি ভবান্-থুড়তি = ভবাংস্থুড়তি ।

গান্ধর্ব্বে—

(৭)

ম-নিঁ-ঋশ্চ মগ্রামপূর্ব্বম্ ।

মধ্যমগ্রামপূর্ব্বং মধ্যম-কোমলনিষাদ-ঋষভাশ্চ ত্রয়ঃ স্বরাঃ পরস্পরং মিলিত্বা ত্রিস্রযোগে সন্ধির্ভবন্তি । যথা—

ম নিঁ ঋ

(৮)

গে গধাঁভ্যাং নিষাদস্ত্রিস্রযোগম্ ।

গে গান্ধারে গ্রামে কৃতে গান্ধার-কোমলধৈবতাভ্যাং সহ নিষাদো মিলিত্বা ত্রিস্রযোগমাপদ্যতে । যথা—

গ ধঁ নি

(৯)

ঋঁগৌ ধৈঁবতেন ত্রিস্রম্ ।

গান্ধারে গ্রামে কৃতে কোমলঋষভ-গান্ধারৌ পরস্পরং মিলিত্বা কোমলধৈবতেন সহ ত্রিস্রযোগমাপদ্যেতে । যথা—

ঋঁ গ ধঁ

কলাপে—

(১০)

লে লম্ ।

নকারঃ পদান্তো লে পরে লমাপদ্যতে অনুস্বারহীনম্ । যথা—

ভবান্-লুনাতি = ভবাঁল্লুনাতি, ভবান্-লিখতি = ভবাঁল্লিখতি ।

(১১)

জঝঞশকারেষু ঞকারম্ ।

নকারঃ পদান্তো জঝঞশকারেষু পরতো ঞকারমাপদ্যতে । যথা—

ভবান্-জয়তি = ভবাঞ্জয়তি, ভবান্-ঝাসয়তি = ভবাঞ্ঝাসয়তি, ভবান্-ঞকারেণ = ভবাঞ্ঞকারেণ ।

(১২)

ডঢণপরস্তু ণকারম্ ।

ডঢণাঃ পরে যস্মাদিতি ডঢণপরো নকারো ণত্বমাপদ্যতে। যথা—

ভবান্-ডীনম্ = ভবাণ্ডীনম্, ভবান্-ঢৌকতে = ভবাণ্ঢৌকতে, ভবান্-ণকারেণ = ভবাণ্ণক

গান্ধর্ব্বে—

(১০)

গতীব্রম্ভ্যাং নিষাদঃ।

গান্ধারে গ্রামে কৃতে কোমলগান্ধার-তীব্রমধ্যমাভ্যাং সহ নিষাদো মিলিত্বা ত্রিস্রযোগে সন্ধির্ভবতি। যথা—

গ ম নি

(১১)

সগপষড়জাশ্চতুরস্রযোগম্।

ষড়্জ-গান্ধার-পঞ্চমাঃ পুনঃ ষড়্জশ্চ—এতে চত্বারঃ স্বরাঃ প্রত্যেকং মিলিত্বা যথাক্রমং চতুরস্রযোগমাপদ্যন্তে। যথা—

স গ প স

(১২)

ঋমধঋষভাশ্চতুরস্রযোগম্।

ঋষভ-মধ্যম-ধৈবতাঃ পুনঃ ঋষভশ্চ—এতে চত্বারঃ স্বরাঃ পরস্পরং মিলিত্বা যথাক্রমং চতুরস্রযোগমাপদ্যন্তে। যথা—

ঋ ম ধ ঋ

কলাপে—

(১৩)

মোঽনুস্বারং ব্যঞ্জনে ।

মকারঃ পুনরন্ত্যো ব্যঞ্জনে পরে অনুস্বারমাপদ্যতে । যথা—

ত্বং যাসি, ত্বং রমসে ।

(১৪)

বর্গে তদ্বর্গপঞ্চমং বা ।

অন্ত্যোঽনুস্বারো বর্গে পরে তদ্বর্গপঞ্চমং বাপদ্যতে । যথা—

ত্বঙ্করোষি ত্বং করোষি, ত্বঞ্চরসি ত্বং চরসি, পুম্ভ্যাং পুংভ্যাম্ ।

গান্ধর্ব্বে—

(১৩)

প্রয়োজনমেষাং যন্ত্রে।

এষাং দ্বিস্র-ত্রিস্র-চতুরস্র-প্রভৃতি-যোগানাং যন্ত্রসাধনে প্রত্যেকং প্রয়োজনম্ভবতি।

(১৪)

শ্রুত্যাদেরভেদং নিত্যবর্গো বর্গান্তরেণ।

শ্রুত্যাদেরভেদং কৃত্বা যদ্বর্গো যস্মিন্নিরূপিতস্তদ্বর্গো বর্গান্তরেণ সহ নিত্যসংযোগো ভবতি। প্রয়োজনমস্য যথোচিতস্থানে জ্ঞাতব্যমিতি।

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-
ঠাকুরোপাধিক-শ্রীমদক্ষরকুমারজ-সঙ্গীতনায়ক-
শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-গান্ধর্ব্ববৃত্তৌ সন্ধৌ
চতুর্থঃ পাদঃ সমাপ্তঃ।

অথ চতুষ্টয়বৃত্তিঃ।

প্রথমঃ পাদঃ।

কলাপে—

(১)

ধাতুবিভক্তিবর্জ্জমর্থবল্লিঙ্গম্।

অর্থোঽভিধেয়ম্। ধাতুবিভক্তিবর্জ্জমর্থবল্লিঙ্গসংজ্ঞং ভবতি।
যথা—

বৃক্ষঃ, কুণ্ডম্, কুমারী, ডিত্থঃ, রাজপুরুষঃ, ঔপগবঃ, কারকঃ।

গান্ধর্ব্বে—

(১)

মাত্রাবর্জ্জস্বরো নাম।

মাত্রাবর্জ্জিতস্বরঃ নাম-সংজ্ঞো ভবতি। যথা—

স, ঋ, গ, ম, প, ধ, নি।

এতে মাত্রাহীনাঃ স্বরাঃ নামসংজ্ঞা জ্ঞেয়াঃ।

স্বরস্থায়িকালরূপং মাত্রা।

একমাত্রাদিরূপেণ স্বরস্থায়িকালরূপং চিহ্নং মাত্রাসংজ্ঞং ভবতি। যথা—

।, ॥, ।॥, ৺, ×, ◠, ※।

কলাপে—

(২)

তস্মাৎ পরা বিভক্তয়ঃ।

তস্মাল্লিঙ্গাৎ পরাঃ স্যাদয়ো বিভক্তয়ো ভবন্তি। যথা—

	একবচনম্	দ্বিবচনম্	বহুবচনম্
প্রথমা	সি	ঔ	জস্
দ্বিতীয়া	অম্	ঔ	শস্
তৃতীয়া	টা	ভ্যাম্	ভিস্
চতুর্থী	ঙে	ভ্যাম্	ভ্যস্
পঞ্চমী	ঙসি	ভ্যাম্	ভ্যস্
ষষ্ঠী	ঙস্	ওস্	আম্
সপ্তমী	ঙি	ওস্	সুপ্

দৃশৎ দৃশদ্, দৃশদৌ, দৃশদঃ। কুমারী, কুমার্য্যৌ, কুমার্য্যঃ। অর্থস্তু বিভজনাদ্বিভক্তয় ইতি।

গান্ধর্ব্বে—

(২)

স্বরোপরিস্থিতা বিভক্তয়ঃ।

স্বরোপরিস্থিতাঃ একাদয়স্তারকান্তা মাত্রাসমূহাঃ সপ্ত বিভক্তয়ো ভবন্তি। যথা—

	একবচনম্	দ্বিবচনম্	বহুবচনম্
একমাত্রা	।	। ।	। । ।
দ্বিমাত্রা	॥	॥ ॥	॥ ॥ ॥
ত্রিমাত্রা	⁞	⁞ ⁞	⁞ ⁞ ⁞
অর্দ্ধমাত্রা	ᵕ	ᵕ ᵕ	ᵕ ᵕ ᵕ
পাদমাত্রা	×	× ×	× × ×
পাদার্দ্ধমাত্রা	⬭	⬭ ⬭	⬭ ⬭ ⬭
পাদপাদমাত্রা	❊	❊ ❊	❊ ❊ ❊

স স স, স স্ব স, সঁ স্বঁ সি সঁ।

ইত্যাদি যথাক্রমমন্যেষু স্বরেম্বেবং জ্ঞেয়মিতি। স্বরস্য বিভঞ্জনাদ্বিভক্তয় ইতি। তথা চ গীতনির্ণয়ে ভরতঃ—

ᵕ অর্দ্ধেন্দুরর্দ্ধমাত্রা। × বজ্রাকৃতিঃ পাদমাত্রা।

⬭ পাদার্দ্ধজ্ঞাপকো যবঃ। ❊ পাদপাদপ্রকাশকস্তারকঃ।

ᴪ তৃতীয়াংশস্ত্রিশূলম্। ⸝ দ্বিত্র্যংশবোধকো ব[illegible]ঃ।

△ ত্রিকোণং কোমলবাচকম্। ⌐ পতাকা তীব্রবোধিকা।

<-দক্ষাবর্ত্তকোণং বিক্ষেপবোধকম্।

> তদ্বিপরীতন্তু প্রক্ষেপজ্ঞাপকম্।

〰 হিল্লোলাকৃতির্মূর্চ্ছ[illegible] ইত্যাদি।

কলাপে—

(৩)

পঞ্চাদৌ ঘুট্।

স্যাদীনামাদৌ পঞ্চ বচনানি ঘুট্সংজ্ঞানি ভবন্তি। যথা—

সি, ঔ, জস্, অম্, ঔ।

ঘুট্প্রদেশাঃ—ঘুটি চাসম্বুদ্ধাবিত্যেবমাদয়ঃ।

(৪)

জস্শসৌ নপুংসকে।

নপুংসকলিঙ্গে জস্শসৌ ঘুট্সংজ্ঞকৌ ভবতঃ। যথা—

সামানি তিষ্ঠন্তি। সামানি পশ্য।

(নপুংসকে জসেব ঘুড়িতি নিয়মাদ্বারিণী, জতুনী।)

(৫)

আমন্ত্রিতে সিঃ সম্বুদ্ধিঃ।

সিদ্ধস্যাভিমুখীকরণমামন্ত্রিতম্। তস্মিন্নর্থে বিহিতঃ সিঃ সম্বুদ্ধিসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

হে অম্ব, হে বৃক্ষ।

(৬)

আগম উদনুবন্ধঃ স্বরাদন্ত্যাৎ পরঃ।

প্রকৃতিপ্রত্যয়য়োরনুপঘাতী আগমঃ। আগম উদনুবন্ধোঽন্ত্যাৎ স্বরাৎ পরঃ পরিভাষ্যতে। যথা—

পদ্মানি, পয়াংসি।

গান্ধর্ব্বে—

(৩)

ত্রীণ্যাদীনি মুখ্যানি।

একমাত্রাদীনি ত্রীণি চিহ্নানি মুখ্যমাত্রাসংজ্ঞকানি ভবন্তি।
। (একমাত্রম্), ।। (দ্বিমাত্রম্), ।।। (ত্রিমাত্রম্)।

(৪)

একদ্বয়োঃ হ্রস্বদীর্ঘৌ।

একমাত্রদ্বিমাত্রয়োঃ হ্রস্বদীর্ঘসংজ্ঞে ভবতঃ যথাসঙ্খ্যম্।
একো হ্রস্বঃ। দ্বৌ দীর্ঘৌ।

(৫)

আমন্ত্রিতে প্লুতঃ সম্বুদ্ধিঃ।

সিদ্ধস্যাভিমুখীকরণমামন্ত্রিতম্। তস্মিন্নর্থে বিহিতঃ প্লুতঃ সম্বুদ্ধিসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

আগচ্ছ ভো দেবদত্ত অত্র, তিষ্ঠ ভো যজ্ঞদত্ত ইহ ইত্যাদি।

(৬)

শ্রুতিস্বরয়োরনুপঘাত্যলঙ্কারশ্চাগমঃ।

প্রকৃতিপ্রত্যয়য়োঃ শ্রুতিস্বরয়োরনুপঘাতী অনিষ্টকারী যোঽলঙ্কারঃ সঃ আগমসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

গমক-তান-কৃন্তনাদয়শ্চৈতেঽলঙ্কারা আগমরূপিণো ভবন্তি।

কলাপে—

(৭)

স্মৈ সর্ব্বনাম্নঃ।

অকারান্তাৎ সর্ব্বনাম্নো লিঙ্গাৎ পরস্য ঙে-বচনস্য স্মৈ ভবতি। যথা—

সর্ব্বস্মৈ, বিশ্বস্মৈ। কিন্তুৎ সর্ব্বনাম। সর্ব্ব, বিশ্ব, উভ, উভয়, অন্য, অন্যতর, ইতর, ডতর, ডতম ইত্যাদি।

(৮)

নান্যৎ সার্ব্বনামিকম্।

চকারোঽনুবর্ত্ততে। দ্বন্দ্বস্থস্য সর্ব্বনাম্নো লিঙ্গস্যোক্ত-মন্যচ্চ সার্ব্বনামিকং কার্য্যং ন ভবতি। যথা—

পূর্ব্বাপরায়, পূর্ব্বাপরাৎ, দক্ষিণোত্তরপূর্ব্বাণাম্।

গান্ধর্ব্বে—

(৭)

গ্রামাশ্রিতাঃ সর্ব্বনামানঃ।

সর্ব্বে গ্রামাশ্রিতাঃ গ্রামানুগতাঃ স্বরাদয়ঃ সর্ব্বনামসংজ্ঞাঃ ভবন্তি।

(৮)

তেষু ভ্রষ্টেষু ন সার্ব্বনামিকম্।

তেষু স্বরাদিভ্রষ্টেষু গ্রামাতিক্রান্তেষু চ সার্ব্বনামিকং কার্য্যং ন ভবতি। গ্রামাতিক্রান্তেষু একস্মাদ্গ্রামাদন্যস্মিন্ গ্রামে গতেষ্বপীত্যর্থঃ।

গান্ধর্ব্বে—

অথ নাদলক্ষণম্।

ন নাদেন বিনা গীতং ন নাদেন বিনা স্বরঃ।
ন নাদেন বিনা রাগস্তস্মান্নাদাত্মকং জগৎ॥ ইতি।

(৯)

স হৃৎকণ্ঠশিরোভ্যশ্চোৎপন্নঃ।

স নাদঃ হৃৎকণ্ঠশিরোভ্যঃ স্থানত্রয়েভ্যশ্চোৎপন্নো ভবতি।
যথা সঙ্গীতার্ণবে সুধাকরঃ—

স হৃৎকণ্ঠশিরোভ্যশ্চ ত্রিস্থানেভ্যো যথাক্রমম্।
দ্বাবিংশতিবিভাগেন শ্রুতিরূপোঽভবৎ সদা॥
হৃৎকণ্ঠশির ইত্যেষাং দ্বিগুণাদুত্তরোত্তরম্।
প্রত্যেকং স্থানমেতচ্চ দ্বাবিংশতিবিধং ভবেৎ॥
হৃদূর্দ্ধনাড়িকালগ্না নাড্যো দ্বাবিংশতিঃ শুভাঃ।
তাশ্চ বক্রাস্তথোর্দ্ধস্থা ধ্বনয়ো মরুদাহতাঃ॥
এতে তু ধ্বনিভেদাঃ স্যুঃ শ্রবণাৎ শ্রুতিসংজ্ঞিতাঃ।
উচ্চোচ্চভাবমাপন্নাঃ দ্বিগুণাদুত্তরোত্তরম্॥

গান্ধর্ব্বে—

(১০)

নাদাচ্চ শ্রুতয়ঃ।

নাদাৎ শব্দাৎ দ্বাবিংশতিঃ শ্রুতয়ো জাতাঃ। তথাচ গীতনারায়ণে—

নাদাচ্চ শ্রুতয়ো জাতাস্তাভ্যঃ ষড়্জাদয়ঃ স্বরাঃ।
তেভ্যঃ স্যুর্মূর্চ্ছনাস্তাভ্যস্তানাখ্যাঃ গ্রামসম্ভবাঃ॥ ইতি

(১১)

শ্রবণগ্রাহ্যত্বাদ্ধ্বনিরেব শ্রুতিঃ।

শ্রবণেন্দ্রিয়গ্রহণযোগ্যত্বাদ্ধ্বনিরেব শ্রুতিসংজ্ঞো ভবতি। তথাচ সঙ্গীতসুধাকরে—

শ্রবণেন্দ্রিয়গ্রাহ্যত্বাদ্ধ্বনিরেব শ্রুতির্ভবেৎ।
সৈব দ্বাবিংশতির্জ্ঞেয়া স্বরক্রমবিভাগতঃ॥
নিয়তাঃ শ্রুতয়ঃ সর্ব্বাঃ স্বরগুণপ্রকাশিকাঃ।
তস্মাৎ স্বরগতা জ্ঞেয়াঃ শ্রুতয়ঃ শ্রুতিবেদিভিঃ॥

গান্ধর্ব্বে—

অন্যচ্চ—

(১২)

নাদদ্বাবিংশতিভেদাঃ শ্রুতয়ঃ।

নাদদ্বাবিংশতিপ্রকারা ভেদাঃ শ্রুতয়ো ভবন্তি। তথাচ নারদঃ—

নাদদ্বাবিংশতিভেদাঃ শ্রুতয়ঃ পরিকীর্ত্তিতাঃ।
ক্রমাদুচ্চোচ্চতাযুক্তা বীণয়া চ সুলক্ষিতাঃ॥
তারবীণাধরৈশ্চৈব সুব্যক্তো জায়তে কিল।
কফাদিদুষ্টকণ্ঠে চ শ্রুতিব্যক্তো ন জায়তে।
স্বরমণ্ডলযন্ত্রাদৌ দর্শয়ন্তি সুশিক্ষিতাঃ॥

অন্যচ্চ—

(১৩)

শ্রুতিভিঃ স্বরাঃ প্রতিভান্তি।

শ্রুতিভিঃ ষড়্জাদিসপ্তস্বরাঃ প্রতিভান্তি, অর্থাৎ স্বকীয়াঃ প্রতিভাঃ প্রকাশয়ন্তি। তথাচ নারায়ণঃ—

নরাণান্তু মুখং যদ্বদ্দর্পণেন বিকাশিতম্।
প্রতিভান্তি স্বরাস্তদ্বৎ শ্রুতিভিঃ সহ যোগতঃ॥
ষড়্জাদয়ঃ স্বরাঃ সর্ব্বে দীপ্যন্তে শ্রুতিভিঃ সহ।
অন্ধকারস্থিতো যদ্বৎ প্রদীপেন ঘটাদয়ঃ॥

গান্ধর্ব্বে—

(১৪)

স্বরাঃ শ্রুতীনাং পরিণামাঃ।

ষড়্জাদয়ঃ স্বরাঃ সর্ব্বে শ্রুতীনাং পরিণামাঃ স্মৃতাঃ কথিতা-ইত্যর্থঃ। তথাচোক্তং মতঙ্গেন—

শ্রুতীনাঞ্চ স্বরাঃ সর্ব্বে পরিণামগতাঃ স্মৃতাঃ।
পরিণামে যথা ক্ষীরং দধিরূপেণ সর্ব্বদা॥

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-ঠাকুরোপাধিক-শ্রীনন্দকুমারজ-সঙ্গীতনায়ক-শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-গান্ধর্ব্ববৃত্তৌ নাম্নি গান্ধর্ব্বচতুষ্টয়ে প্রথমঃ পাদঃ সমাপ্তঃ।

চতুষ্টয়বৃত্তিঃ।

দ্বিতীয়ঃ পাদঃ।

গান্ধর্ব্বে—

(১)

যমাশ্রিত্য ষট্ স্বরা ব্যক্তাঃ স গ্রামঃ।

যং স্বরমাশ্রিত্য অবলম্ব্য ষট্ স্বরা ব্যক্তা ভবন্তি স গ্রামঃ কথ্যতে সর্ব্বৈর্ভরতাদিমহর্ষিভিঃ।

(২)

স্বরাণাং সূক্ষ্মভাবসংযোগি গ্রামঃ।

ষড়্জাদিসপ্তস্বরাণাং সূক্ষ্মভাবসংযোগি যৎ স্থানং তদ্‌গ্রামসংজ্ঞস্তবতি। যথা—

ষড়্জগ্রামে অন্যে স্বরাঃ সূক্ষ্মভাবসংযোগরূপেণ চ স্থিতা-ইত্যর্থঃ। তথাচ নারায়ণঃ—

স্বরাণাং সূক্ষ্মভাবসংযোগি যৎ তৎ স্থানং গ্রাম উচ্যতে।

-গান্ধর্ব্বে—

(৩)

স্থব্যবস্থাসমূহো গ্রামঃ।

স্বরাণাং ষড়্জাদিসপ্তস্বরাণাং স্থব্যবস্থাসমূহো গ্রামঃ কথ্যতে ইতি শেষঃ। যথা—

ষড়্জগ্রামে অপরাঃ স্বরাঃ স্থব্যবস্থারূপেণ চ প্রতিবসন্তি। তথাচ রত্নাকরে—

স্বরাণাঞ্চ স্থব্যবস্থাসমূহো গ্রাম ইষ্যতে।

বিশেষতঃ সুধাকরে চ—

যথা কুটুম্বিনঃ সর্ব্বে একীভূতা বসন্তি হি।
সর্ব্বলোকেষু স গ্রামস্তথা নিত্যং ব্যবস্থিতঃ॥ ইতি।

অপরঞ্চ—

(৪)

শ্রুতিস্বরমূর্চ্ছনানামাশ্রয়ো গ্রামঃ।

যঃ শ্রুতিস্বরমূর্চ্ছনানামাশ্রয়ীভূতঃ সঃ গ্রামসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

ষড়্জগ্রামো যঃ স তদ্গ্রামস্থিতশ্রুতিস্বরমূর্চ্ছনানামাশ্রয়ীভূতঃ। যথা নারদসংহিতায়াম্—

স্বরাণাং মূর্চ্ছনানাঞ্চ শ্রুতীনাঞ্চ বিশেষতঃ।
এতেষামাশ্রয়ো গ্রামো বিদ্বদ্ভিঃ পরিকীর্ত্তিতঃ॥

তথাহি রত্নাকরে—

গ্রামঃ স্বরসমূহানাং মূর্চ্ছনাদেঃ সমাশ্রয়ঃ।

গান্ধর্ব্বে—

অথ সঙ্গীতস্বরসাধ্যপ্রকরণম্।

তত্রাদৌ ষড়্জাদিগ্রামত্রয়ী।

(৫)

সমগাশ্চ ত্রয়ো গ্রামাঃ।

ষড়্জমধ্যমগান্ধারাশ্চ ত্রয়ঃ স্বরাঃ ক্রমেণ গ্রামসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

ষড়্জগ্রামো মধ্যমগ্রামো গান্ধারগ্রামশ্চ।

গ্রামস্ত্রিবিধো যথা রত্নাবল্যাম্—

ত্রয়গ্রামা নিগদিতা ঘোরো মন্দ্রশ্চ তারকঃ।
ষড়্জমধ্যমগান্ধারগ্রামাস্ত্রিভয়সংজ্ঞিতাঃ॥

কেচিচ্চলবীণামধিকৃত্যাহুঃ—

নাভিমধ্যে স্থিতো ঘোরো মন্দ্রকো হৃদয়স্থিতঃ।
শিরোগতস্তথা তারস্ত্রয়ো গ্রামা ইমে স্মৃতাঃ॥

গান্ধর্ব্বে—

প্রথমতঃ ষড়্জগ্রামলক্ষণম্।

(৬)

প নির্ব্বিকারী যদ্গ্রামে তদ্গ্রামঃ ষড়্জঃ স্মৃতঃ।

যংস্বরগ্রামে কৃতে পঞ্চমো নির্ব্বিকারী ভবতি, সঃ ষড়্জগ্রামঃ স্মৃতঃ কথিত ইত্যর্থঃ। *

অস্মিন্ শ্রুতিবিবরণং যথা রত্নাকরে—

চতস্রঃ পঞ্চমে ষড়্জে মধ্যমে চ তথা মতাঃ।
ঋষভে ধৈবতে তিস্রো দ্বে গান্ধারনিষাদয়োঃ॥

তদুদাহরণং যথা—

সা.... ঋা.... গ.... মা.... পা.... ধা.... নি....

ষড়্জগ্রামে মূর্চ্ছনালক্ষণম্।

যথা নারায়ণে—

আদি-দ্বি-ত্রি-চতুঃ-পঞ্চ-ষট্-সপ্তস্বপি তা মতাঃ।
ষড়্জান্নিষাদপর্য্যন্তং নিষাদাদ্ধৈবতান্তকম্।
ধৈবতাৎ পঞ্চমান্তস্ত পঞ্চমান্মধ্যমান্তকম্।
গান্ধারান্তং মধ্যমাৎ স্যাদ্গান্ধারাদৃষভান্তকম্।
ঋষভাৎ সান্তমিত্যাহুঃ ষড়্জগ্রামস্য মূর্চ্ছনা॥

---

* তথাচ রত্নাকরে—পঞ্চমশ্চেন্নির্ব্বিকারী ষড়্জগ্রামঃ স উচ্যতে।
তথাচ দর্পণে——ষড়্জগ্রামঃ পঞ্চমে তু চতুর্থশ্রুতিসংস্থিতে।

গান্ধর্ব্বে—

অথোদাহরণং যথা—

সঁ ঋ গ ম প ধ নি চ,

নি স ঋ গ ম চ, গ ম প ধ নীত্যস্তঞ্চ।

ইতি ষড়্জগ্রামমূর্চ্ছনা।

ষড়্জগ্রামে শব্দাঃ।

		একবচনম্	দ্বিবচনম্	বহুবচনম্
।	একমাত্রা	স	স ঋ	স ঋ স স
॥	দ্বিমাত্রা	স	স ঋ	স ঋ গ স
॥।	ত্রিমাত্রা	স	স গ	স ঋ গ ম স
৺	অর্দ্ধমাত্রা	সঁ	সঁ মঁ	সঁ ঋঁ গঁ মঁ পঁ সঁ সঁ
×	পাদমাত্রা	স	স প	স ঋ গ ম প ধ স স
⬭	পাদার্দ্ধমাত্রা	স	স ধ	স ঋ গ ম প ধ নি স স
✿	পাদপাদমাত্রা	সঁ	স নি	স ঋ গ ম প ধ নি স স

গান্ধর্ব্বে—

(৭)

ঋষভঃ পঞ্চমো যত্র স গ্রামো মধ্যমঃ স্মৃতঃ।

যত্র গ্রামে ঋষভঃ পঞ্চমো ভবতি, সঃ মধ্যমগ্রামঃ স্মৃতঃ কথিত ইত্যর্থঃ।

তথা পক্ষান্তরে চ—

অর্দ্ধকোমলধো গশ্চ কোমলো নিশ্চ মধ্যমঃ।
এবং গ্রামো ভবেদ্‌যত্র স গ্রামো মধ্যমঃ স্মৃতঃ॥

যত্রার্দ্ধকোমলধৈবতো গান্ধারঃ পূর্ণকোমলনিষাদশ্চ মধ্যমো ভবতি, তত্র যঃ গ্রামঃ স মধ্যমগ্রামঃ স্মৃতঃ কথিত-ইত্যর্থঃ।

মধ্যমগ্রামে শ্রুতিনিয়মো যথা রত্নাকরে—

ষোপান্তে শ্রুতিসংস্থেঽস্মিন্মধ্যমগ্রাম ইষ্যতে।
যদ্বা ধস্ত্রিশ্রুতিঃ ষড়্‌জে মধ্যমে তু চতুঃশ্রুতিঃ।
তদা তু মধ্যমগ্রামো বিজ্ঞেয়ো মুনিসম্মতঃ॥ ইতি।

তদুদাহরণং যথা—

সা... পা... ধ... নি... সা... ঋা... গ...
ম ঋ গ ম প ধ নি

পক্ষান্তরে চ—

সা... ঋা... গ... মা... পা... ধ... নি...
ধ নি

গান্ধর্ব্বে—

অথ মধ্যমগ্রামে মূর্চ্ছনালক্ষণমাহ সঙ্গীতনারায়ণে মতঙ্গঃ—

অথোচ্যতে জ্ঞাপনার্থং মধ্যমগ্রামমূর্চ্ছনা।
মাদ্যান্তং গান্ধর্ভান্তম্ ঋষভাৎ সান্তমিষ্যতে।
সাদ্যন্তং নৈর্ধৈবতান্তং ধাৎ পান্তং পাদ্যান্তকং তথেতি॥

তদুদাহরণম্—

ম প ধ নি স ঋ গ চ, গ ম প ধ নি স ঋ চ,
ধ নি স ঋ গ ম প চ, প ধ নি স ঋ গ ম চ।

অথ মধ্যমগ্রামশব্দাঃ।

	একবচনম্	দ্বিবচনম্	বহুবচনম্
। একমাত্রা	ম	ম ম	ম প ম
॥ দ্বিমাত্রা	ম	ম প	ম প ধ ম
⁝ ত্রিমাত্রা	ম	ম ধ	ম প ধ নি ম
˘ অর্দ্ধমাত্রা	ম	ম নি	ম প ধ নি স ম ম
× পাদমাত্রা	ম	ম স	ম প ধ নি স ঋ ম ম ম
○ পাদার্দ্ধমাত্রা	ম	ম ঋ	ম প ধ নি স ঋ গ ম ম ম ম ম ম
✲ পাদপাদমাত্রা	ম	ম গ	ম প ধ নি স ঋ গ ম ম ম ম ম ম ম

অন্যেষু শব্দেষ্বেবং জ্ঞেয়মিতি।

গান্ধর্ব্বে—

(৮)

গঃ পঞ্চমো ভবেদ্‌যত্র স গ্রামস্তৃতীয়ঃ স্মৃতঃ।

যত্র গ্রামে গান্ধারঃ পঞ্চমো ভবতি, স তৃতীয়গ্রামঃ স্মৃতঃ অর্থাদ্গান্ধারগ্রামঃ কথিত ইত্যর্থঃ।

পক্ষান্তরে চ—

যদ্‌গ্রামনির্ণয়ে পশ্চাৎ কোমলাঃ ষট্ স্বরাঃ স্থিতাঃ।
গান্ধারঃ স সমাখ্যাতস্তৃতীয়গ্রামনিশ্চয়ে॥

যদ্‌গ্রামস্য নির্ণয়ে নিরূপণে ষট্ স্বরাঃ কোমলা ভবন্তি, সঃ গান্ধারগ্রামঃ সমাখ্যাতঃ কথিত ইত্যর্থঃ।

তথাচ দর্পণে—

ঋষয়োঃ শ্রুতিমেকৈকাং গান্ধারশ্চেৎ সমাশ্রিতঃ।
পশ্রুতিকো নিষাদস্তু শ্রুতিং সশ্রুতিমাশ্রিতঃ।
গান্ধারগ্রামমাচষ্টে তদা তং নারদো মুনিঃ॥

তদুদাহরণং যথা—

গা...	মা...	পা...	ধা...	নি...	সা...	ঋা...
স	ঋ	গ	ম	প	ধ	নি

পক্ষান্তরে চ—

স ঋ গ ম প ধ নি

গান্ধর্ব্বে—

অথ গান্ধারগ্রামমূর্চ্ছনা ।

অথ নিরূপ্যতে পশ্চাদ্গান্ধারগ্রামমূর্চ্ছনা ।
গান্ধারাদৃষভান্তন্ত ঋষভাৎ সান্তমিষ্যতে ।
সাদ্যন্তং নের্ধৈবতান্তং ধৈবতাৎ পান্তমেব চ ।
পঞ্চমান্মধ্যমান্তন্ত মধ্যমাদ্গান্তকং তথা ।
এবংক্রমেণ জানীয়াদ্গান্ধারগ্রামমূর্চ্ছনাম্ ॥

অথ গান্ধারগ্রামশব্দাঃ ।

	একবচনম্	দ্বিবচনম্	বহুবচনম্
। একমাত্রা	গ	গ ম	গ ম গ গ
॥ দ্বিমাত্রা	গ	গ ম	গ ম প গ গ
৷৷৷ ত্রিমাত্রা	গ	গ প	গ ম ধ গ গ গ
ᵕ অর্দ্ধমাত্রা	গঁ	গঁ ধঁ	গঁ মঁ ধঁ ধঁ নিঁ গঁ গঁ গঁ
× পাদমাত্রা	গ	গ নি	গ ম ধ ধ নি ঋ গ গ গ
○ পাদার্দ্ধমাত্রা	গ	গ স	গ ম ধ ধ ধ নি ঋ গ গ গ গ গ গ
* পাদপাদমাত্রা	গ	গ ঋ	গ ম ধ ধ নি ঋ স গ গ গ গ গ গ গ

গান্ধর্ব্বে—

অথ মূর্চ্ছনালক্ষণম্।

(৯)

অনুলোমবিলোমক্রমেণৈকবিংশতির্মূর্চ্ছনাঃ গ্রামত্রয়ে সপ্তসপ্তবিভাগে চ।

অনুলোমবিলোমক্রমেণ ষড়্জাদিগ্রামত্রয়ে সপ্তসপ্তবিভাগ-রূপে চৈকবিংশতির্মূর্চ্ছনাঃ ভবন্তি। যথা ষড়্জগ্রামে সপ্ত, মধ্যমগ্রামে সপ্ত, গান্ধারগ্রামে চ সপ্ত, এবংক্রমেণ ত্রিসপ্তকে একবিংশতির্মূর্চ্ছনাঃ জ্ঞেয়াঃ।

তথাচ দর্পণে—

ক্রমাৎ স্বরাণাং সপ্তানামারোহশ্চাবরোহণম্।
মূর্চ্ছনাপ্যুচ্যতে গ্রামত্রয়ে তাঃ সপ্ত সপ্ত চ।
স্থানত্রয়সমাযোগে মূর্চ্ছনারম্ভসম্ভবঃ॥

অনুলোমবিলোমম্ আরোহণাবরোহণম্। অর্থাৎ ষড়্জ-মারভ্য নিষাদপর্য্যন্তমারোহং, এবং নিষাদমারভ্য ষড়্জপর্য্যন্ত-মবরোহঃ।

গান্ধর্ব্বে—

(১০)

সংজ্ঞাভিঃ শ্রুতিভিশ্চ স্বরো গ্রামং প্রতিগ্রামং সপ্তসপ্তমূর্চ্ছনাঃ।

সংজ্ঞাভিঃ সহ শ্রুতিভিশ্চ স্বরঃ গ্রামত্বং প্রাপ্নোতি প্রতিগ্রামং সপ্তসপ্তমূর্চ্ছনাঃ।

তথাচ সঙ্গীতসুধাকরে মতঙ্গঃ—

সংজ্ঞাভিঃ শ্রুতিভিশ্চৈব স্বরো গ্রামত্বমাগতঃ।
সপ্তৈব মূর্চ্ছনাশ্চাত্র প্রতিগ্রামং প্রকীর্ত্তিতাঃ॥

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-ঠাকুরোপাধিক-শ্রীমদ্ধরকুমারজ-সঙ্গীতনায়ক-শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-গান্ধর্ব্ববৃত্তৌ নাম্নি চতুষ্টয়ে দ্বিতীয়ঃ পাদঃ সমাপ্তঃ।

চতুষ্টয়বৃত্তিঃ।

তৃতীয়ঃ কারকপাদঃ।

কলাপে—

(১)

অব্যয়াচ্চ।

অব্যয়মসঙ্খ্যম্। অব্যয়াচ্চ বিভক্তীনাং লুগ্ ভবতি। যথা—

স্বঃ, প্রাতঃ, চ, বা, অহ, প্র, পরা। এবমন্যেঽপি। তথাচাহ—

সদৃশং ত্রিষু লিঙ্গেষু সর্ব্বাসু চ বিভক্তিষু।
বচনেষু চ সর্ব্বেষু যন্ন ব্যেতি তদব্যয়ম্॥ ইতি।

স্বরাদ্যব্যয়াদ্বিভক্তের্লুক্।

শশ্বৎ সম দ্রাঙ্মনাগপি।

স্বরাদিঃ প্রাদিরূর্য্যাদিরাবতের্দ্ধাদিতদ্ধিতাঃ।
বিভক্ত্যাভাঃ ক্ত্বামসন্ধ্যক্ষরান্তকাঃ কৃতোঽব্যয়াঃ॥

স্বঃ জোষম্, প্র পরা চ হি বা, উরী উররী উররী, আবিঃ প্রাদুঃ, ধিধেত্যাদি। বিভক্তিপ্রতিরূপকাঃ—অকস্মাৎ অমুস্মিন্ অস্তি ভাতি, কৃত্বা গন্তুম্ পরিস্তরিতবৈ, কে অবগাহে ইত্যাদয়ঃ। *

---

* বিদ্বৎকুলপদ্মভাস্করেণ মৎপূর্ব্বপুরুষমহামহোপাধ্যায়শ্রীশ্রীমৎপুরুষোত্তম-বিদ্যাবাগীশভট্টাচার্য্যেণ বিরচিতপ্রয়োগরত্নমালাভিধেয়ব্যাকরণগ্রন্থাৎ প্রকরণমুদ্ধৃত-মেতৎ।

গান্ধর্ব্বে—

(১)

মনুষ্যাদিভিরসঙ্গীতাঃ সাধারণাশ্চাব্যয়াঃ।

অসঙ্গীতাঃ সঙ্গীতস্বরভিন্না মনুষ্যাদিভির্মনুষ্যপশুপক্ষিপ্রভৃতিভিরুচ্চারিতাঃ সাধারণাঃ শব্দাঃ অর্থাৎ স্বভাবসম্ভূতা যে নাদাস্তে অব্যয়া ভবন্তি।

তথাচাহ—

গীতে বাদ্যে তথা নৃত্যে* ত্রৈবিধ্যে সঙ্গতেঽপি চ।
সাধারণং নরাদীনাং যন্ন যুক্তং তদব্যয়ম্॥ ইতি।

এবমব্যয়াচ্চ বিভক্তের্লুক্।

এবম্ভূতাদব্যয়াদব্যয়স্বরাদ্বিভক্তের্মাত্রায়াশ্চ লুগ্‌ভবতি, অর্থাৎ সঙ্গীতস্বরব্যতিরিক্তে মাত্রা কুত্রাপি ন ভিদ্যেদিতি তাৎপর্য্যার্থঃ।

---

* নৃত্যেঽপি নরাদীনাং সাধারণধ্বনেরসংযোগো ভবতীতি যদনেন প্রতিপাদিতং, তৎ স্পষ্টার্থমিতি ভাবঃ।

কলাপে—

(২)

প্রাদয়স্তত্র—

প্র-পরাপ-সমন্বব-নির্-দুরভি-
ব্যধি-সূদতি-নি-প্রতি-পর্য্যপয়ঃ।
উপ আঙিতি বিংশতিরেষ সখে
উপসর্গবিধিঃ কথিতঃ কবিনা॥

তদযথা—

প্র, পরা, অপ, সম্, অনু, অব, নির্, দুর্, অভি,
বি, অধি, সু, উৎ, অতি, নি, প্রতি, পরি, অপি,
উপ, আঙ্। ইতি।

অত্র তু দ্বাবিংশতিরুপসর্গা ইতি পাণিনিঃ। *

---

* কলাপোক্ত-বিংশত্যুপসর্গৈঃ সহ গান্ধর্ব্বোক্ত-দ্বাবিংশত্যুপসর্গসম্বন্ধে সম্ভাগতবিরোধাপত্তিমাশঙ্ক্যাহ অত্র তু দ্বাবিংশতিরুপসর্গা ইতি। তথাচ— পাণিনিমতে নিস্ দুস্ ইত্যেতাবেব উপসর্গৌ। মহাভাষ্য-বামনবৃত্তি-মনোরমা-হরদত্তাদিটীকামতে তু নির্ দুর্ ইত্যেতাবপি রেফান্তৌ পৃথক্ উপসর্গৌ স্তঃ; "[illegible]" ইতি ভাষ্য-বিবরণাচ্চ।

গান্ধর্ব্বে—

(২)

সঙ্গীতে দ্বাবিংশতিরুপসর্গাঃ।

সঙ্গীতে সঙ্গীতশাস্ত্রমতে তু দ্বাবিংশতিশ্রুতয়ঃ সর্ব্বা-অপ্যুপসর্গসংজ্ঞা ভবন্তি।

যথাহি রত্নাকরে—

তীব্রা-কুমুদ্বতী-মন্দা-চ্ছন্দোবত্যস্তু ষড়্জগাঃ।
দয়াবতী রঞ্জনী চ রতিকা চর্ষভে স্থিতাঃ॥
রৌদ্রী ক্রোধী চ গান্ধারে, বজ্রিকাথ প্রসারিণী।
প্রীতিশ্চ মার্জ্জনী চৈব শ্রুতয়ো মধ্যমে স্থিতাঃ॥
ক্ষিতী রক্তা চ সন্দীপন্যালাপন্যপি পঞ্চমে।
মদন্তী রোহিণী রম্যেত্যেতাস্তিস্রস্তু ধৈবতে।
উগ্রা চ ক্ষোভিণীতি দ্বে নিষাদে কথিতা বুধৈঃ॥

তদ্যথা—

তীব্রা, কুমুদ্বতী, মন্দা, ছন্দোবতী;
দয়াবতী, রঞ্জনী, রতিকা;
রৌদ্রী, ক্রোধী;
বজ্রিকা, প্রসারিণী, প্রীতিঃ, মার্জনী;
ক্ষিতিঃ, রক্তা, সন্দীপনী, আলাপনী;
মদন্তী, রোহিণী, রম্যা;
উগ্রা, ক্ষোভিণী। ইতি।

গান্ধর্ব্বে—

অথ শুদ্ধকাকলীবিবরণম্।

(৩)

যস্মিন্ স্বরে যে চোক্তাস্তে শুদ্ধাঃ।

যস্মিন্ যস্মিন্ স্বরে যে যে শ্রুতয়শ্চোক্তাঃ কথিতাস্তত্তৎ-শ্রুতিবিশিষ্টাঃ স্বরাঃ শুদ্ধস্বরা ভবন্তি। যথা—

সা ঋা গা মা পা ধা নি!

এতে শুদ্ধস্বরাঃ।

(৪)

শুদ্ধানাং বিভাগে বিকৃতা দ্বাদশ।

শুদ্ধস্বরাণাং শ্রুতিবিভাগে কৃতে সতি দ্বাদশ স্বরাঃ সর্ব্বে বিকৃতা ভবন্তি। যথা—

স ঋঁ ঋ গঁ গ ম মঁ প ধঁ ধ নি নি।

তথাচ দর্পণে—

শুদ্ধাঃ শুদ্ধাদিভেদেন বিকৃতা দ্বাদশোদিতাঃ। ইত্যাদি।

বিশেষতঃ সুধাকরে—

যস্তু কাদশব্দবন্নির্দ্দিষ্টঃ প্রতীয়তে স কাকলী, যেন মহতা ক্রমেণ তারতম্যাদিভিঃ সূক্ষ্মস্বরো জায়তে। সূক্ষ্মঃ কৃশঃ অর্থাৎ-পরিচালিতলিকণীয়ো ভবস্বর ইতি ভাবঃ।

বিশেষতঃ উচ্চারণব্যতিক্রমাদনন্যবৃত্তস্বদীর্ঘোচ্চারণং কাকলী।

গান্ধর্ব্বে—

(৫)

বিভাগেন দাতৃগ্রহীত্রোঃ প্রকৃতিনাশাত্তদ্ভবৌ।

বিভাগেন শ্রুতিবিভাগক্রমেণ শ্রুতিদাতৃগ্রহীত্রোঃ স্বকীয়-প্রকৃতিবিনাশাত্তদ্ভবৌ দাতাগ্রহীতারৌ বিকৃতাবর্থাৎ কোমলৌ ভবতঃ।

(৬)

ষড়্জাদৃঃ কোমলঃ।

ষড়্জাৎ ষড়্জস্বরাৎ শ্রুতিগ্রহণাৎ ঋঃ ঋষভঃ কোমল-স্বরো ভবতি। যথা—

কোমল-ঋষভঃ

(ঋঁ)।

(৭)

ঋষভাদ্গঃ।

ঋষভাৎ ঋষভস্বরাৎ শ্রুতিগ্রহণাদ্গঃ গান্ধারঃ কোমল-স্বরো ভবতি। যথা—

কোমল-গান্ধারঃ

(গঁ)।

গান্ধর্ব্বে—

(৮)

পঞ্চমাত্তীব্রমধ্যমঃ ।

পঞ্চমাৎ পঞ্চমস্বরাৎ শ্রুতিগ্রহণাৎ মধ্যমস্তীব্রমধ্যমস্বরো ভবতি । যথা—

তীব্র-মধ্যমঃ

(র্ম) ।

(৯)

পঞ্চমাদ্ধঃ ।

পঞ্চমাৎ পঞ্চমস্বরাৎ শ্রুতিগ্রহণাৎ ধো ধৈবতঃ কোমল-স্বরো ভবতি । যথা—

কোমল ধৈবতঃ

(র্ধ) ।

(১০)

ধৈবতান্নিঃ ।

ধৈবতাৎ ধৈবতস্বরাৎ শ্রুতিগ্রহণাৎ নির্নিষাদঃ কোমল-স্বরো ভবতি । যথা—

কোমল-নিষাদঃ

(র্নি) ।

অথ ষট্ কারকাঃ।

গান্ধর্ব্বে—

(১)

গন্যৌ ত্যক্ত্বা শ্রুতিভিরন্যেঽপ্যপাদানাদিভেদেন ষট্ কারকাঃ।

গান্ধারনিষাদৌ ত্যক্ত্বা শ্রুতিভিঃ সহ অন্যেঽপি স্বরা অপাদানাদিভেদেন ষট্কারকসংজ্ঞা ভবন্তি। যথা—

অপাদানং সম্প্রদানম্ অধিকরণং করণং কর্ত্তৃ কর্ম্ম চ।

কলাপে—

(২)

যতোঽপৈতি ভয়মাদত্তে বা, তদপাদানম্।

যস্মাদপৈতি, যস্মাদ্ভয়ম্ভবতি, যস্মাদাদত্তে বা, তৎ কারকমপাদানসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

বৃক্ষাৎ পত্রং পততি, ব্যাঘ্রাদ্বিভেতি, ইত্যাদি।

(৩)

যস্মৈ দিৎসা রোচতে ধারয়তে বা তৎ সম্প্রদানম্।

যস্মৈ দাতুমিচ্ছা যস্মৈ রোচতে যস্মৈ ধারয়তে বা, তৎ কারকং সম্প্রদানসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

ব্রাহ্মণায় গাং দদাতি, দেবদত্তায় রোচতে মোদকঃ, ইত্যাদি।

(৪)

য আধারস্তদধিকরণম্।

আধ্রিয়ন্তে ক্রিয়া যস্মিন্নিত্যাধারঃ। আধারো যস্তদধিকরণসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

কটে আস্তে, তিলেষু তৈলম্, ইত্যাদি।

গান্ধর্ব্বে—

(২)

যস্মাৎ শ্রুতিং বিশ্লেষয়তি যদর্থেন তদপাদানম্।

যস্মাৎ স্বরাৎ যদর্থেন শ্রুতিং বিশ্লেষয়তি তৎ কারকমপাদানসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

ষড়্জাৎ শ্রুতিং বিশ্লেষয়তি ঋষভার্থেন, ইত্যাদি।

(৩)

যস্মৈ শ্রুতিং দদাতি যদর্থেন তৎ সম্প্রদানম্।

যস্মৈ স্বরায় যদর্থেন শ্রুতিং দদাতি তৎ কারকং সম্প্রদানসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

ঋষভো গান্ধারায় শ্রুতিং দদাতি, ইত্যাদি।

(৪)

যস্মিন্নস্তি তদধিকরণম্।

যস্মিন্ যস্মিন্ শ্রুতিরস্তি তৎ কারকমধিকরণসংজ্ঞম্ভবতি।

যথা—

ষড়্জে শ্রুতিরস্তি, ঋষভে শ্রুতিরস্তি, ইত্যাদি।

কলাপে—

(৫)

যেন ক্রিয়তে তৎ করণম্।

কর্ত্রা যেন ক্রিয়তে তৎ কারকং করণসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—
দাত্রেণ ধান্যং লুনাতি, মনসা মেরুং গচ্ছতি, ইত্যাদি।

(৬)

যৎ ক্রিয়তে তৎ কর্ম্ম।

কর্ত্রা যৎ ক্রিয়তে তৎ কারকং কর্ম্মসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—
কটং করোতি, গ্রন্থং পঠতি, ইত্যাদি।

(৭)

যঃ করোতি স কর্ত্তা।

যঃ ক্রিয়াং করোতি স কর্ত্তৃসংজ্ঞো ভবতি। যথা—
ছাত্রো গচ্ছতি, চৈত্রেণ কৃতম্, ইত্যাদি।

গান্ধর্ব্বে—

(৫)

যেন দীপ্যতে তৎ করণম্।

যেন স্বরো দীপ্যতে তৎ কারকং করণসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

শ্রুত্যা স্বরঃ প্রকাশতে দীপ্যতে ইত্যর্থঃ।

(৬)

যদ্বিভাগরূপং ক্রিয়তে তৎ কর্ম্ম।

শ্রুতিবিভাগরূপং যৎ ক্রিয়তে তৎ কারকং কর্ম্মসংজ্ঞম্ভবতি। যথা—

স্বরকর্ত্তা শ্রুতিবিভাগং করোতি।

(৭)

যঃ করোতি স কর্ত্তা।

যঃ শ্রুতির্বিভাগরূপাং ক্রিয়াং করোতি স কর্ত্তৃসংজ্ঞো ভবতি। যথা—

শ্রুতিঃ শুদ্ধস্বরং বিভজতি, শ্রুত্যা কোমলস্বরো বিভজ্যতে চ।

গান্ধর্ব্বে—

(৮)

স্বরাশ্চ বিশেষ্যাঃ।

ষড়্জাদয়ঃ সপ্ত স্বরাঃ সঙ্গীতে বিশেষ্যসংজ্ঞা ভবন্তি। উদাহরণং যথাক্রমেণ জ্ঞাতব্যমিতি।

(৯)

ভূষণানি বিশেষণানি।

ভূষণানি তান-গমক-কৃন্তন-মূর্চ্ছনাপ্রভৃত্যলঙ্কারাদীনি বিশেষণসংজ্ঞকানি ভবন্তি।

তদ্বিশেষো যথা—

(১০)

অলঙ্ক্রিয়তে যেন সঃ অলঙ্কারঃ।

বিশিষ্টস্বরসন্দর্ভমলঙ্কারম্প্রচক্ষতে।

তথাহি—কেঽপি বিলক্ষণবিশিষ্টস্বরসন্দর্ভং স্বরসমুদায়মলঙ্কারং প্রচক্ষতে। তথা চাহ মতঙ্গঃ—অলঙ্কারশব্দেন মণ্ডনমুচ্যতে, যথা কিরীটকেয়ূরাদিনা অলঙ্কারেণ নারী পুরুষো বা মণ্ডিতঃ সন্ শোভামাবহতি, তথৈবালঙ্কারৈঃ প্রসন্নাদিভিরলঙ্কৃতাঃ স্বরাঃ শ্রোতুঃ শ্রোত্রে সুখাবহা ভবন্তীতি ভাবঃ। প্রসন্নাদিভিঃ প্রসন্নতারমন্দ্রাদিভিরিত্যর্থঃ। এতৎ প্রপঞ্চিতং সুধাকরে।

ইতি বেদান্তদর্শন-ব্যাকরণ-সঙ্গীতাদি-নানাশাস্ত্রবিশারদ-ঠাকুরোপাধিক-
শ্রীমন্মহারাজকুমার-সঙ্গীতনায়ক-শ্রীমচ্ছৌরীন্দ্র-কৃত-
নাম্নি গান্ধর্ব্বচতুষ্টয়বৃত্তৌ
কারকপাদঃ সমাপ্তঃ।

চতুষ্টয়বৃত্তিঃ।

চতুর্থঃ সমাসপাদঃ।

গান্ধর্ব্বে—

(১)

একমাত্রাত্মকস্বরঃ শব্দম্।

একমাত্রাত্মকঃ একস্বরঃ শব্দমাপদ্যতে। যথা—

সা মা পা

একবন্তেহপি জ্ঞেয়া ইতি।

(২)

দ্বৌ বহবশ্চ পদম্।

মাত্রাযুক্তৌ দ্বৌ স্বরৌ মাত্রাযুক্তা বহবঃ স্বরাশ্চ সর্ব্বে পদমাপদ্যন্তে। যথা—

[illegible] মা পা হ। নি সা সা। ধা হ।

[illegible] সপ্তকান্তরেহপি জ্ঞেয়মিতি।

কলাপে,—

(৩)

নাম্নাং সমাসো যুক্তার্থঃ।

বস্তুবাচীনি নামানি মিলিতং যুক্তমুচ্যতে।

নাম্নাং যুক্তার্থঃ সমাসসংজ্ঞো ভবতি।

(৪)

তৎস্থাঃ লোপ্যা বিভক্তয়ঃ।

তৎস্থা যুক্তার্থমাত্রস্থা বিভক্তয়ো লোপ্যা ভবন্তি। যথা—

নীলোৎপলং, রাজপুরুষঃ।

ক্বচিন্ন লুপ্যতে অভিধানাদিত্যাদি।

(৫)

পদে তুল্যাধিকরণে বিজ্ঞেয়ঃ কর্ম্মধারয়ঃ।

যত্র সমাসে দ্বে পদে তুল্যাধিকরণে ভবতঃ স কর্ম্মধারয়ো বিজ্ঞেয়ঃ। যথা—

নীলঞ্চ তদুৎপলঞ্চেতি নীলোৎপলম্, ইত্যাদি।

গান্ধর্ব্বে—

(৩)

মাত্রাদীনাং সমাসো যুক্তার্থঃ ।

মাত্রা-লয়-স্বরালঙ্কার-যতি-প্রস্তারকাদীনাম্ মিলিতং যুক্ত-মুচ্যতে । মাত্রাদীনাং যুক্তার্থঃ সমাসসংজ্ঞো ভবতি ।

(৪)

সমাসে লোপ্যা বিভক্তয়ঃ ।

সমাসে কৃতে মাত্রাদীনাং যুক্তে কৃতে বিভক্তয়ো লোপ্যা-ভবন্তি । যথা—

সা ঋা গা মা পা

ক্বচিন্ন লুপ্যতে তালবিশেষাৎ ।

সা ঋা গা মা পা সা ইত্যাদি ।

(৫)

যন্ত্রকণ্ঠাদৌ মাত্রাবিশেষণয়োর্যোগে কতীনাং ব্যক্তৌ বিজ্ঞেয়ঃ কর্ম্মধারয়ঃ ।

যন্ত্রকণ্ঠাদৌ মাত্রাবিশেষণয়োর্যোগে কতীনাং স্বরাণাং ব্যক্তো যঃ সঃ কর্ম্মধারয়ো বিজ্ঞেয়ঃ ।

কলাপে—

(৬)

সংখ্যাপূর্ব্বো দ্বিগুরিতি জ্ঞেয়ঃ।

কর্ম্মধারয় ইতি সম্বন্ধঃ। যথা—

পঞ্চসু কপালেষু সংস্কৃত ওদনঃ পঞ্চকপাল ওদনঃ, পঞ্চ গাবো ধনমস্যেতি পঞ্চগবধনঃ, ইত্যাদি।

(৭)

বিভক্তয়ো দ্বিতীয়াদ্যা নাম্না পরপদেন তু।
সমস্যন্তে সমাসো হি জ্ঞেয়স্তৎপুরুষঃ স চ॥

অত্র সমাসে ইতি সম্বন্ধঃ। যথা—

কষ্টং শ্রিতঃ, কষ্টশ্রিতঃ। এবং নরকপতিতঃ, গ্রামগতঃ ইত্যাদি।

গান্ধর্ব্বে—

(৬)

সংখ্যা কতিপদে স্থিত্বা নানাতালরাগাণাং
যো ব্যক্তঃ স দ্বিগুরিতি জ্ঞেয়ঃ।

মাত্রাযুক্তাঃ সংখ্যাঃ সংখ্যাবাচকাঃ কতিপয়স্বরাঃ পদে স্থিত্বা অর্থাৎ পদরূপে ন্যস্তা নানাতালরাগমানানাং যো ব্যক্তঃ স দ্বিগুরিতি জ্ঞেয়ঃ।

(৭)

প্রাক্ দ্বিতীয়াদিমাত্রাযুক্তানি পরপদৈর্নৈকস্থেন
সমাসো হি জ্ঞেয়স্তৎপুরুষঃ স চ।

প্রাক্ পূর্ব্বপদানি দ্বিতীয়াদিমাত্রাযুক্তানি চেদেকস্থেন একমাত্রাযুক্তেন পরপদেন সহ সমাসো হি তৎপুরুষো জ্ঞেয়ঃ।

কলাপে—

(৮)

দ্বন্দ্বঃ সমুচ্চয়ো নাম্নোর্বহূনাং বাপি যো ভবেৎ।

যত্র সমাসে দ্বয়োর্নাম্নোর্বহূনাং বাপি নাম্নাং যঃ সমুচ্চয়ঃ স দ্বন্দ্বো ভবেৎ। যথা—

দেবদত্তশ্চ যজ্ঞদত্তশ্চ দেবদত্তযজ্ঞদত্তৌ, ধবখদিরপলাশাঃ, ইত্যাদি।

(৯)

পূর্ব্বং বাচ্যং ভবেদ্যস্য সোঽব্যয়ীভাব ইষ্যতে।

সমাসস্যেতি সম্বন্ধঃ। কারকে—স্ত্রীষ্বধিকৃত্য কথা প্রবৃত্তা অধিস্ত্রি। সমীপে—উপকুম্ভম্। ঋদ্ধৌ—সমুদ্রম্, ইত্যাদি।

গান্ধর্ব্বে—

(৮)

দ্বন্দ্বঃ সমুচ্চয়ঃ প্রথমৈকবচনযুক্তয়োঃ।
স্বপ্রধানয়োশ্চ দ্বয়োর্ব্বহূনাং বাপি যো ভবেৎ॥

যত্র সমাসে প্রথমৈকবচনযুক্তয়োরর্থাদেকমাত্রাত্মকয়োঃ স্বস্বপ্রধানয়োশ্চ দ্বয়োঃ পদয়োর্ব্বহূনাং বাপি প্রথমৈকবচনযুক্তানাং স্বস্বপ্রধানানাঞ্চ পদানাং সমুচ্চয়ঃ সমাযোগো যঃ সঃ দ্বন্দ্বো ভবেৎ।

(৯)

তালমাত্রাহীনাঃ কতিপয়স্বরাঃ শ্যামপক্ষ্যাদের্ধ্বনিনা যুক্তা যৎকৌতধ্বনির্ব্যক্তঃ সঃ অব্যয়ীভাব ইষ্যতে।

যস্মিন্-সমাসে ইতি সম্বন্ধঃ।— শ্যামপক্ষ্যাদেঃ শ্যাম-দোহল-চাতকাদেঃ। অস্যোদাহরণং বিশেষবিবরণঞ্চ নিম্নোক্তগার্ডিনার্-[illegible] ।*

---

* Unquestionably we derive many hints for musical composition from the *'song of earliest birds'*—from the sweet warble of their wood-notes wild. In the summer time, the inquisitive and restless robin is early up, to wake the morn—and the 'blackbird, with his *chink, chink*, mounts the towering ash, to wake the day.'

The lark is in the air, and at 'Heaven's gate sings'; while the throstle on the tree,

——With warbling tune
Welcomes in sweet rosy June.

The Music of Nature (*Pages* 221 *and* 222)
By William Gardiner.

The sounds which in insects produce are numerous and curious. It is, probably, not generally known, that the noises which are supposed to proceed from their vocal organs are actually made by rubbing their legs together, or by the motion of their wings.

If we reflect for a moment upon that humming sound, which we hear from a cloud of insects overhead, in a summer's evening, we cannot suppose it proceeds from the combined voices of beings, scarcely perceptible, but that the buzz is the result of a motion, given to the air by the dances of these diminutive creatures.

That keen observer, Mr. White of Selborne, says, 'I have often heard a sound like the humming of bees, though not an insect to be seen. You may hear it the whole common through. from the mossy dells to my avenue gate.'

Not undelightful is the ceaseless hum.

To him who musing walks at noon.

It was on a hot summer's day that Beethoven sat upon a stile the environs of Vienna, and caught from nature those **imitative** sounds in the Pastoral Sinfony. How admirably do the violins, in that extraordinary composition, represent the soft fluttoring stir of the insects–the hum in the noon-tide warmth of a summer's day !

If we watch the house-fly, we shall soon be convinced that he is destitute of voice, and that the noise proceeds from his wings; hence, when at rest, he is always silent. This sound is invariably upon the note F. in the first space :–

To produce this sound, the wings must make three hundred and twenty vibrations in a second of time, or nearly twenty thousand if he continues on the wing for one minute. The hum of the honey-bee is the same; and the large humble-bee, the **contrabasso** of the tribe, performs the same note just an octave lower.

THE MUSIC OF NATURE
(Pages 241, 242, 243 and 244)
By **W. GARDINER.**

